प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास

CENTRAL BOOK DEPOT PUBLICATIONS
IN HISTORY (Hindi)

प्राचीन भारत का राजनीतिक
तथा
सांस्कृतिक इतिहास

(३२० ईसवी से १२०० ईसवी तक)

लेखक
विमल चन्द्र पाण्डेय
एम० ए०, डी० फिल० (इलाहाबाद)

प्रकाशक
सेन्ट्रल बुक डिपो,
इलाहाबाद

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में प्रारम्भ किये गये कार्य को ३२० ईसवी से १२०० ईसवी तक लाकर पूर्ण करता है। इसके उद्देश्य, स्वरूप एवं लेखन-पद्धति का साम्य उसी प्रारम्भ के ग्रन्थ से है जिसका प्रकाशन १९५८ ई० में हुआ था और जिसे विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के बीच अपने विषय की सबसे अधिक लोकप्रिय पुस्तक होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

विषय सूची

अध्याय १

गुप्त-वंश के उदय के पूर्व भारत

पंजाब—गुप्त-साम्राज्य के उदय के समय पंजाब में कोई एक राज्य न था। वह तीन भागों में बँटा हुआ था। पूर्वी पंजाब के कुछ भाग में यौधेयों, आर्जुनायनों, कुणिन्दों आदि के राज्य थे। इन्होंने मालवों आदि की सहायता से कुषाणों को भारत से निकाला था।

मध्य पंजाब में शीलत और गडहर नामक जातियाँ राज्य करती थी। इनकी मुद्रायें मिली हैं।

पश्चिमी पंजाब में शाक नामक जाति राज्य करती थी। मुद्राओं से इस जाति के सात राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि शाकों और गडहरों के पश्चात् पंजाब में एक नवीन राजवंश का उदय हुआ। इसकी स्थापना किदार नामक व्यक्ति ने की थी। अतः इसे किदार-वंश कहते हैं। यह वंश समुद्रगुप्त का समकालीन था। किदार को सम्भवतः समुद्रगुप्त ने अपने संरक्षण में ले लिया था और सेसेनियन-वंश के सम्राट् शापुर-द्वितीय के विरुद्ध युद्ध में उसे सहायता दी थी। इस युद्ध में किदार की विजय हुई और वह सेसेनियन-वंश के प्रभुत्व से छूट गया।

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि पंजाब और दिल्ली में कोत-वंश की मुद्रायें मिली हैं। इस वंश का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी हुआ है। परन्तु स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कोत-वंश का राज्य कहाँ था।

आर्यावर्त—प्रयाग-प्रशस्ति में आर्यावर्त के अनेक राजाओं के नाम मिलते हैं। समुद्रगुप्त ने इन्हें पराजित किया था और इनके राज्य छीन लिये थे। इनमें से अनेक राजा नाग-वंशीय प्रतीत होते हैं। गुप्त-वंश के उदय के पूर्व मथुरा, पद्मावती, कान्तीपुर, अहिच्छत्र आदि नगर नाग-सत्ता के केन्द्र थे। कौशाम्बी में सम्भवतः मघ-वंश का राज्य था।

राजस्थान और मध्य प्रदेश—प्रयाग-प्रशस्ति से विदित होता है कि समुद्रगुप्त के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर अनेक गणतन्त्रवादी जातियाँ रहती थी। इनमें मालव जाति राजस्थान में रहती थी और आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक तथा खरपरिक जातियाँ मध्य प्रदेश में रहती थी।

गाजीपुर और जबलपुर के बीच उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश का जो भाग आता है, उसे आटविक राज्य कहा जाता था। इसमें अनेक छोटे-छोटे राजा राज्य करते थे।

मगध—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि गुप्तों के उदय के पूर्व मगध पर किसका अधिकार था। डॉ० पी० सी० बागची के मतानुसार मगध मुरुण्ड जाति के अधीन था। टालमी का कथन है कि वह जाति पूर्वी भारत में रहती थी। इसके अतिरिक्त एक चीनी लेख भी पाटलिपुत्र को किसी मुरुण्ड-नरेश की राजधानी बताता है। परन्तु ये दोनों साक्ष्य सन्देहपूर्ण हैं।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी मगध पर लिच्छवियों का राज्य बताते हैं। एक नेपाली अभिलेख में कहा गया है कि सुपुष्प लिच्छवि नामक राजा पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) में उत्पन्न हुआ था। परन्तु एक परकालीन अभिलेख और एक लिच्छवि के जन्म-स्थान के आधार पर इतना बडा निष्कर्ष निकालना असगत है। हाँ, एकमात्र वैशाली मे लिच्छवियो का राज्य माना जा सकता है। यही की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ चन्द्रगुप्त-प्रथम ने विवाह किया था।

प्रयाग-प्रशस्ति में कोत-वश के एक राजा का उल्लेख है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि यह वश मगध में ही राज्य करता था। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कोत-वश की मुद्राये दिल्ली और पूरी पजाब मे मिलती है, मगध मे नही।

अन्य पूर्वी राज्य—प्रयाग-प्रशस्ति मे पूर्वी भारत के कुछ राजतन्त्रात्मक राज्यों का उल्लेख है—समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल और कर्तृपुर। परन्तु यह निश्चित-रूप से नही कहा जा सकता कि यहाँ कौन से राजवश शासन कर रहे थे।

गुजरात और काठियावाड़—यहाँ शको का राज्य था। परन्तु इस वश की शक्ति क्षीण हो गई थी। इसके हाथ से सिन्ध निकल चुका था। श्रीसोम की अधीनता मे मालवों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। २२५ ई० के नान्दसा यूप-अभिलेख मे श्रीसोम के एक यष्टियज्ञ का उल्लेख है।

वाकाटक-वंश—इसी समय विन्ध्य-शक्ति नामक एक ब्राह्मण ने बरार में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और शको को पराजित कर पूर्वी मालवा पर अपना अधिकार स्थापित किया।

उसका पुत्र और उत्तराधिकारी प्रवरसेन एक महाप्रतापी सम्राट् सिद्ध हुआ। उसने बरार, मालवा, उत्तरी महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, बघेलखण्ड, दक्षिणी कोसल, उत्तरी हैदराबाद और आन्ध्रदेश को जीत कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

आभीर—भिलसा और झाँसी के बीच के प्रदेश मे आभीर जाति का उदय हुआ। आभीर नेता ईश्वरदत्त ने १८८ ई० मे शक-नरेश रुद्रसिंह-प्रथम को परास्त किया था। लगभग २५० ई० मे आभीरो ने महाराष्ट्र पर भी अधिकार कर लिया। प्रयाग-प्रशस्ति से प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त के समय आभीर-राज्य एक गणतन्त्र था।

पल्लव—सातवाहनों के पतन के पश्चात् कांची-प्रदेश में पल्लव-वश का उदय हुआ। लगभग २५० ई० में इसके राजा स्कन्दवर्मन ने अपने वश की स्वतन्त्रता घोषित करते हुए 'धर्ममहाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। इसने अनेक यज्ञ

किये। इक्ष्वाकुओं को पराजित करके इसने उनसे आन्ध्र-प्रदेश छीन लिया। समुद्रगुप्त के समय कांची में पल्लव-नरेश विष्णुकोप का राज्य था।

इक्ष्वाकु—धान्य कटक में इक्ष्वाकु-वश का उदय हुआ। इसका राजा वासिष्ठी-पुत्र शान्तमूल-प्रथम एक शक्तिशाली राजा था। इसने अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ किये। इससे प्रकट हाता है कि यह ब्राह्मण धर्मावलम्बी था। परन्तु इसका पुत्र और उत्तराधिकारी माठरीपुत्र वीरपुरुषदत्त बौद्ध धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। इसने कोई यज्ञ नही किया। इसके शासन-काल मे अमरावती और नागार्जुनी कोंड के बौद्ध विहारो का अनेक दान दिये गये थे।

इसका पुत्र और उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र शान्तमूल-द्वितीय था। इसे पराजित करक पल्लवों ने आन्ध्र-प्रदेश छीन लिया।

दक्षिणापथ के अन्य राज्य—प्रयाग-प्रशस्ति मे दक्षिणापथ के १२ राज्यो का उल्लेख है—(१) कासल, (२) महाकान्तार, (३) केरल, (४) पिष्टपुर, (५) काट्टूर, (६) एरण्डपल्ल, (७) काची, (८) अवमुक्त, (९) वेंगी, (१०) पालक्क, (११) देवराष्ट्र और (१२) कुस्थलपुर। सम्भवतः इनके राजवश गुप्त-वश क उदय क समय से ही अपने-अपने प्रदेशों मे शासन कर रहे थे।

सेसेनियन वंश—यह वश ईरान मे राज्य कर रहा था। २८३ ई० में इस वश के दो भाइयों वहराम-द्वितीय और होर्मुज-प्रथम मे राज्य के लिये गृह-युद्ध हुआ। इसमें वहराम-द्वितीय विजयी हुआ। कुछ ही समय में इसने उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त और सिन्ध को जीत लिया। परन्तु इसने अथवा इसके किसी वंशज ने पजाब पर कभी भी राज्य नही किया। सेसेनियन-मुद्रायें पजाब मे नही मिली हैं।

अध्याय २

गुप्त राज्य की स्थापना

गुप्तों के पूर्वोल्लेख—गुप्त-राजवंश का उदय तीसरी शताब्दी के अंत और चौथी शताब्दी के पूर्व में हुआ, परन्तु गुप्तों का नामोल्लेख अनेक पूर्वकालीन साक्ष्यों में हुआ है। इच्छावर बौद्ध अभिलेख मे एक गुप्त-यशोदिता महादेवी का नाम मिलता है। इसी प्रकार एक भरहुत-बौद्ध स्तम्भ लेख में राजनविसदेव की पत्नी को 'गौप्ति' कहा गया है। यह लेख शृंग-काल का है। सातवाहन-कालीन एक नासिक अभिलेख में शिवगुप्त का वर्णन है और एक अन्य कार्लेय अभिलेख में शिवस्कन्धगुप्त का। ये अंतिम दो व्यक्ति सातवाहन राजाओं के अधीन पदाधिकारी थे।

गुप्तों की जाति—गुप्तों की जाति के विषय में बड़ा मतभेद है। डॉ० जायसवाल इन्हें निम्नलिखित तर्कों के आधार पर शूद्र मानते हैं।

(१) गुप्त-अभिलेख गुप्तों की जाति का उल्लेख नही करते। सम्भवत. इसका कारण यह है कि ये शूद्र थे। (२) कौमुदी-महोत्सव में चण्डसेन नामक एक राजा का वर्णन है। इसे 'कारस्कर' कहा गया है। बौधायन ने कारस्कर को शूद्र माना है। चण्डसेन का समीकरण चन्द्रगुप्त-प्रथम से किया जा सकता है। अत वह शूद्र सिद्ध होता है।

परन्तु इन दोनों तर्कों का खण्डन किया जा सकता है—(१) गुप्त-अभिलेखों में जाति का उल्लेख न होना कोई विशेष अर्थ नही रखता। मौर्य-अभिलेखों में मौर्यों की जाति का भी उल्लेख नही हुआ था। इस आधार पर उन्हें शूद्र नही माना जाता। पुन प्रयाग-अभिलेख समुद्रगुप्त की तुलना धनद, वरुण, इन्द्र, और अन्तक (यम) नामक देवताओं से करता है।[1] अत वह शूद्र नहीं हो सकता। (२) कौमुदी-महोत्सव के चण्डसेन का समीकरण चन्द्रगुप्त-प्रथम के साथ नही किया जा सकता। हम इस विषय पर आगे विचार करेंगे।

(२) डॉ० रायचौधरी सम्भवत गुप्तों को ब्राह्मण मानते हैं। गुप्तों का गोत्र 'धारण' था।[2] डा० राय चौधरी 'धारण' गोत्र का सम्बन्ध ब्राह्मण-नरेश अग्निमित्र की पत्नी धारिणी के साथ जोड़ते हैं, परन्तु वे इस सम्बन्ध का कोई निश्चित आधार नहीं बताते।

यह भी कहा जाता है कि गुप्त-नरेश चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य ने अपनी

---

1 धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य।

2 आई० एच० क्यू० १९३०, पृष्ठ ५६५

पुत्री का विवाह ब्राह्मण वाकाटक-वंश के राजकुमार रुद्रसेन-द्वितीय के साथ किया था। अतः स्वयं चन्द्रगुप्त-द्वितीय भी ब्राह्मण-वंशीय होगा। परन्तु इस काल मे अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। अतः विवाह-सम्बन्ध किसी जाति को सिद्ध नही कर सकता।

(३) डॉ० अल्तेकर गुप्तो को वैश्य मानते हैं, क्योंकि इस वंश के राजाओ के नाम के अन्त मे 'गुप्त' लगा हुआ है जो वैश्य जाति का सूचक है।[1] परन्तु नाम-करण के सम्बन्ध मे इस नियम का सदैव पालन नही किया गया है। उदाहरण के लिये ब्राह्मण चाणक्य का दूसरा नाम विष्णुगुप्त था।

(४) ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-नरेश क्षत्रिय थे। आर्यमंजुश्री मूलकल्प इन्हें स्पष्ट रूप से क्षत्रिय कहता है। जावा-अनुश्रुति के अनुसार एक महाराज ऐश्वय-पाल अपने को समुद्रगुप्त का वंशज बताता है।[2] यह नरेश इक्ष्वाकु-वंशीय क्षत्रिय था, अतः गुप्त-नरेश समुद्रगुप्त भी क्षत्रिय रहा होगा।

गुप्त-वंश का संस्थापक—पुराणो में गुप्त-राजवंश के संस्थापक को 'गुप्त' कहा गया है।[3] गुप्त-अभिलेखो मे गुप्त-राज-वंश के संस्थापक को 'श्रीगुप्त' कहा गया है।[4] अब प्रश्न यह होता है कि गुप्त-वंश के संस्थापक का नाम 'गुप्त' था अथवा 'श्रीगुप्त'। दूसरे शब्दो मे श्री नाम का ही अभिन्न भाग है, अथवा यह केवल आदरसूचक है। डॉ० स्मिथ ने निम्नलिखित आधारो पर यह मत प्रतिपादित किया है कि उसका वास्तविक नाम 'श्रीगुप्त' था[5]—

(१) 'गुप्त' का अर्थ है 'रक्षित' जो स्वयं मे अपूर्ण है। 'श्रीगुप्त' का अर्थ हुआ श्री (लक्ष्मी) द्वारा रक्षित, जो सार्थक है।

(२) इत्सिंग नामक एक चीनी यात्री सातवी शताब्दी मे भारत आया था। उसने पूर्वी भारत के एक राजा 'चेलिकिता' का वर्णन किया है। चेलिकितो का भारतीय रूपान्तर 'श्रीगुप्त' होगा, केवल 'गुप्त' नही।

परन्तु डा० स्मिथ के तर्कों का खण्डन किया जा सकता है—

(१) कभी-कभी विशेषण भी संज्ञा के रूप मे प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये 'उपगुप्त' और 'उपगुप्ता' का अर्थ 'छिपा हुआ' होता है। परन्तु फिर भी प्रथम एक बौद्ध भिक्षु का नाम और द्वितीय मौखरी-नरेश ईशानवर्मा की माता का नाम था।

(२) चेलिकितो ने चीनी भिक्षुओ के लिये मृगशिखावन का मन्दिर बनवाया था तथा उनके लिये विहार बनवाने के हेतु भूमि एवं २४ बडे ग्राम दान मे दिए थे।

---

1 भूतिर्गुप्तश्च वैश्यस्य।

2 आई० एच० क्यू० १९३३, पृ० १३०

3 अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।

4 महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य ..

5 जर्नल आफ बैंगाल एशि० सो० जिल्द ५३, भाग १

अतः स्पष्ट है कि चीनी जनता चेलिकेतो को बड़े सम्मान से देखती थी। ऐसी परिस्थिति में कोई आश्चर्य की बात नहीं, यदि इत्सिंग ने चेलिकेतो के प्रति अपनी आदर-भावना का प्रदर्शन करते हुए उसके नाम के साथ आदरसूचक 'श्री' शब्द का प्रयोग कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इसके साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि गुप्त-वंशावलियों में श्रीगुप्त, श्रीघटोत्कच, श्रीचन्द्रगुप्त आदि के नामों के पूर्व 'श्री' शब्द स्पष्ट रूप से आदर-सूचक है। यदि गुप्त-वंश के संस्थापक का नाम 'श्रीगुप्त' होता तो उसका उल्लेख 'श्री श्रीगुप्त' के रूप में होता। उदाहरणार्थ, देववरणार्क-अभिलेख में 'श्री श्रीमती' का उल्लेख मिलता है।

इत्सिंग का कथन है कि श्रीगुप्त नामक राजा उसके समय (सातवीं) से ५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीगुप्त दूसरी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ था, जब कि गुप्त-वंश का संस्थापक 'श्रीगुप्त' तीसरी शताब्दी के अन्त में रक्खा जाता है। समय की इस विषमता के कारण डॉ० फ्लीट, डॉ० राय चौधरी आदि कुछ विद्वान इत्सिंग के 'श्रीगुप्त' का समीकरण गुप्त-वंश के संस्थापक श्रीगुप्त के साथ नहीं करते।[1]

परन्तु एलन महोदय दोनों को एक ही व्यक्ति मानते है। इत्सिंग ने जनश्रुति के आधार पर श्रीगुप्त का समय '५०० वर्ष' पूर्व बताया है। इसमें १०० वर्ष का अन्तर होना असम्भव नहीं है। जनश्रुतियों में बहुधा समय ठीक-ठीक सुरक्षित नहीं रह पाता। उदाहरण के लिये, ह्वेनसाग ने मिहिरकुल को अपने समय से कई शताब्दी पूर्व का बताया है, जबकि दोनों मे केवल एक शताब्दी का अन्तर था।

ऐसी परिस्थिति में एकमात्र समय की कुछ विषमता के आधार पर ही हम इत्सिंग के श्रीगुप्त और गुप्त-वंश के संस्थापक श्रीगुप्त को भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं मान सकते। पुनश्च इस समय के आसपास गुप्त-वंश के संस्थापक 'श्रीगुप्त' के अतिरिक्त किसी 'श्रीगुप्त' से इतिहास परिचित भी नहीं है।

समस्त तर्क-वितर्कों को देखते हुए हमारा निष्कर्ष यही है कि गुप्त-वंश के संस्थापक का नाम 'गुप्त' था, 'श्रीगुप्त' नहीं और इत्सिंग द्वारा उल्लिखित 'श्रीगुप्त' गुप्त-वंश का संस्थापक गुप्त ही था जिसके नाम के पूर्व उसने आदरसूचक 'श्री' का प्रयोग किया है।

गुप्तों का आदि-स्थान--गुप्तों के निवास-स्थान को निश्चित करने में इत्सिंग का कथन विशेष महत्त्वपूर्ण है—

---

1 'There is no cogent reason for identifying Sri Gupta of *cir*. A.D. 175, known to tradition, with Samudra Gupta's great grandfather who, must have flourished about a century later.,'

—Dr. Raychaudhuri

'गंगा की धारा के साथ-साथ चलते हुए नालन्दा मन्दिर के पूर्व में ४० योजन से अधिक की दूरी पर हम मि-लि-किम्न-सि-किम्न-पो-नो (मृगशिखावन) के मन्दिर पर पहुँचेंगे। इसके समीप एक प्राचीन मन्दिर था जिसके आज ईंटों के बने हुए आधार ही शेष रहे हैं। यह 'चीन का मन्दिर' कहलाता है। प्राचीन काल से वृद्ध जन द्वारा सरक्षित जनश्रुति के आधार पर इस मन्दिर का निर्माण प्राचीन काल में चीन के भिक्षुकों के लिये महाराज चेलिकितो (श्रीगुप्त) ने किया था। उस समय २० से अधिक चीनी भिक्षु महोबोधि के लिये आये · ·। उनकी पवित्रता से प्रभावित होकर राजा ने एक विहार बनाने के लिए एक भूमि दी और २४ बड़े ग्रामों का दान भी किया। · ऐसा कहा जाता है कि 'चीन के मन्दिर' की स्थापना हुए ५०० से अधिक वर्ष हो गये हैं। अब यह स्थान पूर्वी भारत के देववर्मन (Ti-pous-po-mo) नामक एक राजा के अधीन है। · महोबोधि मन्दिर से ७ से अधिक योजन की दूरी पर उत्तर-पूर्व में नालन्दा मन्दिर है।'

इस प्रकार 'चीन का मन्दिर' नालन्दा के पूर्व में ४० योजन पर था और नालन्दा महाबोधि के उत्तर-पूर्व में ७ योजन पर था। इस दूरी के आधार पर डॉ० मजूमदार 'चीन के मन्दिर' को बगाल मे माल्दा अथवा राजशाही जिले मे मानते थे। अपने मत की पुष्टि के लिये वे एक कैम्ब्रिज पाण्डुलिपि का उद्धरण भी देते हैं जिसमें मृगस्थापन नामक एक स्तूप उत्तरी बगाल में परेन्द्रि-प्रदेश में स्थित दिखाया गया है। डॉ० मजूमदार के मतानुसार यह मृगस्थापन इत्सिग द्वारा उल्लिखित मृग-शिखावन है। यदि हम इस कथन को स्वीकार कर लें तो श्रीगुप्त के राज्य में उत्तरी बगाल अवश्य सम्मिलित था।[1]

गुप्तों के आदि निवास-स्थान को निश्चित करने के लिये वायु-पुराण के उस साक्ष्य का भी उपयोग किया जा सकता है जिसमे कहा गया है कि "गुप्त वंशज इन सब प्रदेशो का भोग करेंगे— गगा के किनारे-किनारे प्रयाग, साकेत और मगध।[2] यह श्लोक सम्भवत चन्द्रगुप्त-प्रथम की राज्य-सीमाओं का वर्णन करता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि इसमे उल्लिखित मगध गुप्त-नरेश (श्रीगुप्त) का आदि-निवास-स्थान रहा हो और शेष भागों को उसके पौत्र महाराजाधिराज श्रीचन्द्र-गुप्त-प्रथम ने जीता हो। यदि अनुगगा का अर्थ 'गगा के किनारे-किनारे बगाल तक का प्रदेश' माना जाय तो फिर मगध और बगाल के कुछ भाग को भी श्रीगुप्त का आदि स्थान माना जा सकता है। डॉ० रायचौधरी का भी यही मत प्रतीत होता है, क्योंकि वे कहते हैं कि प्रयाग और साकेत की विजय चन्द्रगुप्त-प्रथम ने की थी। दूसरे शब्दो मे वायु-पुराण के उदधृत श्लोक में उल्लिखित शेष भाग उसने अपने पूर्वजो से पाये थे। अत हो सकता है कि ये शेष भाग—मगध और उत्तरी बगाल—श्रीगुप्त के अधिकार में रहे हो।

---

1 JBRS, Vol. XXXVIII Pts. 3-4.

2 अनुगंगा (गंग) प्रयागञ्च साकेत मगधांस्तथा
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।

प्रथम दो गुप्त-नरेश-श्रीगुप्त और श्रीघटोत्कच

सामन्त शासक—यह महत्त्व की बात है कि गुप्त-अभिलेख जहाँ प्रथम दो नरेशों—श्रीगुप्त और श्रीघटोत्कच—के लिये एकमात्र 'महाराज' की उपाधि का प्रयोग करते हैं, वहाँ तीसरे नरेश श्रीचन्द्रगुप्त-प्रथम के लिये 'महाराजाधिराज' की उपाधि का। यह सत्य है कि 'महाराज' की उपाधि सदैव अधीनतासूचक नहीं होती। इसी काल के वाकाटक-नरेशों ने 'महाराज' की उपाधि धारण की थी, फिर भी वे स्वतन्त्र शासक थे। परन्तु एक ही अभिलेख में एक राजा के साथ 'महाराज' की उपाधि और दूसरे के लिये 'महाराजाधिराज' की उपाधि का प्रयोग स्पष्ट रूप से दोनों के अन्तर की सूचना देता है। अन्तर यही हो सकता है कि 'महाराज' की उपाधि अधीनतासूचक और 'महाराजाधिराज' की उपाधि स्वतन्त्रता-सूचक हो। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि गुप्त-नरेशों ने स्वयं अपने अभिलेखों में प्रायः 'महाराजाधिराज' की उपाधि का प्रयोग अपने सम्राट्-पद को सूचित करने के लिये किया है और 'महाराज' की उपाधि का प्रयोग अपने सामन्तों के अधीनत्व को सूचित करने के लिये। इस पृष्ठभूमि पर यही प्रतीत होता है कि प्रथम दो गुप्त-नरेश—गुप्त और घटोत्कच—सामन्त शासक थे और तृतीय गुप्त-नरेश चन्द्रगुप्त-प्रथम स्वतन्त्र शासक था।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि गुप्त और घटोत्कच किसकी अधीनता में शासन करते थे—

(१) डॉ० राखलदास बनर्जी का मत था कि ये दोनों कुषाणों के सामन्त थे। परन्तु आज इस मत को कोई नहीं मानता, क्योंकि कुषाणों का अन्त गुप्तों के उदय के काफी पूर्व हो चुका था।

(२) डॉ० जायसवाल का मत है कि कुषाणों का अन्त भारशिवों ने किया था और वही गुप्तों के भी अधिपति थे। परन्तु इस मत का कोई प्रमाण नहीं है।

(३) डॉ० प्रमोदचन्द्र बागची ने यह मत प्रतिपादित किया है कि पूर्वी भारत पर तीसरी शताब्दी में मुरुण्डों का अधिकार था। इसी मत को स्वीकार करते हुए कुछ विद्वानों ने मुरुण्डों को ही गुप्तों का अधिपति माना है। परन्तु समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख में पूर्वी भारत में कहीं भी मुरुण्डों का उल्लेख नहीं है।

(४) लिच्छवि-नरेश जयदेव-द्वितीय का नेपाल-अभिलेख उसके एक पूर्वज सुपुष्प लिच्छवि का उल्लेख करता है जो पाटलिपुत्र में उत्पन्न हुआ था। इस आधार पर कुछ विद्वान् मगध पर लिच्छवियों का अधिकार मानते हैं और कहते हैं कि यही लिच्छवि गुप्तों के अधिपति थे।

परन्तु इनमें से कोई भी मत निश्चित साक्ष्यों पर आधारित नहीं हैं और यह समस्या आज भी अनिर्णीत है।

दो सील ऐसी मिली है जिन पर क्रमशः 'गुप्तस्य' और 'श्रीगुप्तस्य' लिखा मिलता है। कुछ विद्वानों ने इन सीलों को गुप्त-वंश के संस्थापक 'गुप्त' की सील बताया है।[1]

गुप्त-अभिलेखों से पता चलता है कि दूसरा राजा घटोत्कच-गुप्त का पुत्र था। इसे भी अपने पिता की भांति महाराज कहा गया है। परन्तु अपने पिता की अपेक्षा घटोत्कच अधिक शक्तिशाली अथवा महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि एक अभिलेख में उसी को आदिपुरुष बताया गया है।[2]

---

1 JRAS, 1091, पृ० 99 और 1905, पृ० 814.

2 Proceedings of 12th. All India Oriental Conference, Varanasi p. 588.

अध्याय ३

चन्द्रगुप्त-प्रथम

महाराजाधिराज की उपाधि—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चन्द्रगप्त-प्रथम ही सर्वप्रथम गुप्त-सम्राट था जिसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी।[1] इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसी के समय गुप्त-राज्य एक स्वतन्त्र एव प्रभुसत्ताधारी राज्य बना।

लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध—ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त-प्रथम के शासन-काल की सर्वप्रमुख घटना उसका लिच्छवि-वशीया कुमारदेवी से विवाह था। गुप्त-अभिलेख बड़े अभिमान से उसके पुत्र समुद्रगप्त को लिच्छवि दौहित्र (लिच्छवि-पुत्री का पुत्र) कहते है। इस विवाह की पुष्टि 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी' शैली की एक स्वर्ण-मुद्रा से भी होती है। इस मुद्रा के अग्रभाग पर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के चित्र एव नाम है तथा पृष्ठ भाग पर सिहवाहिनी देवी का चित्र है और 'लिच्छवयः' लिखा हुआ है। इस विवाह के सम्बन्ध में कई प्रश्न उभडते है—

(१) लिच्छवि-राज्य कहाँ था ?

(२) इस विवाह का क्या महत्त्व था ?

(३) 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी' शैली मद्रा का क्या महत्त्व था ?

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इस समय लिच्छवि कहाँ राज्य कर रहे थे। कुछ विद्वानो का मत है कि वे नेपाल में राज्य कर रहे थे।[2] परन्तु यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि एक ओर तो अभिमानपूर्वक समुद्रगुप्त को 'लिच्छविदौहित्र' कहा जाय और गुप्त-मुद्रा पर 'लिच्छवयः' लिखवाकर गुप्त-लिच्छवि-सम्बन्ध की महत्ता प्रकट की जाय और दूसरी ओर प्रयाग-प्रशस्ति मे वही लिच्छवि-दौहित्र समुद्रगप्त (लिच्छवि-राज्य ?) नेपाल को करद के रूप में प्रदर्शित करे।

अन्य विद्वान् लिच्छवियों को पाटलिपुत्र का शासक मानते हैं।[3] परन्तु एलन महोदय पाटलिपुत्र को गुप्त के समय से ही गुप्त-राज्य मे मानते हैं।

डॉ० मजूमदार वैशाली को लिच्छवि-राज्य बताते हैं। चन्द्रगुप्त-प्रथम के लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह करने का परिणाम यह हुआ कि वैशाली

---

1 महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगप्तस्य।

—प्रयाग प्रशस्ति

2 JRAS, 1889, पृ० 55

3 'The licchavis were masters of Pataliputra and Candragupta by means of his matrimonial alliance suceceeded to the power previously held by his wife's relatives, —Smith

का राज्य भी गुप्त-राज्य में मिल गया। यह मत सबसे अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है।

स्पष्टतया चन्द्रगुप्त-प्रथम ने यह विवाह राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिये किया था। वैशाली-राज्य के गुप्त-राज्य में मिल जाने से चन्द्रगुप्त-प्रथम की शक्ति बहुत बढ़ गई। सम्भव है कि इसी के पश्चात उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की हो और 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की हो।

एलन महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया है कि 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी' शैली मुद्रा का निर्माण समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता के ऐतिहासिक विवाह की स्मृति में निर्मित कराया था। परन्तु यदि ऐसा होता तो इस मुद्रा पर उसके निर्माणकर्त्ता समुद्रगुप्त का भी नाम होता। एलन के मत के विरुद्ध डॉ० अल्तेकर का मत अधिक न्यायसगत प्रतीत होता है। वे इस मुद्रा को चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी की सम्मिलित मुद्रा बताते हैं और कहते हैं कि लिच्छवियों ने सम्मिलित राज्य पर अपनी राजकुमारी कुमारदेवी के समानाधिकार को सुरक्षित रक्खा था।[1] कुमारदेवी गुप्त-नरेश की पत्नी होने के ही कारण नहीं, वरन लिच्छवि-कुमारी होने के कारण भी सम्मिलित राज्य की अधिकारिणी थी।

गुप्त-संवत्—अल्बरूनी का कथन है कि गुप्त-सवत की स्थापना शक-संवत (७८ ईसवी) के २४१ वर्ष पश्चात हुई थी। इसी आधार पर डा० फ्लीट ने यह मत प्रतिपादित किया था कि गुप्त-संवत की स्थापना ७८+२४१=३१९ ई० में हुई थी। अधिकाश विद्वानों के मतानुसार इस संवत-की स्थापना चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही की थी।

नालन्दा और गया में समुद्रगुप्त (?) के दो ताम्रपत्र मिले हैं जिन पर क्रमश: ५ और ९ गुप्त सवत-की तिथियाँ हैं। अधिकांश विद्वान इन दोनों ताम्रपत्रों को जाली मानते हैं। परन्तु कुछ विद्वान ५ गुप्त-सवत के नालन्दा ताम्रपत्र को वास्तविक राजकीय लेख मानते हैं। यदि यह मत स्वीकार कर लिया जाय तो फिर यह भी सम्भावना हो जाती है कि गुप्त-सवत की स्थापना समुद्रगुप्त ने ही की हो।

कौमुदी-महोत्सव—यह एक संस्कृत नाटक[2] है जिसके लेखक का अभी तक पता नहीं चल सका है। इसके कथानक के अनुसार मगध में सुन्दरवर्मा नामक एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था। उसके कोई पुत्र न था। अत: उसने चण्डसेन नामक एक बालक को गोद ले लिया। कुछ समय पश्चात सुन्दरवर्मा के एक पुत्र हुआ जिसका नाम कल्याणवर्मा रक्खा गया। बडे होने पर चण्डसेन ने 'मगध-कुल के वैरी

1 Kumaradevi was a queen by her own right, and the proud Licchavis to whose stock she belonged, must have been anxious to retain their individuality in the new Imperial States.

—JRASB, 1937, Num. Suppl. XIVII, p. 105.

2 स्वयं मगधकुलवैरिभिः म्लेच्छैः लिच्छविभिः सहसम्बन्धं कृत्वा ···।

अलोच्छ 'लिच्छवियों' की सहायता से मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया और सुन्दरवर्मा को मार डाला। इस प्रकार चण्डसेन मगध का राजा बन बैठा। राजमन्त्री मन्त्रगुप्त की सहायता से सुन्दरवर्मा का पुत्र कल्याणवर्मा अपनी प्राणरक्षा के लिये भाग कर वन में रहने लगा। कुछ समय पश्चात् मन्त्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में चण्डसेन के विरुद्ध विद्रोह करा दिया। इस विद्रोह मे चण्डसेन अपने वशसहित मारा गया। अब कल्याणवर्मा मगध का राजा बना। उसने मथुरा-नरेश यादव-वशीय कीर्तसेन की कन्या कीर्तिमती के साथ विवाह किया। इस विवाह के उपलक्ष में कौमुदी-महोत्सव (चाँदनी रात में मनाया जाने वाला उत्सव) मनाया गया।

डॉ० जायसवाल का समीकरण—डॉ० जायसवाल ने कौमुदी-महोत्सव के कथानक को ऐतिहासिक माना है। वे कहते हैं कि चण्डसेन वास्तव मे चन्द्रगुप्त-प्रथम था। कौमुदी-महोत्सव का कथन है कि चण्डसेन ने लिच्छवियों के साथ सम्बन्ध किया था[1] और उधर गुप्त-अभिलेखों एव 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी' मुद्रा से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त-प्रथम ने लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवी से विवाह किया था।

यही नही, डॉ० जायसवाल आगे कहते है कि सुन्दरवर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र कल्याणवर्मा ने भाग कर वाकाटक-नरेश प्रवरसेन के राज्य मे शरण ली थी। सम्राट् प्रवरसेन ने उसकी सहायता करते हुए चण्डसेन पर आक्रमण किया और उसे हरा दिया। इस प्रकार मगध पर वाकाटक-वश का अधिकार हो गया। स्वय चन्द्रगुप्त-प्रथम का पुत्र समुद्रगुप्त भी प्रारम्भ मे वाकाटकों के अधीन सामन्त रहा। यही कारण है कि समद्रगुप्त ने अपनी व्याघ्र-शैली की मुद्रा पर वाकाटक-वश के राजचिन्ह गगा का चित्र खुदवाया और एक मात्र अधीनतासूचक 'राजा' की उपाधि धारण की। कालान्तर मे समुद्रगुप्त ने वाकाटक-नरेश रुद्रसेन-प्रथम (सम्राट प्रवरसेन का पौत्र) को आर्यावत के युद्ध मे हराकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे आर्यावत के राजाओं मे एक राजा रुद्रदेव था। डॉ० जायसवाल ने इसका समीकरण वाकाटक-नरेश रुद्रसेन-प्रथम के साथ किया है।

डॉ० जायसवाल के मत का खण्डन—परन्तु डॉ० जायसवाल के मत को निम्नलिखित आधारों पर स्वीकार नही किया जा सकता—

(१) चण्डसेन और चन्द्रगुप्त के नामों मे मौलिक अन्तर है। प्राकृत में चन्द्रगुप्त का रूपान्तर चन्दगुप्त होगा।

(२) चन्द्रगुप्त-प्रथम ने लिच्छवि-राजकुमारी के साथ विवाह किया था। परन्तु कौमुदी-महोत्सव केवल चण्डसेन का लिच्छवियो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की बात कहता है।

(३) चण्डसेन का वश समूल नष्ट हो गया था, परन्तु चन्द्रगुप्त-प्रथम का वश अनेक पीढियों तक राज्य करता रहा।

---

1 ABORI, XII, p. 50, JBORS, XIX, p. 113.

(४) चन्द्रगुप्त-प्रथम का पिता 'महाराज' था। अतः उसका पुत्र कोई मोल कैसे ले सकता था ? उधर चण्डसेन साधारण परिवार का था।

(५) चौथी शताब्दी में मथुरा पर नाग-वंश का राज्य था, न कि यादव-वंशीय कीर्तिसेन का।

(६) इस बात का कोई प्रमाण नही है कि वाकाटक-वंश का राज्य कभी भी उत्तरी भारत पर था।

(७) इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि समुद्रगुप्त कभी वाकाटक-वंश का सामन्त रहा था। कोई भी साक्ष्य यह बात सिद्ध नहीं करता कि गंगा वाकाटकों का राजचिह्न थी। समुद्रगुप्त की व्याघ्र-शैली मुद्रा पर 'राजा' की उपाधि अवश्य मिलती है परन्तु इससे उसकी अधीनता सिद्ध नही होती। चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य की ताँबे की मुद्राओं पर उसके लिये 'महाराज चन्द्रगुप्त' अथवा केवल 'श्री चन्द्रगुप्त' उत्कीर्ण मिलता है। कुमारगुप्त-प्रथम की तलवार-शैली की मुद्राओं पर भी केवल 'श्रीकुमार' लिखा मिलता है। सम्भवत. स्थानाभाव के कारण मुद्राओं पर कभी-कभी 'महाराजाधिराज के स्थान पर छोटी उपाधियों का प्रयोग किया जाता था।

(८) प्रयाग-प्रशस्ति मे उल्लिखित राजा रुद्रदेव आर्यावर्त का राजा था। वह दक्षिणापथ का वाकाटक-नरेश रुद्रसेन-प्रथम नहीं हो सकता।

चन्द्रगुप्त-प्रथम का राज्य-विस्तार—वायु-पुराण का कथन है कि 'गुप्तवंशज इन सब जनपदों का भोग करेंगे—गंगा के किनारे-किनारे प्रयाग, साकेत और मगध।' कुछ लोग 'अनुगंगा' का अर्थ 'गंगा के किनारे का बंगाल तक का प्रदेश' मानते हैं। एलन महोदय के मतानुसार यह वर्णन चन्द्रगुप्त-प्रथम के राज्य का है। यदि यह सत्य है तो चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य मे कम से कम पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और सम्भवत बंगाल का कुछ प्रदेश सम्मिलित था। यदि मगध और बंगाल के कुछ प्रदेश को श्रीगुप्त का राज्य मान लिया जाय, जैसा कि कुछ विद्वानों का अनुमान है, तो फिर यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश स्वयं चन्द्रगुप्त-प्रथम ने जीता हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय पूर्वी उत्तर प्रदेश, विशेष रूप से कौशाम्बी में मघ-वंशीय राजा राज्य करते थे। चन्द्रगुप्त-प्रथम ने इन्हीं मघ राजाओं को हटाकर उत्तर प्रदेश पर अधिकार किया होगा।

चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी शैली की मुद्रा—यह स्वर्ण-मुद्रा है। इसके अग्र भाग पर कोट, पायजामा, टोपी और आभूषण धारण किये हुए राजा खड़ा है। इसके सामने वस्त्राभूषण धारण किए हुए रानी खड़ी है। राजा सम्भवतः रानी को मुद्रिका दे रहा है। मुद्रा की बाईं ओर 'चन्द्रगुप्त' और दाहिनी ओर 'कुमारदेवी' लिखा है। पृष्ठ भाग पर हाथ में कमल पकड़े हुए लक्ष्मी का चित्र है। वह सिंह पर बैठी दिखाई गई है। साथ में 'लिच्छवयः' लिखा हुआ है।

एलन महोदय का मत है कि यह मुद्रा अपने माता-पिता के विवाह की स्मृति में समुद्रगुप्त ने निर्मित कराई थी। इस मत के पक्षपाती विद्वानों का प्रमुख तर्क

यह है कि समुद्रगुप्त की गरुड़ध्वज-शैली (Standard type) की मुद्रा की अपेक्षा यह 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी' की मुद्रा अधिक मौलिक है।[1] अतः इसका निर्माण समुद्रगुप्त ने गरुड़ध्वज शैली की मुद्रा के पश्चात् ही कराया होगा।

परन्तु अधिकाश विद्वान् इस मत को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार यदि इस मुद्रा का निर्माण स्वयं समुद्रगुप्त ने किया होता तो इस पर उसका नाम अवश्य होता। इस मुद्रा पर जो नूतनता दिखाई देती है, उसका बहुत-कुछ कारण वह परिस्थिति है जिसके अन्तर्गत चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी का विवाह हुआ था। लिच्छवियों ने कदाचित् इसी शर्त पर अपनी राजकुमारी का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ करना स्वीकार किया था कि वह सम्मिलित राज्य की समानाधिकारिणी होगी। इस संयुक्त शासन को प्रदर्शित करने के लिये ही मुद्रा पर राजा-रानी दोनों के चित्र और नाम अंकित कराये गये थे और लिच्छवि-राजकुमारी की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए उसके वंश का नाम भी अंकित कराया गया। रही वेशभूषा और वाहन के रूप में सिंह के चित्रण की बात तो यह मौलिकता आकस्मिक भी हो सकती है।

1 गरुड़ध्वज-शैली की मुद्रा के अग्रभाग पर समुद्रगुप्त कुषाण राजाओं की भाँति बन्द गले का कोट, पायजामा और बूट पहने हुए हैं और जूते पहने हुए ही अग्नि में आहुति दे रहा है। पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी देवी को यूनानी देवी नाना की भाँति सिंहासन पर बैठी हुई दिखाया गया है। मुद्रा पर यूनानी अक्षर और निरर्थक चिन्ह खुदे हैं। इसके विरुद्ध 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी' शैली की मुद्रा पर राजा-रानी के वस्त्राभूषण भारतीय तथा लक्ष्मी को सिंहवाहिनी के रूप में दिखाया गया है। इस पर यूनानी अक्षरों और चिन्हों का अभाव है। साथ में रानी के वंश का भी उल्लेख है।

अध्याय ४

कार्य

समुद्रगुप्त का चयन—प्रयाग-प्रशस्ति से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त-प्रथम ने अपने जीवन-काल मे ही उत्तराधिकार का प्रश्न हल कर लिया था।[1] यह प्रशस्ति एक सभा के अधिवेशन का दृश्य प्रस्तुत करती है जिसमें राजा, सभासद, समुद्रगप्त और तुल्यकुलज अन्य राजकुमार उपस्थित हैं। सभा के निर्णय को घोषित करते हुए चन्द्रगुप्त ने समद्रगुप्त का हृदय से लगाकर कहा कि इस पृथ्वी का पालन करो। यह घोषणा करते समय चन्द्रगुप्त के हर्षातिरेक से रोंगटे खड़े हो गये और उसकी आंखों में आंसू भर गये। इस निर्णय से सभासद भी बडे प्रसन्न हुए, क्योंकि उन्होंने (सन्तोष एव प्रसन्नता से) सांस ली। परन्तु इस घोषणा को सुनकर समान कुल में उत्पन्न राजकुमारो के मुख म्लान पड गये।

कुछ विद्वानों के मतानुसार इन पक्तियों से यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त ने सिहासन-त्याग कर दिया था और समद्रगुप्त को अपने स्थान पर राजा घोषित कर दिया था।

चाहे इन पक्तियो मे समुद्रगुप्त को एकमात्र चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी घोषित किया गया हो, चाहे चन्द्रगुप्त ने सिहासन-त्याग भी किया हो, यह निश्चित है कि उत्तराधिकार का प्रश्न विवादग्रस्त था। सम्भवतः सिहासन के लिये कुछ और भी राजकुमार (तुल्यकुलज) उम्मीदवार थे। चन्द्रगुप्त-प्रथम और अधिकांश सभ्यो (सभासदों) ने समद्रगुप्त का पक्ष लिया और उसे उत्तराधिकारी घोषित किया।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि अन्य राजकुमारों (तुल्यकुलजों) को यह निर्णय रुचिकर न हुआ, क्योंकि प्रयाग-प्रशस्ति का कथन है कि समुद्रगुप्त के निर्वाचन को सुन कर उनके मुख म्लान पड गये।

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सभा के अधिवेशन और समुद्रगप्त के निर्वाचन के तत्काल पश्चात प्रयाग-प्रशस्ति किसी युद्ध का वर्णन करती है। इसके अनसार समुद्रगप्त के अनेक अतिमानवीय कर्मों को देखकर कुछ लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और कुछ लोग उसकी वीरता से उत्तप्त होकर उसकी शरण में आ गये। उसने

---

1 [आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैः उत्कर्णितैः रोमभिः सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षि(त): स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा यः पित्राभिहितो नि(र) रीक्ष्य निखि (लां पाह्येव)] मुर्वीमिति ।

युद्धों में अपकार करने वालों को अपने भुजबल से जीता। इन्हीं पंक्तियों में सम्भवतः पराजित शत्रुओं के 'पश्चात्ताप' की बात कही गई है।[1]

यह युद्ध किस सन्दर्भ में हुआ था? यह समुद्रगुप्त की दिग्विजय से सम्बन्धित नहीं हो सकता, क्योंकि दिग्विजय से सम्बद्ध युद्धों का वर्णन इन पंक्तियों के पश्चात प्रारम्भ होता है। इस युद्ध का वर्णन समुद्रगुप्त के निर्वाचन के तत्काल पश्चात् आता है। इससे अनुमान होता है कि यह उत्तराधिकार का युद्ध था। सम्भवतः निर्वाचन में पराजित किसी तुल्यकुलज ने सभा के निर्णय को चुनौती दी जिसके परिणाम-स्वरूप समुद्रगुप्त का उसके साथ युद्ध हुआ। इस युद्ध में समुद्रगुप्त विजयी हुआ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह तुल्यकुलज कौन था। सम्भव है कि वह काच हो।

काच की मुद्रा—गुप्त-मुद्राओं में एक विशेष महत्त्वपूर्ण मुद्रा मिली है। इसके अग्र भाग पर राजा का चित्र है जो बन्द गले का लम्बा कोट, पायजामा, बूट और आभूषण पहने खड़ा है। उसके बायें हाथ में चक्रध्वज है और दाहिने हाथ से वह अग्नि में आहुति दे रहा है। उसके बायें हाथ के नीचे 'काच' लिखा हुआ है और मुद्रा के चारों ओर वृत्ताकार में 'गामवजित्य दिव कर्मभिरुत्तमैर्जयति।' पृष्ठभाग में एक देवी खड़ी है जिसके बायें हाथ में एक फूल है। इसी ओर राजा का विरुद 'सर्वराजोच्छेत्ता' लिखा हुआ है।

फादर हेरास[2] ने सर्वप्रथम यह मत प्रतिपादित किया था कि समुद्रगुप्त को अपने भाई के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा था। सम्भव है कि यह भाई काच हो जिसने कुछ समय तक राज्य किया हो और अन्त में जिसे मार कर समुद्रगुप्त सिंहासनासीन हुआ हो।

काच का शासन-काल अत्यल्प रहा होगा। इसी से वह केवल एक प्रकार की ही मुद्रा का निर्माण कर सका। रही 'सर्वराजोच्छेत्ता' की बात, तो यह विरुद केवल उसके दम्भ की सूचना देता है।

गुप्त-अभिलेखों में प्रत्येक राजा अपने पिता का ही उल्लेख करता है, भाई का नहीं। उदाहरणार्थ, स्कन्दगुप्त के अभिलेखों में उसके भाई पुरुगुप्त का उल्लेख नहीं है और इसी प्रकार पुरुगुप्त के अभिलेखों में स्कन्दगुप्त का नाम नहीं आता। यदि काच के पश्चात् उसका कोई पुत्र सिंहासनासीन हुआ होता तो वह अपने पिता काच का नाम अपनी वंशावली में देता।

काच समुद्रगुप्त का भाई था, इस मत की पुष्टि 'आर्यमंजु श्रीमूलकल्प' से भी

---

1 दृष्ट्वा कर्माण्यनेकान्यमनुजसदृशान्यद्-
भुतोद्भिन्नहर्षाभावैरास्वादय . . .
केचित्।
वीर्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता
यस्य वृत्ते प्रणामे......ते......
संग्रामेषु स्वभुजविजिता नित्यमुच्चा-
पकाराः।

2 ABORI, IX, p. 83.

२
होता है यह ग्रन्थ समुद्रगुप्त के एक भाई भस्म नाम बताता है जिसने ३ वर्ष तक राज्य किया। काच और भस्म पर्यायवाची शब्द भी हैं।[1]

कुछ विद्वानों ने काच का समीकरण अन्य व्यक्तियों के साथ किया है। यहाँ हम उनके मतों पर विचार करेंगे—

घटोत्कच के साथ समीकरण—प्रिंसेप और टामस के मतानुसार काच गुप्त-वंश का द्वितीय राजा घटोत्कच था। परन्तु यह मत नितान्त काल्पनिक है। प्रथमतः, घटोत्कच का संक्षिप्त रूप कच होगा, काच नहीं। द्वितीयतः, घटोत्कच एक सामन्त शासक था जैसा कि उसकी उपाधि 'महाराज' से प्रकट होता है। काच ने अपनी मुद्रा प्रसारित की थी। अतः वह एक स्वतन्त्र शासक था।

समुद्रगुप्त के साथ समीकरण—एलन,[2] फ्लीट,[3] स्मिथ[4] और डॉ० राय-चौधरी[5] आदि विद्वानों ने निम्नलिखित आधारों पर काच को समुद्रगुप्त माना है—

(१) समुद्रगुप्त का मूल नाम काच था। परन्तु जब उसने अपनी अनेक विजयों के द्वारा अपना साम्राज्य समुद्र तक विस्तृत कर लिया तो उसने अपना नाम समुद्र-गुप्त (समुद्र द्वारा सरक्षित) रक्खा।

(२) काच की मुद्रा पर 'सर्वराजोच्छेत्ता' विरुद मिलता है। यही विरुद अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।

परन्तु इन तर्कों का खण्डन किया जा सकता है—

(अ) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि समुद्रगुप्त का प्रारम्भिक नाम काच था और उसने अपनी विजय समुद्रपर्यन्त विजयों के परिणामस्वरूप दूसरा नाम 'समुद्रगुप्त' रक्खा था। गुप्त-वंश में दो नामों के राजा मिलते हैं, यथा चन्द्रगुप्त-द्वितीय का नाम देवगुप्त अथवा देवराज भी था। परन्तु इस प्रकार के राजा भी अपनी मुद्रायें केवल एक ही नाम से चलाते थे।

(ब) समुद्रगुप्त ने स्वयं 'सर्वराजोच्छेत्ता' की उपाधि नहीं धारण की थी। यह उपाधि उसके वंशजों ने उसके लिये प्रयुक्त की थी। यह भी कहना असत्य है कि इस उपाधि का प्रयोग केवल समुद्रगुप्त के लिये किया गया हो। प्रभावतीगुप्ता ने इस उपाधि का प्रयोग अपने पिता चन्द्रगुप्त-द्वितीय के लिये पूना और रिथपुर ताम्रपत्रों में किया है।

रामगुप्त के साथ समीकरण—डॉ० भण्डारकर का मत था कि काचगुप्त चन्द्रगुप्त-द्वितीय का बड़ा भाई था।[6] गलती से 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक में इसका नाम 'रामगुप्त' लिख गया था। दूसरे शब्दों में रामगुप्त को काचगुप्त समझना चाहिए।

---

1 JNSI, V, p. 33
2 BMC, GD, Intr XXX, p. 11
3 Corpus, III, p. 27
4 IA, 1902, p. 259
5 PHAI, p. 533
6 Malaviya Com. Vol. p. 189.

डॉ० अल्तेकर ने इसी मत को मुद्रा-साक्ष्य के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है—[1]

(१) काच की मुद्राओं में समुद्रगुप्त की मुद्राओं की अपेक्षा अधिक मौलिकता है। मौलिकता मुद्राकारों के अनुभव और निपुणता के साथ आती है। अतः काच की मुद्रायें समुद्रगुप्त के पश्चात् बनी होंगी। दूसरे शब्दों में काच समुद्रगुप्त के पश्चात् सम्राट बना होगा और इस प्रकार उसका समीकरण रामगुप्त के साथ किया जा सकता है।

(२) समुद्रगुप्त की व्याघ्र शैली और अश्वमेध शैली की मुद्रायें काच की मुद्रा से मिलती-जुलती है। परन्तु समुद्रगुप्त की ये दोनों मुद्रायें उसके शासन-काल के मध्य में निर्मित हुई थी, प्रारम्भ में नही। यदि काच समुद्रगुप्त का पूर्वगामी राजा होता तो समुद्रगुप्त उसकी मुद्रा का अनुकरण अपने शासन के प्रारम्भिक चरण में ही करता, परन्तु ऐसा नही है। इससे अनुमान होता है कि काच समुद्रगुप्त का पूर्वगामी नही, वरन् परगामी नरेश था। इस स्थिति में काच का समीकरण रामगुप्त के साथ किया जा सकता है।

(३) काच की मुद्रा पर 'गामवजित्य दिव कर्मभिः उत्तमैः जयति' लिखा है। समुद्रगुप्त की धनुर्धारी शैली मुद्रा पर 'अप्रतिरथा विजित्य क्षिति सुचरितैः दिव जयति' लिखा हुआ है। ये दोनों विरुद बहुत-कुछ समान है। परन्तु, फिर भी डा० अल्तेकर के मतानुसार काच का विरुद निर्जीव है। अत. उसने समुद्रगुप्त के विरुद का अनुकरण किया था। इस प्रकार काच को समुद्रगुप्त के पश्चात् ही रखना चाहिए। अत वह रामगुप्त हो सकता है।

परन्तु इन सभी तर्कों का खण्डन किया जा सकता है—

(१) यह कहना कठिन है कि काच की मुद्रा अधिक मौलिक है अथवा समुद्रगुप्त की।

(२) यह बात आवश्यक नहीं है कि अनुकरणकर्त्ता अपने काल के प्रारम्भिक चरण में ही अनुकरण करे, अन्तिम चरण में नहीं।

(३) विरुद की अपेक्षाकृत निर्जीवता अथवा सजीवता का कोई निश्चित मापदण्ड नही हो सकता।

(४) रामगुप्त की ताम्र-मुद्राओं की प्राप्ति के पश्चात् उसे काचगुप्त मानना नितान्त असगत है।

---

1 The Coinage of the Gupta Empire, p. 78 ff.

अध्याय ५

समुद्रगुप्त

दिग्विजय—उत्तराधिकार-युद्ध से निवृत्त होकर समुद्रगुप्त ने अपनी शक्ति का सगठन किया और दिग्विजय का बीडा उठाया। उसने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के अनेक राजाओं को पराजित करके अपनी सार्वभौम सत्ता की स्थापना की। जो नरेश शेष रह गये, उन्होंने उसके पराक्रम से आतंकित होकर या तो उसकी अधीनता स्वीकार कर ली या उसके साथ मित्रता कर ली। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में हरिषेण ने उसकी दिग्विजय का सविस्तार वर्णन किया है। हरिषेण समुद्रगुप्त का सान्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य एव महादण्डनायक था। अतः इस प्रशस्ति को राजकीय लेख मानना चाहिए।

आर्यावर्त्त का प्रथम युद्ध—सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने अच्युत, नागसेन और गणपति-नाग[1] का उन्मूलन कर दिया और कोतकुल मे उत्पन्न नरेश को बन्दी बना लिया तथा पुष्प नामक नगर में आमोद-प्रमोद किया।[2]

अहिच्छत्रा (बरेली जिला) में अच्युत-नामधारी राजा की मुद्रायें मिली हैं। ये मुद्रायें नाग-मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। सम्भव है कि अच्युत भी एक नागवशीय राजा था।

नागसेन का उल्लेख हर्षचरित में नागवशीय के रूप में हुआ है। उसका विनाश पद्मावती (पद्म पवाया) में हुआ था[3]। पुराणों के अनुसार पद्मावती मे नाग-वश राज्य करता था। अत नागसेन पद्मावती का नागवशीय राजा प्रतीत होता है।

कोतवशीय राजा का नाम नही दिया हुआ है। कोतवश एक महत्त्व वंश प्रतीत होता है, क्योंकि इस वश की मुद्रायें पूर्वी पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मिली हैं। कोशाम्बी मे भी कोत की मुद्रायें मिली हैं। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि समुद्रगुप्त के समकालीन कोत-नरेश का राज्य कहाँ था।

पुष्प पुष्पपुर अथवा कुसुमपुर था। इसका समीकरण पाटलिपुत्र अथवा कान्य-कुब्ज से किया जाता है। समुद्रगुप्त के प्रथम आर्यावर्त्त युद्ध में पाटलिपुत्र का उल्लेख किस सम्बन्ध में किया गया है, यह निश्चित नही है। इस प्रसग मे प्रयाग-प्रशस्ति

---

1 प्रयाग-प्रशस्ति में ७वें श्लोक में केवल 'ग' अक्षर स्पष्ट है। नाम का शेष भाग टूट गया है। परन्तु आगे २१वीं पंक्ति में गणपतिनाग का पूरा नाम मिलता है। अतः अनुमान है कि ७वें श्लोक में इसी का उल्लेख किया गया था।

2 उन्मूल्याच्युतनागसेन ... ग ... दण्डैर्ग्राहयतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडिता।

3 नागकुलजन्मनः सारिका श्रावित-मन्त्रस्य आसीत् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्।

का कथन है कि समुद्रगुप्त ने अपनी सेनाओं द्वारा कोतकुलज को बन्दी बनवा लिया और पुष्प नामक नगर में आमोद मनाया। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) पुष्पपुर (पाटलिपुत्र अथवा कान्यकुब्ज) पर कोतवंश का अधिकार था।[1] आर्यावर्त्त-युद्ध में समुद्रगुप्त ने कोत-नरेश को पराजित किया और पुष्पपुर पर, अधिकार कर लिया।

(२) पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) पर समुद्रगुप्त का पहले से ही अधिकार था। यह उसकी राजधानी थी। कोत-नरेश एवं आर्यावर्त्त के अन्य राजाओं ने समुद्रगुप्त को उसकी राजधानी में घेर लिया। समुद्रगुप्त ने शत्रुओं को पराजित किया और अपनी राजधानी का उद्धार कराया।

(३) पाटलिपुत्र पर गुप्तों का पहले से ही अधिकार था, परन्तु कान्यकुब्ज उनके राज्य के बाहर था। अत: पुष्पपुर का समीकरण कान्यकुब्ज से होना चाहिए। आर्यावर्त्त के प्रथम युद्ध में समुद्रगुप्त ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया। ह्वेनसांग के अनुसार कान्यकुब्ज का दूसरा नाम कुसुमपुर अथवा पुष्पपुर था।

(४) प्रयाग-प्रशस्ति की शब्दावली से प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ने अच्युत, नागसेन और गणपतिनाग के विरुद्ध युद्ध में अपनी सेना का नेतृत्व स्वयं किया था, परन्तु कोतकुलज के विरुद्ध युद्ध-सचालन का कार्य उसने अपने किसी सेनापति को दिया था।

(५) अपनी सफलता के उपलक्ष में समुद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र अथवा कान्यकुब्ज में विजयोत्सव मनाया।

प्रयाग-प्रशस्ति में नागसेन के नाम के पश्चात ग अक्षर दिखाई देता है, परन्तु उसके पश्चात अनेक अक्षर नष्ट हो गये है। डॉ० सरकार ने अनुमान से ग का तात्पर्य गणपतिनाग से लगाया है।[2] यह ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि आर्यावर्त के द्वितीय युद्ध में अच्युत और नागसेन के साथ गणपतिनाग का नाम आता है। गणपतिनाग नागवंशीय राजा था। सम्भवत: वह मथुरा में राज्य करता था।

दक्षिणापथ के युद्ध—प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध के परिणाम-स्वरूप समुद्रगुप्त ने गंगा-यमुना-घाटी पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात उसने दक्षिण भारत के विरुद्ध अभियान किया। इस अभियान में उसे कम से कम १२ राजाओं का सामना करना पड़ा। कुछ अकेले-अकेले लड़े और कुछ सम्भवत: संघ बनाकर। वे सभी पराजित हुए। परन्तु जहाँ समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के राजाओं का उन्मूलन करके उनके राज्यों पर अधिकार कर लिया वहाँ उसने दक्षिणी भारत के राजाओं

---

1 डा० जायसवाल का मत है कि पाटलिपुत्र पर कोतवंश का अधिकार था। नागसेन, अच्युत और कोतनरेश ने संघ बनाकर समुद्रगुप्त के साथ युद्ध किया था, परन्तु कौशाम्बी के युद्ध में समुद्रगुप्त ने उन सब को पराजित कर दिया—History of India by Jayaswal.

2 अनुमान के आधार पर डॉ० सरकार का पाठ इस प्रकार है—गण-पत्याद्यनेकार्यावर्त्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः... [illegible]

को पराजित तो किया, परन्तु उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाया नहीं, उन्हें वापस कर दिया। हरिषेण ने समुद्रगुप्त की इस नीति को 'ग्रहणमोक्षानुग्रह' के नाम से पुकारा है।[1] कालिदास ने इस प्रकार की विजय को धर्मविजय के नाम से पुकारा है—

ग्रहीत प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्।

समुद्रगुप्त बड़ा दूरदर्शी योद्धा था। वह जानता था कि दूरस्थ दक्षिणापथ को जीतना तो सम्भव है, परन्तु उसे अपने साम्राज्य में बनाये रखना बड़ा कठिन था।

हरिषेण ने उत्तरी भारत के राजाओं के नाममात्र दिये हैं, उनके राज्यों का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह था कि उनकी पराजय के पश्चात् उनके राज्यों का समुद्रगुप्त के साम्राज्य में विलोप हो गया था।

इसके विपरीत हरिषेण ने दक्षिणापथ के नरेशों के नामों के साथ उनके राज्यों के भी नाम दिए हैं। इससे भी यही प्रतीत होता है कि उन नरेशों की पराजय के पश्चात् भी उनके राज्य सुरक्षित रहे। सम्भवतः समुद्रगुप्त ने उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करवा कर तथा उन्हें करद बनाकर छोड़ दिया था। इन राजाओं के नाम एवं राज्य इस प्रकार हैं—

(१) कोसल का महेन्द्र—यहाँ कोसल से दक्षिण कोसल समझना चाहिए। इसका राजधानी श्रीपुर थी। इसके अन्तर्गत विलासपुर, रायपुर और सम्भलपुर के जिले थे। इसका राजा महेन्द्र था।

(२) महाकान्तार का व्याघ्रराज—डॉ० राय चौधरी के मतानुसार यह राज्य मध्य प्रदेश का वन्य प्रदेश था। इसकी स्थिति वेनगंगा और प्राक्-कोसल के बीच था। इसका राजा व्याघ्रराज था।

व्याघ्रराज के समीकरण के विषय में मतभेद है—

(अ) डा० भण्डारकर का मत है कि व्याघ्रराज उच्चकल्प-वंश के जयनाथ का पिता था। वह बुन्देलखण्ड में जासो और अजयगढ़ के प्रदेशों में राज्य करता था।[2] परन्तु यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ होगा कि व्याघ्रराज उत्तरी भारत का राजा था, दक्षिणी भारत का नहीं, जो सर्वथा असंगत है।

(ब) डा० रायचौधरी एवं दुब्रेया महोदय ने व्याघ्रराज का समीकरण उसी नाम के एक सामन्त शासक से किया है जो नचना और गंज अभिलेखों के अनुसार वाकाटक-नरेश पृथ्वीषेण-प्रथम की अधीनता में राज्य करता था। इसका भी यही अर्थ हुआ कि व्याघ्रराज उत्तरी भारत (बुन्देलखण्ड) का शासक था, दक्षिणी भारत का नहीं। अतः यह समीकरण न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि हरिषेण ने व्याघ्रराज को दक्षिणापथ का राजा माना है। पुनश्च, यदि व्याघ्रराज वाकाटकों

---

१ सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य।

२ IHQ. p. 251

का सामन्त होता तो समुद्रगुप्त को वाकाटकों से भी लोहा लेना पड़ता। परन्तु प्रयाग-प्रशस्ति वाकाटकों के साथ समुद्रगुप्त के युद्ध का वर्णन नहीं करती।

(३) केरल का मण्टराज—कुछ विद्वान केरल को कुराल पढ़ते हैं। डॉ० बार्नेट ने इसका समीकरण दक्षिण भारत के एक गाँव कोराड (गजाम जिला) से किया है। अन्य विद्वान् इसे कोलैर झील का प्रदेश मानते हैं। ऐहोल अभिलेख में कोलैर को कुनाल कहा गया है। पवनदूत नामक ग्रन्थ में केरलों को ययातिनगर का निवासी बताया गया है। यह ययातिनगर मध्य प्रदेश के सोनपुर जिले में था। अत कुछ विद्वान् यहीं मण्टराज का राज्य बताते हैं।

(४) पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि[1]—पिष्टपुर का समीकरण गोदावरी जिले में स्थित पिठापुरम के साथ किया जा सकता है। यहाँ का राजा महेन्द्रगिरि था।

(५) कोट्टूर का स्वामिदत्त—यह आधुनिक गजाम जिले का कोठूर था।

(६) एरण्डपल्ल का दमन—डॉ० फ्लीट ने इसका समीकरण खानदेश जिले में स्थित एरण्डोल से किया है। दुब्रिया महोदय ने इसका विरोध करते हुए एरण्डपल्ल को गजाम जिले में स्थित एरण्डपल्लि नामक नगर माना है।

(७) कांची का विष्णुगोप—इसका समीकरण आधुनिक मद्रास के काजीवरम के साथ किया गया है। यहाँ का राजा विष्णुगोप पल्लव-वशीय था।

(८) अवमुक्त का नीलराज—इसके समीकरण के विषय मे बडा मतभेद है। डा० रायचौधरी का कथन है कि ब्रह्मपुराण अविमुक्त-क्षेत्र का उल्लेख करता है। यह गौमती (गोदावरी) के तट पर स्थित था। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार अवमुक्त काची और वेंगी के राज्यों के पडोस में एक छोटा-सा राज्य था जहाँ का राजा नीलराज पल्लव-सघ के सदस्य के रूप में समुद्रगुप्त से लडा था।

(९) वेंगी का हस्तिवर्मन्—वेंगी का समीकरण गोदावरी जिले में स्थित एलौर तालुक के एक गाँव वेंगी अथवा पेडड-वेंगी के साथ किया जाता है। डॉ० रायचौधरी इसके राजा हस्तिवर्मन् को शालकायन-वंशीय मानते हैं।

(१०) पलक्क का उग्रसेन—यह गुण्टूर जिले में स्थित पलक्कड था। यह पल्लवों का एक प्रमुख राजकेन्द्र था।

(११) देवराष्ट्र का कुबेर—डॉ० स्मिथ ने देवराष्ट्र को महाराष्ट्र माना है। परन्तु अधिकाश विद्वान इस मत को स्वीकार नही करते। डा० रायचौधरी के मतानुसार देवराष्ट्र येल्लमचिलि था जो आधुनिक विजागापटम में स्थित है।

---

1 प्रयाग प्रशस्ति में 'पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरिकौट्टूरक स्वामिदत्त' पाठ है। डॉ० रामदास के मतानुसार यहाँ एकमात्र राजा स्वामिदत्त का उल्लेख है जो पिष्टपुर महेन्द्रगिरि के समीप कोट्टूर का राजा था। डॉ० फ्लीट इसमें दो राजाओं के नाम मानते हैं—(१) पिष्टपुर का महेन्द्र और (२) गिरि-कोट्टूर का स्वामिदत्त कुछ विद्वान् पिष्टपुर के राजा का नाम महेन्द्रगिरि मानते हैं और दूसरे राजा स्वामिदत्त के राज्य का नाम केवल कोट्टूर समझते हैं।

(१२) कुस्थलपुर का धनञ्जय--डॉ० बर्नेट के अनुसार कुस्थलपुर को उत्तरी आरकाट में स्थित कुट्टलुर समझना चाहिए।

इन राजाओं के नामों के पश्चात् हरिषेण ने 'प्रभृति' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे प्रकट होता है कि इनके अतिरिक्त दक्षिणी भारत के कुछ अन्य राजाओं ने भी समुद्रगुप्त से युद्ध किया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण के कुछ राजाओं ने सघ बनाकर समुद्रगुप्त का सामना किया था। इस अनुमान का एक परोक्ष प्रमाण मिलता है। भौगोलिक दृष्टिकोण से काँची वेंगी के दक्षिण में है और इसलिये काँची एवं उसके राजा विष्णुगोप का उल्लेख वेंगी के पश्चात होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं हुआ है। हरिषेण ने काँची का उल्लेख पहले किया है। अत अनुमान किया जा सकता है कि अवमुक्त, वेंगी, पलक्क, देवराष्ट्र और कुस्थलपुर आदि सब या कुछ राज्यों ने सघ बनाकर समुद्रगुप्त का सामना किया था। इस सघ का नेता काँची का विष्णुगोप था। इसी से उसके नाम का उल्लेख पहले हुआ है। डॉ० जायसवाल का मत है कि समुद्रगुप्त को दक्षिण में दो सघों का सामना करना पडा—(१) अण्टराज के नेतृत्व में स्वामिदत्त और दमन के सघ का और (२) विष्णुगोप के नेतृत्व में नीलराज, हस्तिवर्मा, उग्रसेन, कुबेर और धनञ्जय के सघ का।

समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ-अभियान में जिन राज्यों के नाम आये हैं, उन सब की स्थिति पूर्वी तट पर थी। अत स्पष्ट हो जाता है कि समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा दक्षिणापथ के पूर्वी भाग में ही सीमित रही। वह पश्चिमी तट की ओर नहीं गया। सम्भवत उसने ऐसा इसलिये किया कि वह तत्कालीन वाकाटक-वश से शत्रुता न लेना चाहता था। यदि वह पश्चिमी तट की ओर जाता तो उसे वाकाटक-राज्य से सघर्ष करना पडता।

डॉ० दुब्रिया महोदय का मत था विष्णुगोप के नेतृत्व में जो सघ बना था उसने समुद्रगुप्त को पराजित कर दिया था। इस पराजय के कारण ही वह काँची से आगे न बढ़ा और पूर्वी तट से ही होता हुआ अपनी राजधानी पाटलिपुत्र वापस आ गया। परन्तु यह मत नितान्त काल्पनिक है। प्रयाग-प्रशस्ति में कहीं भी समुद्रगुप्त की पराजय का सकेत नहीं मिलता । उसे इसी प्रशस्ति में 'पृथिव्यामप्रतिरथ-' कहा गया है। उसकी मुद्राओं पर भी उसे 'अजित', 'अप्रतिरथः' आदि कहा गया है।

आर्यावर्त्त का द्वितीय युद्ध--दक्षिणापथ के युद्धों का वर्णन करने के पश्चात हरिषेण पुनः आर्यावर्त्त के द्वितीय युद्ध का वर्णन करता है। प्रथम आर्यावर्त्त युद्ध में अच्युत, नागसेन, ग . . . (गणपतिनाग) और कोतकुलज का उल्लेख हुआ है। परन्तु द्वितीय आर्यावर्त्त के युद्ध मे कोतकुलज का नाम नहीं मिलता। अच्युत, नागसेन, और गणपतिनाग के अतिरिक्त रुद्रदेव, तमिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन्, नन्दिन् और बलवर्मन् नामक राजाओं के नवीन नाम मिलते है। इन नामों के पश्चात् 'आदि'

शब्द जुड़ा हुआ है। इससे अनुमान होता है कि इस युद्ध में कुछ अन्य राजाओं ने भी भाग लिया था।

डॉ० रायचौधरी आदि कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तव में आर्यावर्त में एकही युद्ध हुआ था। हरिषेण पहली बार आर्यावर्त्त-युद्ध का सक्षेप में वर्णन करता है और दूसरी बार उसी युद्ध का सविस्तार वर्णन करता है। अपने पक्ष में ये विद्वान् निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) दो आर्यावर्त्त-युद्ध की कल्पना करने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रथम आर्यावर्त-युद्ध में अपने शत्रुओं का पूर्ण रूप से दमन किए बिना ही समुद्रगप्त दक्षिण भारत की विजय के लिये चला गया। ऐसी कल्पना करने पर समुद्रगप्त को एक अदूरदर्शी एव अकुशल सेनापति मानना पड़ेगा जोकि वह नही था।

(२) जब आर्यावर्त्त के युद्ध में अच्युत, नागसेन और ग . (गणपतिनाग) का उन्मूलन (उन्मूल्य) हो गया था तो फिर वे दूसरे आर्यावर्त-युद्ध कैसे कर सकने थे।

परन्तु फॉदर हेरास आदि विद्वानों ने दो आर्यवर्त्त-युद्धों को माना है। इसका साधारण आधार प्रयाग-प्रशस्ति ही है। हरिषेण आर्यावर्त्त के दो युद्धों का वर्णन करता है—एक दक्षिणपथ-युद्ध के पहले और दूसरा उसके बाद। इस बाद का कोई कारण नही था कि एक बार व आर्यावर्त्त-युद्ध का सक्षेप देता और दूसरी बार उसका ब्योरा। 'उन्मूल्य' का शाब्दिक अर्थ 'नाश करके' नही लेना चाहिये। इसका अर्थ 'पराजित कर' है। समुद्रगुप्त आर्यावर्त्त के राजाओं को पराजित करके तथा उनके राज्यों को अपने अधीन करके दक्षिणी भारत के अभियान पर निकला था। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय वह दक्षिणी भारत के युद्धों में सलग्न था, उसी समय उत्तरी भारत मे उसके शत्रुओं ने पुन सगठन करके विद्रोह का झण्डा उठाया। यह अस्वाभाविक नही था। समुद्रगप्त दक्षिणी भारत से लौटा और उसने आर्यावर्त्त के द्वितीय युद्ध में अपने नये-पुराने शत्रुओ का पुन दमन किया। इस घटना-क्रम मे कोई भी ऐसी अस्वाभाविकता नही है कि जिससे दो आर्यावर्त्त-युद्धों को मानने में कोई विशेष कठिनाई हो।

पराजित राजाओं का समीकरण—प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के निम्नलिखित राजाओ को उखाड फेका[1] और उनके राज्यों पर अधिकार कर लिया—

(१) रुद्रदेव—दीक्षित महोदय ने रुद्रदेव का समीकरण रुद्रसेन प्रथम वाकाटक से किया है। परन्तु यह असगत प्रतीत होता है। प्रथमत, रुद्रसेन-प्रथम वाकाटक आर्यावर्त्त का राजा न था और द्वितीयतः रुद्रदेव की पराजय के पश्चात भी वाकाटक-वश राज्य करता रहा था। उसका 'प्रसभोद्धरण' नही हुआ था।

कौशाम्बी के मघवशीय राजाओं के नाम मिलने हैं। इनमें एक 'श्रीरुद्र' था।

1 आर्यावर्त्तराजप्रसभोद्धरण...

उसकी एक तांबे की मुद्रा कौशाम्बी में मिली है। प्रयाग के समीप भृता से 'रुद्रदेव' की मिट्टी की एक मुहर भी मिली है। अतः प्रयाग-प्रशस्ति का रुद्रदेव कौशाम्बी का राजा प्रतीत होता है।

(२) मतिल—बुलन्दशहर से एक मुहर मिली है जिस पर मत्तिल नाम लिखा हुआ है। कुछ विद्वानों ने मतिल और मत्तिल को एक ही व्यक्ति माना है। एलन महोदय ने कहा है, इस समीकरण के मानने में यह कठिनाई है कि मुहर पर मत्तिल के साथ किसी उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया है, जिससे वह कोई सामान्य व्यक्ति प्रतीत होता है, राजा नहीं। परन्तु, जैसा कि डा० रायचौधरी ने कहा है, हम अनेक ऐसे राजाओं को जानते हैं, जिनका उल्लेख बिना किसी उपाधि के हुआ है। इस स्थिति में मत्तिल और मतिल को एक ही व्यक्ति माना जा सकता है। मत्तिल की मुहर पर नाग का चित्र है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह नागवंशीय राजा था।

(३) नागदत्त—डा० जायसवाल के अनुसार यह नागवंशीय राजा था। मथुरा से 'दत्त' नामधारी अनेक राजाओं की मुद्रायें मिली हैं। सम्भव है नागदत्त का उनके साथ कोई सम्बन्ध रहा हो।

(४.) चन्द्रवर्मा—कुछ विद्वान् इस राजा का समीकरण सुसुनिआ अभिलेख में उल्लिखित चन्द्रवर्मा से करते हैं। इस अभिलेख के अनुसार चन्द्रवर्मा पुष्करण का राजा था। पुष्करण का समीकरण मारवाड़ के पोकरन अथवा बाँकुडा जिले के पाखरन ग्राम से किया गया है। दोनों दशाओं में सुसुनिआ-अभिलेख का चन्द्रवर्मा आर्यावर्त्त का राजा नहीं ठहरता। अतः यह समीकरण असंगत है।

(५) गणपतिनाग—सम्भवतः प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध में भी इसने भाग लिया था। उस सन्दर्भ में प्रयाग-प्रशस्ति का जो वर्णन है उसमें इसके नाम का प्रथम अक्षर 'ग' ही रह गया है, शेष भाग नष्ट हो गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह नागवंशीय राजा था। इसकी मुद्रा में मथुरा, पवाया (पद्मावती) और बेसनगर (विदिशा) में मिली है।

(६) नागसेन—इसका समीकरण प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

(७) अच्युत—इसका भी उल्लेख पहले किया जा चुका है। अच्युत और नागसेन-प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध में भी समुद्रगुप्त द्वारा पराजित किए गये थे।

(८) नन्दि—यह नागवंशीय राजा प्रतीत होता है। दुब्रिया महोदय का मत है कि यह पुराणों का शिवनन्दि था।

(९) बलवर्मा—सम्भवतः यह भी नागवंशीय राजा था। इसका समीकरण कामरूप-नरेश भास्कर वर्मा के किसी पूर्वज के साथ करना नितान्त असंगत है, क्योंकि कामरूप प्रत्यन्त राज्य था, आर्यावर्त्त का राज्य नहीं।

नागों की पराजय—आर्यावर्त्त-युद्ध में उल्लिखित राजाओं में अधिकांश—अच्युत, नागसेन, गणपतिनाग, मतिल, नागदत्त, नन्दि, बलवर्मा—नागवंशीय

प्रतीत होते है। कुषाणों के पतन के पश्चात् नागों ने उत्तरी भारत में अपने अनेक राज्य स्थापित कर रक्खे थे। अतः समुद्रगुप्त को उत्तरी भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के पूर्व इन्हीं नागों से सघर्ष करना पडा। इस संघर्ष में अनेक नाग-नरेश मारे गये और उनका साम्राज्य-स्थापना का स्वप्न चूर्ण हो गया। यह महत्त्व-पूर्ण बात है कि समुद्रगुप्त ने नागों के शत्रु गरुड को अपना राजचिह्न बनाया।

समुद्रगुप्त और वाकाटक-वंश—इस समय वाकाटक-वश दक्षिणी भारत का एक महत्त्वपूर्ण वश हो गया था। इसके सम्राट प्रवरसेन प्रथम ने मालवा, बरार, मध्य प्रदेश, उत्तरी महाराष्ट्र, हैदराबाद राज्य का कुछ भाग, गुजरात, काठियावाड बघेलखण्ड और दक्षिणी कोसल को जीत कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी।

प्रवरसेन-प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र रुद्रसेन-प्रथम सिंहासन पर बैठा। इसने लगभग ३३५ ई० से ३६० ई० तक राज्य किया। यह प्रसिद्ध नाग-नरेश भवनाग का दौहित्र (नाती) था।

रुद्रसेन-प्रथम की मृत्य के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीषेण-प्रथम वाकाटक-वंश का राजा हुआ। इसने लगभग ३६० ई० से ३८५ ई० तक शासन किया। वाकाटक-अभिलेख इसके शासन-काल को सुख-समृद्धि का काल बताते हैं। नचना और गज अभिलेखों से विदित होता है कि पृथ्वीषेण का एक सामन्त व्याघ्रदेव बरार तथा उसके समीपस्थ प्रदेश पर राज्य कर रहा था।

चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने इसी पृथ्वीषेण-प्रथम के पुत्र रुद्रसेन-द्वितीय के साथ अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह किया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुद्रसेन-प्रथम और पृथ्वीषेण-प्रथम समुद्रगुप्त के समकालीन थे। इस प्रश्न पर बड़ा मतभेद है कि समुद्रगुप्त का इन दोनों वाकाटक-नरेशों के साथ क्या सम्बन्ध था। समुद्रगुप्त ने दिग्विजय का बीडा उठाया था। उसने मध्य प्रदेश और दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेश पर भी अपना अधिकार कर लिया था। क्या उसकी आक्रामक नीति से वाकाटक-राज्य के लिये खतरा उत्पन्न नही हो गया था? क्या दोनों शक्तिशाली राज्यों मे सघर्ष नही हुआ? इन प्रश्नों के भिन्न-भिन्न उत्तर हो सकते है। दीक्षित और जायसवाल आदि विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि समुद्रगुप्त और वाकाटक-वश के बीच युद्ध हुआ था। उनके पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) जब समुद्रगुप्त उत्तरी भारत में नागों का दमन कर रहा था तो भवनाग का दौहित्र रुद्रसेन-प्रथम वाकाटक चुप नही बैठ सकता था। उसने अपने मातृ-वश को अवश्य सहायता दी होगी।

(२) आर्यावर्त्त के द्वितीय युद्ध में जिस रुद्रदेव ने समुद्रगुप्त का सामना किया था वह वाकाटक-नरेश रुद्रसेन-प्रथम ही था। जायसवाल महोदय का मत है कि इन दोनों का युद्ध एरण में हुआ था और इस युद्ध में रुद्रसेन-प्रथम मारा गया।

(३) एरण-अभिलेख समुद्रगुप्त के पराक्रम और उपलब्धियों का वर्णन करता है तथा ऐरिकिण (एरण), को समुद्रगुप्त का 'स्वभोगनगर'[1] बताता है। यह प्रदेश वाकाटकों के अधीन था। अतः समुद्रगुप्त ने युद्ध द्वारा इसे जीता था। अपनी विजय के उपलक्ष में समुद्रगुप्त ने यहाँ किसी वस्तु, सम्भवतः मन्दिर का निर्माण किया था।

(४) दक्षिणी कोसल और आन्ध्रदेश भी वाकाटकों के अधीन थे। इन्हें जीतने के पूर्व समुद्रगुप्त को वाकाटक-वंश से युद्ध करना पड़ा होगा।

(५) नचना और गंज अभिलेखों से प्रकट होता है कि महाकान्तार में वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण-प्रथम का सामन्त व्याघ्रदेव राज्य कर रहा था। यह प्रयाग-प्रशस्ति का व्याघ्रराज था, जिसे समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिणी भारत के अभियान में पराजित किया था। अपने सामन्त की ओर से वाकाटक-नरेश पृथ्वीषेण-प्रथम ने समुद्रगुप्त से अवश्य युद्ध किया होगा।

(६) वाकाटक-नरेश प्रवरसेन-प्रथम ने सम्राट की उपाधि धारण की थी। परन्तु रुद्रसेन-प्रथम एकमात्र 'महाराज' ही कहा गया है। यह उसकी शक्ति एवं महत्त्व के ह्रास का द्योतक है। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित होने के कारण ही वह सम्राट की उपाधि धारण न कर सका था।

परन्तु इनमें से कोई भी तर्क अकाट्य नहीं हैं—

(१) प्रवरसेन के पश्चात् वाकाटक-राज्य निर्बल पड़ गया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रवरसेन के पौत्र रुद्रसेन-प्रथम को सिंहासन के लिये अपने चाचाओं से लड़ना पड़ा। इस गृह-कलह के कारण रुद्रसेन-प्रथम स्वयं ही भवनाग की सहायता पर निर्भर था। वह समुद्रगुप्त के विरुद्ध नागों की सहायता क्या करता? यही नहीं, रुद्रसेन को शकों से भी खतरा था। प्रवरसेन-प्रथम ने उनका दमन किया था। परन्तु रुद्रसेन-प्रथम के समय उन्होंने पुनः अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उनके राजा रुद्रदामन-द्वितीय ने 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण की। इनके पूर्व प्रवरसेन-प्रथम ने रुद्रसिंह-द्वितीय और यशोदामन-द्वितीय को केवल 'क्षत्रप' की उपाधि धारण करने के लिये विवश किया था। शकों के नवीन खतरे के रहते हुए यह अत्यन्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि रुद्रसेन-प्रथम समुद्रगुप्त की शत्रुता मोल लेता।

(२) प्रयाग-प्रशस्ति का रुद्रदेव-रुद्रसेन प्रथम वाकाटक नहीं हो सकता। इसके अनेक कारण हैं—

(अ) दोनों के नाम में भिन्नता है।

(ब) रुद्रदेव आर्यावर्त्त का राजा था जबकि रुद्रसेन-प्रथम वाकाटक दक्षिणापथ का।

(स) यदि पराजित रुद्रदेव वाकाटक-नरेश होता तो हरिषेण समुद्रगुप्त की

---

1 'the city of his own enjoyment'—Fleet

इस विजय का सगर्व एवं सविस्तार वर्णन करता।[1] रुद्रदेव का नामोल्लेख-मात्र हुआ है और वह भी आर्यावर्त्त के ८ छोटे-छोटे राजाओं के साथ। इससे स्पष्ट होता है कि वह भी आर्यावर्त्त का कोई छोटा शासक होगा। हम पहले ही कह चुके हैं कि रुद्रदेव कौशाम्बी का राजा था।
इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि रुद्रसेन और समुद्रगुप्त का युद्ध एरण में हुआ था, इसमें रुद्रसेन मारा गया था।

(३) एरण-अभिलेख से समुद्रगुप्त का अधिकार एरण-प्रदेश पर सिद्ध होता है, परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि उसने यह प्रदेश रुद्रसेन अथवा पृथ्वीसेन से छीना था।

(४) दक्षिणी कोसल और आन्ध्र-देश प्रवरसेन के अधीन थे। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् ये वाकाटक-राज्य से निकल गये थे।

(५) नचना और गज अभिलेखों का व्याघ्रदेव प्रयाग-प्रशस्ति का व्याघ्रराज नहीं हो सकता, क्योंकि प्रयाग-प्रशस्ति का व्याघ्रराज दक्षिणापथ का राजा था, जबकि नचना और गज अभिलेखों का व्याघ्र देव उत्तरी भारत का सामन्त शासक था।

(६) शास्त्रीय नियमों के अनुसार वाजपेय यज्ञ का कर्त्ता ही सम्राट की उपाधि का अधिकारी होता था। वाकाटक-नरेशों में एकमात्र प्रवरसेन-प्रथम ने ही वाजपेय-यज्ञ किया था। अतः उसी ने सम्राट् की उपाधि धारण की। अन्य वाकाटक-नरेश एकमात्र 'महाराज' कहलाते थे। 'महाराज' की उपाधि रुद्रसेन-प्रथम की अधीनता सूचित नहीं करती।[2]

पुनश्च, प्रयाग-प्रशस्ति एवं एरण अभिलेखों में कहीं पर भी वाकाटकों का उल्लेख नहीं हुआ है। यदि वाकाटक-नरेश रुद्रसेन-प्रथम समुद्रगुप्त द्वारा युद्ध में मारा जाता तो उसका पुत्र पृथ्वीषेण अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह समुद्रगुप्त की पौत्री प्रभावतीगुप्ता के साथ न करता। रुद्रसेन-प्रथम की पराजय और मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण वाकाटक-राज्य पर समुद्रगुप्त का अधिकार अथवा प्रभाव हो जाना चाहिए था। परन्तु किसी भी साक्ष्य में इसका संकेत नहीं मिलता। रुद्रसेन प्रथम की युद्ध में हत्या वाकाटक-वंश के लिये एक दारुण आपदा हुई होगी और उस दशा में उसके पुत्र पृथ्वीषेण-प्रथम का शासन-काल सुख-समृद्धि का काल

1 '. if Rudrasena defeated by Samudragupta had belonged to the Vakataka dynasty ., The Allahabad record would have described it in several verses or in a string of long compounds, and would certainly not have dismissed it merely in four letters'.
—Altekar, NHIP, p. 106

2 The assumption of the title of 'Maharaja' 'did not at this time indicate any subordinate position in the Deccan, as it did in the Punjab. It was used even by independent Rulers . '
—Altekar, NHIP, p. 106

न होता। इन आधारों पर यही निष्कर्ष अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ने वाकाटक-राज्य पर आक्रमण नहीं किया। उनके साथ संघर्ष से बचने के लिये ही उसने अपना दक्षिणी भारत का अभियान पूर्वी भाग में ही सीमित रक्खा और वह पश्चिमी तट की ओर न गया।

आटविक राज्य—आर्यावर्त्त के द्वितीय युद्ध का वर्णन करने के पश्चात हरिषेण वन्य प्रदेश के राजाओं का उल्लेख करता है और कहता है कि समुद्रगुप्त ने उन सब राजाओं को अपना दास बना लिया।[1]

डॉ० रायचौधरी के अनुसार ये आटविक राज्य आलवक (गाजीपुर) और डभाला (जबलपुर-प्रदेश) में थे। इन आटविक राज्यों की स्थिति के सम्बन्ध में १९९ गुप्त सवत् तथा २०९ गुप्त सवत के अभिलेखों का सहारा लिया जाता है। इनके अनुसार महाराज हस्तिन डभाला तथा १८ अटवी-राज्यों पर शासन कर रहा था। इस प्रकार यदि आटविक राज्यों को मध्य भारत में मान लिया जाय तो यह अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होगा कि प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध के पश्चात् दक्षिणी भारत की ओर अभियान करते समय समुद्रगुप्त ने बीच में आटविक राज्यों को जीता था। परन्तु हरिषेण ने आटविक-राज्यों की विजय का उल्लेख द्वितीय आर्यावर्त्त-राज्यों की विजय का उल्लेख द्वितीय आर्यावर्त्त-युद्ध और पूर्वी भारत की विजय के बीच में किया है। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि आटविक राज्य आर्यावत्त और पूर्वी सीमान्त राज्यों के बीच में स्थित थे।

सीमावर्ती राज्य—तत्पश्चात हरिषेण सीमावर्ती राज्यों का उल्लेख करता है। पूर्वी सीमा पर स्थिति राज्यों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं—

(१) समतट—गगा और ब्रह्मपुत्र का डेल्टा।

(२) डवाक—फ्लीट के अनुसार यह ढाका-प्रदेश था। परन्तु डॉ० स्मिथ इसे उत्तरी बगाल में मानते हैं।

(३) कामरूप—इसमें वर्तमान आसाम का भाग सम्मिलित था।

(४) नेपाल।

(५) कर्तृपुर—कुमायूँ, गढवाल और रुहेलखण्ड के प्रदेश।

'आदि' शब्द के प्रयोग से विदित होता है कि इस सूची में कुछ अन्य सीमावर्ती राज्य भी रहे होंगे।

इनके राजाओं (नृपतिभिः) का उल्लेख किया गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ये सब राजतन्त्रात्मक थे।

पश्चिमी सीमा पर स्थित राज्य निम्नलिखित थे—

(१) मालब—यह जाति मेवाड़, टोंक और दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान में बसी हुई थी।[2]

(२) आर्जुनायन—यह जाति दिल्ली, जयपुर और आगरा के प्रदेश में रहती थी।[3]

---

1 परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य 3 Allan, Cat. p. IXXXII 1,
2 The Vakataka-Gupta Age; p. 131

(३) यौधेय—डॉ० भण्डारकर के मतानुसार यह जाति मेवाड़, कोटा और मध्य भारत के समीपवर्ती प्रदेश में रहती थी।[1] डॉ० रायचौधरी के मतानुसार पंजाब का जोहियबार प्रदेश उनका प्रदेश रहा होगा।

(४) माद्रक—इस जाति की राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी।

(५) आभीर—डॉ० रायचौधरी सिन्धु घाटी के दक्षिणी भाग एवं पश्चिमी राजपूताना को इसका निवास-स्थान बताते हैं। यही पेरीप्लस और टालमी ने अबी-रिया-राज्य का उल्लेख किया है। डॉ० स्मिथ इनके प्रदेश को झांसी और भिलसा के बीच अहिरवाड़ा में बताते हैं।

(६) प्राजुन—डॉ० भण्डारकर इसे भिलसा के निकट नरसिंहगढ़ में रखते हैं।[2]

(७) सनकानिक—चन्द्रगुप्त-द्वितीय के उदयगिरि गुहा-लेख में इस जाति का उल्लेख हुआ है। अतः इसे ग्वालियर-प्रदेश के आसपास रक्खा जा सकता है।

(८) काक—सांची को काकनाद कहते थे। डॉ० स्मिथ काक जाति का सम्बन्ध काकनाद से स्थापित करते हैं।

(९) खरपरिक—डॉ० भण्डारकर इस जाति का समीकरण खर्पर जाति से करते हैं और मध्य प्रदेश के दमोह जिले को इसका निवास-स्थान मानते हैं।[3]

हरिषेण का आशय पश्चिमी सीमा पर स्थित कुछ अन्य जातियों से भी होगा, क्योंकि उसने उपयुक्त जातियों के नाम के अन्त में 'आदि' जोड़ा है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रयाग-प्रशस्ति पूर्वी सीमा के राज्यों के 'नृपों' का उल्लेख करती है, परन्तु वह पश्चिमी सीमा पर स्थित राज्यों के साथ 'नृप' शब्द का प्रयोग नहीं करती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमी सीमा पर स्थित राज्य गणतन्त्रात्मक थे।

डॉ० जायसवाल का विश्वास था कि समुद्रगुप्त की आक्रमक एवं विस्तारवादी नीति ने भारतवर्ष की गणतन्त्रवादी राज्यों का विनाश कर दिया। परन्तु जैसा कि डॉ० अल्तेकर ने कहा है यह मत ठीक नहीं है। समुद्रगुप्त ने इन गणराज्यों का विनाश नहीं किया, केवल उन्हें अपनी प्रभुता स्वीकार करने के लिये विवश किया। समुद्रगुप्त के शासन के अन्तर्गत इन गणराज्यों को स्वायत्त शासन प्राप्त था।[4]

1 IHQ. I, p. 257
2 वही, p. 258
3 IHQ I p. 258
4 'It is usually held that the careers of Yaudheya the Madra, the Arjunayana and the Malava republics mentioned in Samudragupta's Allahabad inscription came to an end owing of the imperialistic ambition and expansion of the Guptas. There is however, no definite evidence to support his view. Samudragupta only claims that these republics accepted his over lordship and paid him tribute.' - The Vakataka-Gupta Age, pp. 32-3

सीमावर्ती राज्यों के साथ सम्बन्ध—पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर स्थित राज्यों और समुद्रगुप्त के बीच जो सम्बन्ध था उस पर प्रयाग-प्रशस्ति में निम्न-लिखित कथन मिलता है—

सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन.. अर्थात

(१) सर्वकरदान—ये राज्य समुद्रगुप्त को सब प्रकार के कर देते थे,
(२) आज्ञाकरण—उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे और
(३) प्रणामागमन—व्यक्तिगतरूप से आकर समुद्रगुप्त के समक्ष अभिवादन करते थे।

सम्भवतः समुद्रगुप्त को इन राज्यों के साथ युद्ध नही करना पड़ा था। उसकी दिग्विजय से भयभीत होकर उन्होंने स्वयं ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। परन्तु ये राज्य समुद्रगुप्त के साम्राज्य के भीतर न थे।

विदेशी राज्य—प्रयाग-प्रशस्ति में विदेशी राज्यों के नाम इस प्रकार आते हैं—

दैवपुत्र शाहि शाहानशाहि शकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिः....।

दैवपुत्रशाहिशाहानशाहि—डॉ० फ्लीट ने इसका आशय तीन राज्यों के राजाओं से लिया है—(१) दैवपुत्र, (२) षाहि और (३) षाहानुषाहि। एलन ने भी इस कथन में तीन राजाओं का वर्णन माना है। परन्तु डॉ० भण्डारकर, डॉ० रायचौधरी और डॉ० मजूमदार कहते हैं कि प्रथम शब्द 'देवपुत्र' नहीं है, वरन् उसका तद्धित 'दैवपुत्र' है। अत यह शब्द किसी राजा की उपाधि नहीं हो सकता। यह अविच्छिन्न रूप से षाहिषाहानुषाहि से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार 'दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि' एक कुषाण राजा की उपाधि है। इससे तीन राजाओं का बोध नहीं होता।[1]

यह सत्य है कि तद्धित होने के कारण 'दैवपुत्र' एक स्वतन्त्र उपाधि नहीं हो सकती। परन्तु 'दैवपुत्रषाहि' एक उपाधि हो सकती है और 'षाहानुषाहि' दूसरी उपाधि। इस प्रकार यहाँ दो विदेशी राजाओं का अर्थ लगाया जा सकता है। यह अर्थ इसलिये भी ठीक प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के समय पंजाब में कोई भी इतना शक्तिशाली विदेशी शासक न था जो 'दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि' की महान् उपाधि धारण कर सकता।

परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि 'दैवपुत्रषाहि' और षाहानषाहि' से किन राजाओं को समझा जाय। कुषाण अपने को देवपुत्र कहते थे। अतः 'दैवपुत्रषाहि'

---

1 'It is, however, forgotten that the initial word is not Devaputra, but Daivputra, a *taddhita* form, which shows that the term cannot stand by itself, but must be taken along wih what follows...Devaputra had better be taken along not only with Shahi, but alo Shahanushahi, so as to make the whole correspondent with the full royal insignia Devaputra Maharaja Rajatiraja, not only of the Imperial Kushan. family but also of the Later Great Kushanas .....' —IHQ. I, p. 259

से पंजाब के कुषाणों अथवा किदार-कुषाणों का बोध होता है। सम्भवतः पंजाब का कुषाण-नरेश किदार था। यह गन्धार-प्रदेश में ससेनियन-नरेश शापुर-द्वितीय की अधीनता में राज्य करता था। कदाचित इसने समुद्रगुप्त की सहायता से ससेनियन वश के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और गन्धार, कश्मीर, पश्चिमी पंजाब में अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित किया। सम्भवतः 'षाहानुषाहि' से काबुलघाटी के किसी विदेशी शासक का तात्पर्य था।

'शकमुरुण्ड' के विषय में भी मतभेद है। इससे एक जाति का बोध होता है अथवा दो जातियों का। स्टेन कोनो का मत है कि यहाँ 'मुरुण्ड' से किसी जाति का तात्पर्य नही है। 'मुरुण्ड' शक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ स्वामी होता है। अतः 'शकमरुण्ड' से किसी शक-नरेश का बोध होता है। परन्तु अधिकांश विद्वान शकों की भाँति मुरुण्डों की भी यह जाति मानते हैं। कदाचित शकमुरुण्डों से हरिषेण का तात्पर्य मध्य पंजाब की चिलद और गडहर जातियों से और पश्चिमी पजाब की शाक जाति से हो। इन प्रदेशों में इन जातियों की मुद्रायें मिली हैं। कुछ गडहर मुद्राओं पर समुद्रगुप्त का नाम भी मिलता है। कुछ विद्वान मुरुण्ड-राज्य को लम्पाक (लघमन) में मानते हैं, जिसका उल्लेख हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' मे किया है।

डॉ० अल्तेकर और डॉ० डी० सी० सरकार आदि कुछ विद्वान शक-राज्य को पश्चिमोत्तर प्रदेश मे नहीं, वरन् पश्चिमी प्रदेश में मानते हैं। यहाँ महाक्षत्रप रुद्रदामन् का वशज रुद्रसेन-तृतीय राज्य कर रहा था।

सैंहलक का अर्थ लका-निवासी है। समुद्रगुप्त और लंका-नरेश के सम्बन्ध की पुष्टि एक स्वतन्त्र साक्ष्य से होती है। चीनी लेख वांग-ह्वेन-सी (Wang-hiuen-tse) के ग्रन्थ हिंग-चोअन (Hing-Tchoan) से ज्ञात होता है कि लका-नरेश श्रीमेघवर्ण ने समुद्रगुप्त (San-meou-to-lokiu-to) के पास एक दूत भेज कर बोधगया में लका से आने वाले यात्रियों के लिये एक विहार बनवाने की आज्ञा माँगी थी। समुद्रगुप्त ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।[2] ह्वेनसाँग ने इस विहार को देखा और इसके निर्माण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि लका-नरेश ने भारत के राजा (समद्रगुप्त) को अपने देश के समस्त रत्न भेंट कर दिए थे।

इस समय तक दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अनेक भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हो चुकी हो। कदाचित् प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित 'सर्वद्वीपवासिभिः' से वृहत्तर भारत के निवासियों का तात्पर्य हो। इन भारतीयों का अपनी मातृभूमि के साथ सम्बन्ध-सम्पर्क स्थापित करना अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। जावा के एक

1 NHIP, pp. 19 ff.

2 IA 1900, pp. 316 ff, 401 ff; IA, 1902, p. 194

ग्रन्थ तन्त्रि-कामन्दक के अनुसार महाराज ऐश्वर्यपाल अपने को समुद्रगुप्त का वंशज बताता था।

सम्बन्ध का स्वरूप—उपर्युक्त विदेशियों का समुद्रगुप्त के साथ क्या सम्बन्ध था, इसका वर्णन हरिषेण निम्नलिखित ढंग से करता है—

'आत्मनिवेदन कन्योपायनदान गरुत्मदकस्वविषयभुक्ति शासन याचना...'

इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) आत्मनिवेदन—विदेशी नरेश समुद्रगुप्त की सेवा के लिये अपने आपको समर्पित करते थे।

(२) कन्योपायनदान—वे अपनी कन्याओं को सम्राट को भेंट करते थे और उन्हें विवाह में देते थे।[1]

(३) गरुत्मदकस्वविषयभुक्ति शासन याचना—अपने प्रदेशों में शासन करने की आज्ञा लेने के लिये वे समुद्रगुप्त के राजपत्रों के लिये अभ्यर्थना करते थे। गुप्त राजपत्रों पर गरुड का राजचिह्न अंकित रहता था।

इन कथनों को शाब्दिक अर्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश के विदेशी नरेशों, लंका-नरेश एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया के समस्त द्वीपों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली हो और वे गुप्त सम्राट् की सेवा के लिये व्यक्तिगत रूप से उसके समक्ष उपस्थित होते हों अथवा अपनी कन्यायें उसे भेंट करते हों अथवा अपने राज्यों में शासन करने के हेतु वे समुद्रगुप्त का आदेश तथा अनुमोदन चाहते हों। लंका के उदाहरण से स्पष्ट है कि इस कोटि के सभी विदेशी नरेश पूर्णतया स्वतन्त्र थे। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि लंका-नरेश की भाँति अन्य विदेशी शासकों ने भी समुद्रगुप्त के साथ मैत्री-सम्बन्ध बना रक्खा था तथा दोनों पक्षों के बीच दूत-मण्डलों एवं उपहारादि का आदान-प्रदान होता था। सम्भवतः कुछ ने समुद्रगुप्त के साथ विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित कर रक्खा हो।

अश्वमेध—एलन के मतानुसार अपनी दिग्विजय के पश्चात समुद्रगुप्त ने अश्वमेध किया। इसकी सूचना हमें निम्नलिखित साक्ष्यों से मिलती है—

(१) समुद्रगुप्त के अश्वमेध शैली की मुद्रायें—इन मुद्राओं के अग्रभाग पर एक यूप के समक्ष घोड़ा खड़ा हुआ है। मुद्रा के ऊपर वृत्ताकार रूप में निम्नलिखित वाक्य मिलता है—

राजाधिराजः पृथिवी अवित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्य वीर्यः

अथवा

1 'it is not easy to distinguish between the two. For, it would be unreasonable to think that the rulers who enjoyed at least some degree of autonomy, would present their daughters for any other purpose than marriage— NHIP, p. 148.

पृथिवी विजित्य दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः मुद्रा के पृष्ठ भाग पर ढीले वस्त्र और आभूषण धारण किए हुए राजमहिषी खड़ी हुई है। उसके दाहिने हाथ में चमर और बायें हाथ में सम्भवतः तौलिया है। साथ ही, इस भाग पर 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा हुआ है।

(२) समुद्रगुप्त की पौत्री प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपत्रों पर समुद्रगुप्त के लिये 'अनेकाश्वमेधयाजिन.' का प्रयोग किया गया है।

(३) गुप्त-अभिलेखों में उसके लिये 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः' का प्रयोग किया गया है।

(४) ब्रिटिश संग्रहालय में एक यूप से बँधे हुए घोड़े की मिट्टी की मूर्ति है। इस पर 'पराक्रम' लिखा मिलता है। रप्सन महोदय का अनुमान है कि यह समुद्रगुप्त की अश्वमेध का प्रमाण प्रस्तुत करती है।[1]

इन साक्ष्यो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध किया था। प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपत्र से तो यह विदित होता है कि समुद्रगुप्त ने अनेक अश्वमेध किये थे। उसकी अश्वमेध शैली की मुद्राओं पर दो प्रकार के विरुदो से भी उसके दो अश्वमेधों की कल्पना की जा सकती है।

प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के अश्वमेध का कोई उल्लेख नही है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्रशस्ति के उत्कीर्ण कराने के पश्चात् अश्वमेध किया गया होगा।

'चिरोत्सन्न' का साधारण अर्थ 'बहुत दिनो से परित्यक्त' होता है। इसके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि समुद्रगुप्त के पूर्व बहुत दिनो से किसी ने अश्वमेध किया ही न था, परन्तु यह असत्य है। पुष्यमित्र शुंग के पश्चात् सातवाहन शातकर्णि-प्रथम, इक्ष्वाकु श्रीशान्तमूल, वाकाटक प्रवरसेन-प्रथम और भारशिवो आदि ने अश्वमेध यज्ञ किए थे।

इस कठिनाई को देखते हुए कुछ विद्वानों ने 'चिरोत्सन्न' का अर्थ 'दीर्घकालीन' लगाया है।[2]

अपने अश्वमेध यज्ञ की स्मृति मे समुद्रगुप्त ने एक विशेष प्रकार की स्वर्ण-मुद्रा निर्मित कराई।

साम्राज्य-विस्तार—समुद्रगुप्त की दिग्विजय के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश, बिहार, बगाल का कुछ भाग तथा मालवा का कुछ भाग गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। इस साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर स्थित ५ राज्य एव पश्चिमी सीमा पर स्थित ९ राज्य करद राज्य थे और उन्हे गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन प्राप्त था। सम्भव है कि दक्षिणी भारत के पराजित १२ राज्य भी करद हों। युद्ध में पराजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने इन राजाओं के साथ उदारता का बर्ताव किया था और इन्हे इनके राज्य वापस कर दिए थे। अतः ये राजा

1 JRAS 1901, p. 102   2 JNSI, XIX Pt II, p. 14

समुद्रगुप्त के प्रति भय, आदर और कृतज्ञता की भावना रखते होंगे। अफगानिस्तान, पंजाब, लंका और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अनेक द्वीपों के साथ समुद्रगुप्त के मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि कश्मीर, सिन्ध, गुजरात, काठियावाड़ और उड़ीसा के साथ समुद्रगुप्त का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था।

समुद्रगुप्त का शासन-काल—समुद्रगुप्त किस तिथि में सिंहासनासीन हुआ और उसने किस तिथि तक राज्य किया, ये प्रश्न बड़े विवादग्रस्त हैं। इस अनिश्चितता के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ-लेख और एरण अभिलेख में कोई तिथि नहीं दी गई है।

(२) चन्द्रगुप्त-द्वितीय के मथुरा अभिलेख (८१ गु० स) के पूर्व किसी भी गुप्त-नरेश ने अपने अभिलेखों में गुप्त-संवत् का प्रयोग नहीं किया है।

(३) नालन्दा ताम्रपात्र में ५ तिथि मिलती है और गया ताम्रपत्र में ९। परन्तु इस बात पर भारी मतभेद है कि ये ताम्रपत्र समुद्रगुप्त के लेख है अथवा जाली है। इस बात पर भी सन्देह किया जाता है कि इनकी तिथियाँ गुप्त संवत् की तिथियां हैं अथवा नहीं।

(४) ३१९ ई० का गुप्त-संवत् किसने चलाया—चन्द्रगुप्त-प्रथम ने अथवा समुद्रगुप्त ने अथवा चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने इस प्रश्न पर भी इतिहासकार एकमत नहीं है।

चन्द्रगुप्त-द्वितीय का मथुरा अभिलेख ६१ गुप्त संवत् का है। इसका अर्थ यह है कि वह (३१९+६१)=३८० ई० में राज्य कर रहा था। इस अभिलेख को उसके शासन के पाँचवे वर्ष उत्कीर्ण कराया गया था।[1] अतः स्पष्ट है कि वह (३८०–५)=३७५ ई० में सिंहासन पर बैठा था। इस तिथि के पूर्व उसके पिता समुद्रगुप्त का शासन समाप्त हो गया था।

परन्तु समुद्रगुप्त सिंहासनासीन कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न विद्वानों के अनुसार समुद्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि निम्नलिखित है—

(१) डॉ० मजूमदार—३१९ ई० अथवा ३५० ई०
(२) डॉ० आर० डी० बनर्जी—३२८ ई०
(३) डॉ० स्मिथ और डा० सरकार—३३० ई०
(४) गोखले—३५० ई०

समुद्रगुप्त के गया और नालन्दा ताम्रपत्र—सर्वप्रथम कनिंघम महोदय ने गया ताम्रपत्र का पता लगाया था। इसका सर्वप्रथम सम्पादन फ्लीट महोदय ने किया था। इस ताम्रपत्र के साथ-साथ समुद्रगुप्त की राजमुद्रा (Seal) भी जुड़ी

1 विजयराज्यसंवत्सरे पंचमे।

हुई है। इसके द्वारा समुद्रगुप्त ने गोपदेवस्वामी नामक एक ब्राह्मण को गया विषय में रेवतिका नामक ग्राम का दान दिया था। इसकी तिथि ९ है।

फ्लीट महोदय के मतानुसार इस ताम्रपत्र में लगी हुई राजमुद्रा वास्तविक है। उसे किसी अन्य ताम्रपत्र से अलग कर इसी ताम्रपत्र में लगाया गया था। परन्तु निम्नलिखित आधारों पर यह अनुमान किया जा सकता है कि स्वयं ताम्रपत्र जाली है—

(१) राजमुद्रा और ताम्रपत्र की धातु भिन्न-भिन्न है।

(२) दोनों की लिपि भिन्न-भिन्न है।

(३) ताम्रपत्र में समुद्रगुप्त के विरुदों के लिये सम्बन्ध कारक का प्रयोग किया गया है, परन्तु उसके नाम के साथ कर्त्ता कारक का।

फ्लीट महोदय का कथन है कि यह जाली लेख लगभग आठवी शताब्दी के प्रारम्भ में लिखा गया होगा, क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'महोनौहस्त्यश्वजयस्कन्धावार' आदि शब्दों का प्रयोग आठवी शताब्दी के पूर्व नहीं होता था।

परन्तु डॉ० राखलदास बनर्जी[1] एवं डाण्डेकर[2] आदि कुछ विद्वानों ने फ्लीट के मत का खण्डन करते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि गया राजमुद्रा वास्तविक है।

कालान्तर में नालन्दा ताम्रपत्र का पता चला। इसमें समुद्रगुप्त के शासन की तिथि ५ है। इसे वास्तविक राज-लेख स्वीकार करने में वही आपत्तियाँ है जो गया ताम्रपत्र के विषय में बताई गई हैं। अत डॉ० अमलानन्द घोष[3] एवं डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार[4] ने इस लेख को भी जाली घोषित किया। परन्तु डॉ० भण्डारकर आदि कुछ विद्वान[5] इसे समुद्रगुप्त का वास्तविक लेख मानते हैं।

अधिकांश विद्वानों के अनुसार ५ और ९ दोनों तिथियाँ गुप्त सम्वत की हैं। अत वे समुद्रगुप्त के शासन-काल को (३१९+५) =३२४ ई० तथा (३१९+९)= ३२८ ई० में रखती हैं।

ये तिथियाँ गुप्त सवत की स्थापना (३१९ ई०) के इतने निकट हैं कि कुछ विद्वान यह भी अनुमान करते हैं कि गुप्त सम्वत की स्थापना समुद्रगुप्त ने ही की थी। इस मत की पुष्टि में आर्यमंजु श्रीमूलकल्प का साक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है। जिसके अनुसार समुद्रगुप्त ही गुप्त-वंश का पहला राजा था।

परन्तु यदि यह मत स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि समुद्रगुप्त ने ५५ वर्ष (३१९ ई०–३७५ ई०) तक राज्य किया जो अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

समुद्रगुप्त के पदाधिकारी—प्रयाग-प्रशस्ति में गुप्तों के तीन पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं—

1 AIG. p. 7 f.
2 A History of the Guptas, p. 44
3 EI, XXV, p. 52 f.
4 EI, XXVI, p. 135 f., Select Inscription, p. 262 ff. 57,
5 Bhandarkar's List, No. 20, ICX, p. 77, XI, p. 225

(१) हरिषेण—यह खाद्यटपाकिक (रन्धनागाराध्यक्ष), सान्धिविग्रहिक (युद्ध मन्त्री), कुमारामात्य (राज्य के कर्मचारी-वर्ग का एक सदस्य) और महा-दण्डनायक (उच्च पुलिस अधिकारी) था। साधारणतया इनमे से प्रत्येक पद पर एक-एक अधिकारी नियुक्त होता था। परन्तु हरिषेण की योग्यता और महत्ता को देखते हुए ये सारे पद उसी को दिये गये थे। कुछ विद्वानो के मतानुसार कुमारामात्य राजकुमार का मन्त्री होता था। परन्तु यह शब्द पद का नही उच्च कर्मचारी-वर्ग (IA S cadre की भाँति) का द्योतक प्रतीत होता है।

(२) ध्रुवभूति—यह हरिषेण का पिता था। यह महादण्डनायक था।

(३) तिलभट्टक—यह भी महादण्डनायक था।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व—समुद्रगुप्त की गणना भारतवर्ष के महान विजेताओ और सेनापतियो मे की जाती है। उसने अपने भुजबल से भारतवर्ष के एक बड़े भूखण्ड पर अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित किया और इस प्रकार फिर देश की राजनीतिक एकता स्थापित की। वह वास्तविक अर्थ मे चक्रवर्ती सम्राट था। वह लोभविजयी अथवा असुरविजयी न होकर धर्मविजयी था।[1]

वह एक महान कूटनीतिज्ञ था। उसने देश-काल के अनुकूल भिन्न-भिन्न नीतियो का अनुसरण किया। आर्यावर्त मे उसने 'उन्मूलन' और 'प्रसभोद्धरण' की नीति का पालन करते हुए नौ राजाओ को पराजित करके उनके राज्यो को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। परन्तु दक्षिणापथ मे उसने 'ग्रहणमोक्षानुग्रह' की नीति अपनाई। इसके अनुसार उसने पराजित एवं बन्दीकृत राजाओ को स्वतन्त्र कर दिया और उनके राज्य उन्हे वापस कर दिए। वह जानता था कि यातायात के द्रुतगामी साधनो के अभाव मे दूरवर्ती दक्षिणापथ को साम्राज्य मे बनाये रखना बड़ा दुष्कर होगा। सीमावर्ती राज्यो से उसने अपनी अधीनता स्वीकार करवाई और उनसे 'सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन' का पालन कराया। परन्तु उसने उनके राज्यो का भी विनाश नही किया। विदेशी राज्यो के साथ उसने मैत्रीपूर्ण घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किए।

महान योद्धा होते हुए भी वह अत्यन्त दयालु था[2] और भक्ति तथा विनीत भाव से उसका कोमल हृदय जीता जा सकता था।[3] वह असाधु का विनाशक था, परन्तु साधु के उत्थान का कारण।[4] उसकी बुद्धि सदैव कृपण, दीन, अनाथ एवं आतुर मनुष्यो की सहायता मे लगी रहती थी।[5] वह महादानी था। उसके कर्म-

1 ग्रहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्।

2 अनुकम्पावत-।

3 भक्त्यवनतिमात्रग्राह्य मृदुहृदय यस्य।

4 साध्वसाधूदय प्रलयहेतुपुरुषस्य।

5 कृपणदीनानाथातुरजनोद्धारणसमन्त्रदीक्षाद्युपगतमनसः।

चारी सदैव पराजित राजाओं के विभव को लौटाने में व्यस्त रहते थे।[1] उसने सैकड़ों-हजारों गौओं का दान किया था।[2]

वह कुबेर (धनद), वरुण, इन्द्र और यमराज (अन्तक) के समान था।[3] उसने अपनी तीक्ष्ण तथा पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभा तथा संगीत-ज्ञान से देवराज इन्द्र के गुरु कश्यप एवं तुम्बुरु, नारद आदि को भी लज्जित कर दिया था।[4] समुद्रगुप्त के संगीत-प्रेम की पुष्टि उसकी वीणा-शैली की मुद्रा से भी होती है। इस पर वह एक वीणा बजाते हुए दिखाया गया है।

वह एक विद्वान भी था। उसने अपनी अनेक रचनाओं से 'कविराज' की उपाधि पाई थी।[5] डा० मजूमदार के अनुसार समुद्रगुप्त प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु का आश्रयदाता था।

इस प्रकार समुद्रगुप्त आगे आने वाले समय की भौतिक एवं बौद्धिक गतिविधियों का ज्वलन्त प्रतीक था।[6]

---

1 स्वभुजबलविजितानेकनरपति-विभवप्रत्यर्पणानित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य।

2 गोशतसहस्रप्रदायिनः।

3 धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य।

4 निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैः व्रीडित त्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः।

5 विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्य-क्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराज शब्दस्य।

6. 'a visible embodiment of the physical and intellectual vigour of the comoing age which waslargely his own creation'—New Hist. of the Indian People, p. 158

अध्याय ६

रामगुप्त

एरण अभिलेख से विदित होता है कि समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र पौत्र थे।[1] परन्तु गुप्त अभिलेखो मे उसके पुत्र चन्द्रगुप्त-द्वितीय का ही नाम ज्ञात होता है जो समुद्रगुप्त की राजमहिषी दत्तादेवी का पुत्र था।

गुप्त अभिलेखो में चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी बताया गया है। स्वय चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने को समुद्रगुप्त द्वारा स्वीकृत (तत्परिगृहीत) अर्थात मनोनीत बताता है। इस प्रकार लगभग ४६ वर्ष पूर्व तक चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी माना जाता था।

१९२३ मे सिल्वाँ लेवी ने रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा लिखित नाट्य दर्पण' का पता लगाया जिसमें देवीचन्द्रगुप्तम' नामक नाटक के ६ उद्धरण थे। कालान्तर में इस नाटक के कुछ अन्य उद्धरणो का भी पता चला।

देवीचन्द्रगुप्तम की रचना विशाखदत्त ने की थी। इस नाटककार के काल के विषय मे बड़ा मतभेद है। लेवी महोदय के मतानुसार वह गुप्त काल और हर्षकाल के बीच मे कभी हुआ था। परन्तु जायसवाल[2] स्टेन कोनो[3] आदि विद्वान उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन मानते है।

(१) आज सम्पूर्ण **देवीचन्द्रगुप्तम'** नही मिलता। वह विलुप्त हो गया है। उसके जो उद्धरण मिले है उनके आधार पर **देवीचन्द्रगुप्तम्**[4] का कथानक इस प्रकार था—

रामगुप्त एक निर्बल एव क्लीव नरेश था। उस पर शक-नरेश ने आक्रमण किया। रामगुप्त शक नरेश को अपनी पत्नी ध्रुवदेवी अर्पित करने के लिये सहमत हो गया। परन्तु यह बात उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त को नितान्त अपमानजनक लगी। वह स्वय ध्रुवदेवी के वेष मे शक-नरेश के पास गया और उसे मार डाला। कालान्तर मे उसने अपने भाई को भी मार डाला और उसकी पत्नी ध्रुवदेवी से स्वय विवाह कर लिया।

(२) **हर्षचरित**—सातवी शताब्दी में हर्ष के राजकवि बाण ने अपने हर्षचरित मे इस घटना का उल्लेख इन शब्दो में किया है—

---

1 गृहेषु भविता बहुपुत्रपौत्र सङ्क्रामिणी कुलवधू व्रतिनी निविष्टा।

2 IA XLII, p 260-7

3 IA, XLIII, p 66

4 यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वसनाय शकस्य ध्रुवदेवी सम्प्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधनार्थं यियासुः प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन् उच्यते। इत्यादि

अरिपुरे च परकलत्र कामुकं कामिनीवेषगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।"

(३) **शंकरार्य**—नवीं शताब्दी में हर्षचरित पर टीका करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् शकरार्य ने इस घटना की पुष्टि की—

शकानामाचार्यः शकाधिपति चन्द्रगुप्तभ्रातृजाया ध्रुवदेवी प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृत्तेन व्यापादित।

(४) **काव्यमीमांसा**—दसवी शताब्दी मे कन्नौज के प्रतिहार-नरेश महेन्द्रपाल की राजसभा में प्रसिद्ध विद्वान् रहता था। उसने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमासा' में इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया है—

दत्वा रुद्धगति खसाधिपतये देवीध्रुवस्वामिनीम्
यस्मात् खण्डितसाहसो विवृते श्रीशर्मगुप्तो नृप.
तस्मिन्नेव हिमालये गिरिगुहाकोणतक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणा गणै कीतय ।

(५) **शृंगार-प्रकाश**—ग्यारहवी शताब्दी मे धारा मे परमार-नरेश भोज राज्य करता था। वह अपने समय का एक बडा विद्वान् था। उसने अपने ग्रन्थ शृगार-प्रकाश मे 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उद्धरण दिये है—

स्त्रीवेषनिह्नुत. चन्द्रगुप्तः शत्रो. स्कन्धावारमलिपुर शकपतिवधायागमत्।

तथा

देवीचन्द्रगुप्ते शकपतिना पर कृच्छ्रमापादित रामगुप्तस्कन्धावारमनुजिघृक्षुरुपायान्तराडगोचरे प्रतिकारे निशि वेतालसाधनम्।

(६) **मुजमलुत् तवारीख**—बारहवी शताब्दी मे अब्दुल हसन अली नामक एक विद्वान् हुआ। इसने अरबी के एक ग्रन्थ का फारसी मे अनुवाद किया। यह अनुवाद 'मुजमलुत् तवारीख' ग्रन्थ के रूप मे है । इसमे निम्नलिखित कथानक मिलता है—

"रव्वाल नामक एक राजा था। उसके छोटे भाई बर्कमारीस ने स्वयवर में एक राजकन्या के साथ विवाह किया। परन्तु राजकन्या के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर रव्वाल ने उसे छीन लिया। कुछ समय बाद रव्वाल पर किसी शत्रु ने आक्रमण किया। रव्वाल युद्ध में हार गया और वह शत्रु को अपनी पत्नी देने के लिये सहमत हो गया। बर्कमारीस को यह बात अच्छी न लगी। वह स्वय राजकन्या के वेष में शत्रु के पास गया और उसे मार डाला। कालान्तर मे उसने राजकन्या के साथ फिर विवाह कर लिया।

स्पष्टतया यह कथानक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के कथानक से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अबूसेख नामक एक विद्वान् ने किसी संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर अरबी में रव्वाल और बर्कमारीस की यह कथा लिखी थी। अनेक विद्वान् रव्वाल का समीकरण रामगुप्त से और बर्कमारीस का समीकरण विक्रमादित्य से करते हैं।

(७) संजन ताम्रपत्र—राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष-प्रथम के ८७१ ई० के संजन ताम्रपत्र में कहा गया है कि कलियुग में गुप्तवंश में उत्पन्न एक दानी राजा ने अपने भाई को मार कर उसके राज्य तथा पत्नी को छीन लिया।[1]

(८) काम्बे और संगली ताम्रपत्र—ये दोनों ताम्रपत्र राष्ट्रकूट-नरेश गोविन्द-चतुर्थ के है। पहले की तिथि ९३० ई० और दूसरे की ९३३ ई० है। इनमें साहसांक का उल्लेख है, जिसने अपने बड़े भाई को मार कर उसकी विधवा पत्नी के साथ विवाह कर लिया।[2]

(९) मुद्रायें—श्री पी० एल० गुप्त ने कुछ ताम्र-मुद्रायें प्रकाशित की थी जिन पर 'रामगुप्त' अथवा 'मगुप्त' अथवा 'मगुप्त' लिखा हुआ है।[3] इसके पश्चात् प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी ने एरण-प्रदेश से रामगुप्त की अनेक मुद्रायें प्राप्त की जो सिंह, गरुड़, गरुड़ध्वज आदि शैलियों की हैं।[4] उनका मत है कि ये मुद्रायें चन्द्रगुप्त-द्वितीय के भाई रामगुप्त की है।[5] इन मुद्राओं की लिपि गुप्तकालीन है और इन पर गुप्तों का राजचिह्न गरुड़ध्वज अंकित है।

रामगुप्त की ऐतिहासिकता—उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर डॉ० राखालदास बनर्जी[6], डा० अल्तेकर[7], डॉ० मिराशी[8] और प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी[9] आदि विद्वान् रामगुप्त को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं।

ऐतिहासिकता का विरोध—परन्तु डॉ० स्मिथ[10], डॉ० रायचौधरी[11], डॉ० बसाक[12], डॉ० जे० एन० बनर्जी[13] और डॉ० ए० के० नारायण[14] आदि विद्वान् रामगुप्त को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। उनकी आपत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) गुप्त-अभिलेखों में चन्द्रगुप्त-द्वितीय को समुद्रगुप्त द्वारा स्वीकृत (तत्परिगृहीत) कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त-द्वितीय को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया था। इस स्थिति में रामगुप्त समुद्रगुप्त के बाद सिंहासन पर कैसे आ सकता था?

(२) गुप्त-अभिलेखों में जो वंशावली दी गई है, उसमें रामगुप्त का नाम नहीं मिलता।

---

1 Ep. Ind. XVIII, p. 235 f.
2 Ep. Ind. VII, p. 26 f., IA. XII, p. 247 f.
3 JNSI. XII, p. 103
4 JIH XLII, pt. II, p. 389 ff.
5 JNSI XXIII p.340
6 Manindranath Nandi Lectures, Nov. 1924 (B.H.U.)
7 JBTRS XIV, p. 223 ff, XV, p. 134 ff.
8 IHQ. X. p. 48. IA. LXII, p. 201
9 JNSI. XXIII, p. 340 ff.
10 EHI. p. 301
11 PHAI. p. 553, footnote 2.
12 HNEI, Introduction, p. III
13 JBRS. XII, p. 213
14 JNSI XII, p. 207-10

(३) रामगुप्त का कोई अभिलेख नहीं मिलता।

(४) उसकी जो मुद्रायें बताई जाती हैं वे एकमात्र ताँबे की ही हैं, जबकि गुप्त-सम्राटों ने स्वर्ण-मुद्रायें निर्मित कराई थी। उन पर प्राकृत में भी लेख हैं जबकि गुप्त-सम्राटों ने एकमात्र संस्कृत का प्रयोग किया था। वे अनेक प्रकार की हैं?

(५) उसकी तथाकथित मुद्रायें एकमात्र पूर्वी मालवा में ही पाई जाती हैं। इससे यह सम्भावना उत्पन्न होती है कि वह गुप्त-सम्राट न था, वरन् मालवा का कोई स्थानीय शासक था। कम से कम डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार का यही मत है।[1]

(६) रामगुप्त-विषयक साक्ष्य परस्पर-विरोधी और अस्पष्ट हैं। बाण ने रामगुप्त का नाम लेता है और न ध्रुवदेवी का। राजशेखर रामगुप्त के स्थान पर शर्मगुप्त का नाम लेता है और शकाधिपति के स्थान पर खशाधिपति का। हर्षचरित के अनुसार घटनास्थल अरिपुर था और शृंगार-प्रकाश के अनुसार अलिपुर। राजशेखर इस सम्बन्ध में कार्तिकेयनगर का उल्लेख करता है। पुनः राजशेखर कहता है कि रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी शकराज को दे दी थी, जबकि दूसरे साक्ष्य केवल यही बताते हैं कि उसने अपनी पत्नी को देने का वचन दिया था। शृंगार-प्रकाश 'वेतालसाधन' जैसी अविश्वसनीय बातों का उल्लेख करता है। मजमलुत् तवारीख के रव्वाल और बर्कमारीस का समीकरण रामगुप्त और विक्रमादित्य के साथ करना काल्पनिक है। सजन ताम्रपत्र शक-नरेश का कोई उल्लेख नहीं करता। काम्बे और सगली ताम्रपत्र चन्द्रगुप्त के स्थान पर साहसांक का नाम लेते हैं।

(७) दिग्विजयी समुद्रगुप्त की मृत्यु के तत्काल पश्चात ही गुप्त-साम्राज्य इतना निर्बल कैसे हो गया कि उसका सम्राट छोटे से शक-नरेश से पराजित हो गया और वह उसे अपनी पत्नी अर्पित करने के लिये तैयार हो गया।

(८) अपनी पत्नी समर्पित करने के लिये उद्यत होना, अपने भाई की हत्या और उसकी विधवा पत्नी के साथ विवाह आदि कार्य गुप्त-काल की स्वस्थ परम्पराओं के नितान्त प्रतिकूल है। अतः ये गुप्त-काल में घटित नहीं हो सकते थे।

प्रत्युत्तर—अनेक विद्वानों ने उपर्युक्त तर्कों का प्रत्युत्तर दिया है और रामगुप्त को ऐतिहासिक गुप्त-नरेश माना है—

(१) गुप्त-अभिलेखों में प्रयुक्त 'तत्परिगृहीत' और 'तत्पादानुध्यात' शब्दों का शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना चाहिए। इनसे यह प्रकट नहीं होता कि इन शब्दों का प्रयोगकर्ता अनिवार्यतः अपने पिता का उत्तराधिकारी था। ये शब्द केवल औपचारिक थे और पुत्र द्वारा अपने पिता के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किये जाते थे।

---

[1] '....was a chief who issued coins in imitation of the imperial Gupta money on the decline of the Guptas about the close of the fifth century A.D., —JIH, XI, Pt. III. p. 533 ff.

(२) गुप्तों की परम्परा में किसी भी राजा ने अपने पूर्वगामी भाई का उल्लेख अपने राजकीय लेखों में नहीं किया। उदाहरणार्थ, स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त राजा हुआ। परन्तु पुरुगुप्त ने कभी भी अपने पूर्वगामी भाई का नामोल्लेख नहीं किया। इस परम्परा के अन्तर्गत राजा एकमात्र अपने पिता का ही उल्लेख करता था। रामगुप्त के पश्चात् उसका भाई चन्द्रगुप्त-द्वितीय राजा हुआ था। अतः चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त का उल्लेख न करके सीधे अपने पिता का ही उल्लेख किया।

पुनश्च, रामगुप्त भीरु और अयोग्य शासक सिद्ध हुआ। वह आक्रमणकारी को अपनी पत्नी देने के लिये भी तैयार हो गया। इस कुकृत्य के कारण भी वह गुप्त-वंशावलि में अनुल्लेखनीय समझा गया होगा।[1]

(३) रामगुप्त का शासन अत्यन्त अल्पकालीन था। अतः यदि उसने अपना कोई अभिलेख उत्कीर्ण न कराया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(४) ताँबे की मुद्राओं का निर्माण, उन पर प्राकृत और संस्कृत दोनों का प्रयोग तथा उनकी विभिन्नता केवल उस काल की अशान्ति, आर्थिक हीनता और मुद्राकारों की कला-अकुशलता को ही सिद्ध करते हैं।

(५) रामगुप्त की मुद्राओं के लेख गुप्त-लिपि में हैं। उन पर गरुडध्वज का प्रयोग भी उन्हें गुप्त-मुद्रायें बताता है। अतः रामगुप्त को गुप्त-नरेश ही मानना चाहिए। वह मालवा का स्थानीय शासक नहीं प्रतीत होता। मालवा के इतिहास में रामगुप्त नामक राजा के लिये कहीं स्थान नहीं है।

(६) रामगुप्त-विषयक साहित्यिक परम्परा दीर्घकालीन है। उसके उल्लेखक अपने समय के बड़े विद्वान थे। वे अतीत की राजनीतिक घटनाओं से भलीभाँति परिचित होंगे। उनके उल्लेखों में मूल कथानक सुरक्षित है, केवल ब्यौरे का ही अन्तर है। ऐसी दीर्घ साहित्यिक परम्परा की अवहेलना नहीं की जा सकती। ये महत्त्वपूर्ण बात है कि ये लेखक भारत के किसी एक ही भाग अथवा काल के नहीं है वरन भिन्न-भिन्न प्रदेशों और कालों के है। अतः उनके लेखों का आधार ऐतिहासिक होगा।

(७) रामगुप्त के निर्बल एवं अयोग्य शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य की दुर्दशा हो गई हो तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। शकों ने समुद्रगुप्त की दिग्विजय से भयभीत होकर उसके साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाये हों। सम्भव है कि उसकी मृत्यु और रामगुप्त की अयोग्यता से लाभ उठाकर उन्होंने अपना राज्य-विस्तार करना चाहा हो।

(८) रामगुप्त ने अपनी पत्नी समर्पित करने का वचन देकर जो कुकृत्य किया था, उसे एक अपवाद ही माना जा सकता है। सम्भवतः रामगुप्त को अयोग्यता और क्लीवता के कारण न तो उसे अपनी प्रजा का अनुराग प्राप्त था और न अपनी

1 Heras, JBRS. XXXIV, p. 19 ff.

पत्नी का। अतः उसका वध स्वाभाविक परिस्थिति में ही हुआ था। कतिपय परिस्थितियों में विधवा-विवाह को व्यवस्थाकारों ने मान्यता भी दी थी। इनमें से एक परिस्थिति पति की क्लीवता भी थी।[1]

अतः रामगुप्त को ऐतिहासिक गुप्त-नरेश मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं दिखाई देती।

रामगुप्त का समीकरण—भण्डारकर महोदय का मत था कि 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के किसी प्रतिलिपिकार ने भल से काचगुप्त के स्थान पर रामगुप्त लिख दिया था। वास्तव में 'देवीचन्द्रगुप्तम्' काचगुप्त के कथानक का वर्णन करता है।[2] इस राजा की स्वर्ण मुद्रा भी मिली है। कालान्तर में अल्तेकर महोदय ने भी काच का समीकरण रामगुप्त के साथ किया।[3] परन्तु ये दोनों मत असगत हैं। प्रतिलिपिकार की भूल की बात नितान्त कल्पनाजन्य है। रामगुप्त की मुद्रायें अलग मिली हैं और काच की अलग। इन दोनो को एक व्यक्ति नही माना जा सकता। इसी प्रकार जायसवाल महोदय का यह मत कि रामगुप्त और काच दोनों एक ही व्यक्ति के नाम है[4], स्वीकार नही किया जा सकता। प्रो० अहमद हसन दानी के मतानसार एरण-प्रदेश की विजय सम्भवत: समुद्रगुप्त ने नही, वरन् उसके समय में राजकुमार रामगुप्त ने की थी। समुद्रगुप्त ने रामगुप्त को उस प्रदेश का गवर्नर नियुक्त किया था। वहाँ रामगुप्त ने अपनी ताम्र-मुद्रायें चलाई थी। पश्चिमी भारत में रामगुप्त की सफलता से पड़ोसी शक-वश उससे बड़ा क्रुद्ध था। शक-वश के विरुद्ध अपने राज्य की रक्षा करते हुए ही रामगुप्त मारा गया था। कालान्तर में लेखक वास्तविक सत्य को भूल गये और उन्होंने रामगुप्त के विषय में कापुरुष के रूप मे चित्रित किया।[5] उसकी मृत्यु के पश्चात् चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने शकों का पराजित किया।

प्रो० दानी का उपर्युक्त मत नितान्त काल्पनिक है—

(१) इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि एरण-विजय रामगुप्त ने की थी। एरण-अभिलेख मे उसका कही नाम भी नही है।

(२) रामगुप्त को समुद्रगुप्त ने एरण में अपना गवर्नर नियुक्त किया था, यह मत भी काल्पनिक है।

(३) रामगुप्त की जो ताम्र-मद्रायें मिली हैं उन पर राजचिह्न गरुड़ध्वज है। इससे वह एक स्वतन्त्र शासक प्रतीत होता है, गवर्नर नहीं।

---

1 नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। —नारद।

2 Malaviya Comm. Vol., p. 189 ff.

3 The Coinage of the Gupta Empire, pp. 78 ff.

4 JBORS. XVIII, p. 17ff.

5 'The latter (Ramagupta) died a prince—a martyr in the cause of the imperial Gupta power—who was destined to hold a status only in Malwa with the right to issue copper coins but unfortunately to be derided in later literary accounts. —JNSI, XXVI Pt. 1, 1964, pp. 11-14

(४) यदि रामगुप्त गुप्त-साम्राज्य की रक्षा में अपना बलिदान किया था तो क्या कारण है कि साहित्यिक परम्परा उसे क्लीव, कापुरुष और निन्दनीय व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित करती है ?

डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि रामगुप्त गुप्तवंशीय न था। वह मालवा का एक स्थानीय शासक था, जिसने पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण में अथवा छठी शताब्दी के प्रारम्भ में राज्य किया था।[1]

यह मत भी उचित नहीं है। मुद्रा के ऊपर बने गुप्त-चिह्नों—गरुडध्वज, गरुड, सिंह आदि—से रामगुप्त गुप्तवंशीय प्रतीत होता है। उसकी मुद्रा की लिपि भी गुप्तकालीन है।

पुनश्च, ४८४ ई० के एरण-अभिलेख से प्रकट होता है कि एरण-प्रदेश में महाराज मातृविष्णु बुधगुप्त के गवर्नर महाराज सुरश्मिचन्द्र के अधीन राज्य कर रहा था। एक दूसरे एरण-अभिलेख से प्रकट होता है कि ४८४ ई० के पश्चात एरण पर तोरमाण का अधिकार हो गया था। ५१० ई० के एक अन्य एरण-लेख से प्रकट होता है कि वहाँ भानुगुप्त और गोपराज ने हूणों के विरुद्ध एक सुमहत् युद्ध किया था। इस प्रकार पाँचवी शताब्दी के अन्त और छठी शताब्दी के प्रारम्भ में एरण-प्रदेश में रामगुप्त के लिये कोई स्थान नही है।

सबसे अधिक न्याय-सगत मत प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी का प्रतीत होता है कि रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का बडा भाई था।[2]

पहले कहा जा चुका है कि समुद्रगुप्त के समय मध्य पंजाब में बिलद और गडहर जातियाँ तथा पश्चिमी पंजाब मे शाक जाति का राज्य था। इन प्रदेशों में इनकी मुद्रायें भी मिली हैं। कुछ गडहर मुद्राओं पर समुद्रगुप्त का नाम भी मिलता है। इन जातियों ने समुद्रगुप्त के प्रति विनय और मैत्री का भाव प्रकट किया। हो सकता है कि इन्ही में से किसी ने समुद्रगुप्त के मरने पर विद्रोह तथा आक्रमण की नीति अपनाई हो और निर्बल रामगुप्त को पराजित भी किया हो।

यह भी सम्भावना है कि साहित्य मे 'शक' शब्द स्थूल रूप से किसी विदेशी जाति के लिये प्रयुक्त हुआ हो। समुद्रगुप्त के समय पश्चिमी पंजाब में किदार कुषाणों का राज्य था। इसके राजा 'दैवपुत्रशाहि' की उपाधि से प्रख्यात थे। इसी वंश के राजा को कदाचित् साहित्यिक साक्ष्यों में शक कहा गया है। इस वंश का राजा किदार था जिसने सम्भवत. समुद्रगुप्त की सहायता से गन्धार, कश्मीर और पश्चिमी पंजाब में अपना राज्य स्थापित किया था। हो सकता है कि समुद्रगुप्त के मरने के पश्चात इसी ने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया हो और रामगुप्त को पराजित किया हो।

---

1 JHXL, p. 535

2 '. . . now looking to a large number of coins of this ruler (and particularly of the *Guruda type*) from Vidisa and Fran, it appears that this Ramagupta was none else than the elder brother of Chandragupta II' JNSI. XVIII, p. 109

युद्धस्थल—डॉ० अल्तेकर के मतानुसार रामगुप्त का शक-वैरी सौराष्ट्र का शासक था। कालान्तर में इसे चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य ने पराजित किया था। इस स्थिति में रामगुप्त और शकराज का युद्ध भी पश्चिमी भारत में हुआ था। प्रो० वाजपेयी भी रामगुप्त के समकालीन शकराज को सौराष्ट्र का शासक बताते हैं। उनके अनुसार दोनो ने विदिशा अथवा एरण में युद्ध किया था। यहीं रामगुप्त की ताम्रमुद्रायें मिली हैं।

परन्तु इस मत का स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि 'हर्षचरित' युद्ध-स्थल अलिपुर को बताता है। डॉ० जायसवाल इसे जालन्धर के पास स्थित बताते हैं। हर्षचरित की एक अन्य प्रतिलिपि में अलिपुर के स्थान पर नलिनपुर मिलता है। मिराशी महोदय के अनुसार यह जलालाबाद के पश्चिम में था। मुजमलुल्-तवारीख के अनुसार युद्ध किसी पर्वत पर हुआ था। राजशेखर के वर्णन से प्रकट होता है कि युद्ध हिमालय-प्रदेश में कार्तिकेय नगर में हुआ था। डॉ० भण्डारकर कार्तिकेयनगर का समीकरण आधुनिक अल्मोड़ा जिले के कार्तिकेयपुर से करते हैं। इन उल्लेखो के समक्ष युद्ध-स्थल को पश्चिमी भारत में न मानकर उत्तरी भारत में मानना पड़ेगा।

डॉ० बनर्जी, डॉ० जायसवाल, डॉ० डाडेकर और प्रो० मिराशी आदि विद्वान् रामगुप्त के समकालीन शक-नरेश को पश्चिमोत्तर प्रदेश का शासक बताते हैं।

रामगुप्त का आभिलेखिक साक्ष्य—अभी हाल ही में श्री जी० एस० गाई ने बेसनगर के समीप तीन जैन मूर्तियां प्राप्त की है।[1] ये मूर्तियां विदिशा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन मूर्तियो पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

प्रथम मूर्ति पर

भगवतो(५) र्हत. चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात्पाणिपात्रिक चन्द्रक्षमाचार्य-क्षमणश्रमणप्रशिष्य आचार्य सर्पसेनक्षमण शिष्यस्य गोलक्यान्त्या सत्पुत्रस्य लक्षमणस्येति।

द्वितीय मूर्ति पर

भगवतो(५)र्हत. पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात्पाणिपात्रिकचन्द्रक्षमणाचार्यक्षमणश्रमणप्रशिष्य ....ति।

तृतीय मूर्ति पर

भगवतो(५) (र्हत:) चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज
श्री (रामगुप्तेन उ(पदेशात्पा)णि(पात्रि) ......

इन अभिलेख की लिपि गुप्तकालीन है तथा चन्द्रगुप्त-द्वितीय के उदयगिरि-गुहा-लेख (गु० स० ८२) की लिपि से मिलती-जुलती है।

इन लेखो में रामगुप्त को महाराजाधिराज कहा गया है। इनसे रामगुप्त की ऐतिहासिकता और भी अधिक पुष्ट हो जाती है।

1 JOIB. Vol. XVIII, No. 3, March 1969, pp. 247-53.

अध्याय ७

चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य

चन्द्रगुप्त-द्वितीय—एरण अभिलेख से प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे।[1] इनमें दो पुत्रों के नाम थे रामगुप्त और चन्द्रगुप्त-द्वितीय। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने रामगुप्त की हत्या करके सिंहासन प्राप्त किया था।

नागों के साथ विवाह-सम्बन्ध—पूना-ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय का विवाह नागकुल-सम्भूता कुबेरनागा के साथ हुआ था। डॉ० रायचौधरी और डॉ० मजूमदार का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता कि यह विवाह स्वयं चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने किया था। इसका कारण यह है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने इसी कुबेरनागा से उत्पन्न अपनी पुत्री का विवाह ३८० ई० के लगभग वाकाटक-राजकुमार रुद्रसेन-द्वितीय के साथ किया था। विवाह के समय प्रभावती की आयु कम से कम १५ वर्ष की रही होगी। अतः उसका जन्म (३८०–१५)= ३६५ ई० में हुआ होगा। हम जानते हैं कि समुद्रगुप्त ने लगभग ३७५ ई० तक राज्य किया था। अतः समुद्रगुप्त के जीवन-काल में ही उसकी पौत्री प्रभावती गुप्ता का जन्म हुआ होगा। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय और कुबेरनागा का विवाह स्वयं समुद्रगुप्त ने ही किया होगा। सम्भवतः नाग-वंश को पराजित करने के पश्चात समुद्रगुप्त ने किसी नाग-नरेश के साथ मित्रता करके उसकी राजकुमारी के साथ अपने पुत्र चन्द्रगुप्त-द्वितीय का विवाह कर दिया।

वाकाटकों के साथ विवाह-सम्बन्ध—पूना-ताम्रपत्र से विदित होता है कि इसी कुबेरनागा से उत्पन्न अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने वाकाटक-नरेश पृथ्वीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन-द्वितीय के साथ कर दिया। निश्चित रूप से यह एक कूटनीतिक विवाह था। चन्द्रगुप्त-द्वितीय शक-राज्य पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। उसके इस कार्य में पड़ोसी वाकाटक-राज्य चन्द्रगुप्त को शकों के विरुद्ध सहायता दे सकता था।[2] यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पृथ्वीषेण ने चन्द्रगुप्त-द्वितीय को किसी प्रकार की सहायता दी थी अथवा नहीं, परन्तु इस विवाह-सम्बन्ध से भविष्य में गुप्त-वंश को लाभ अवश्य पहुँचा।

---

1 गृहेषु मुक्तिा बहुपुत्रपौत्र-सङ्क्रामिणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा।

2 ' the Vakataka Maharaja occupied a geographical position in which he could be of much service or disservice to the northen invader of the dominions of the Saka Satraps of Gujarat and Saurashtra
—Smith, JRAS, 1914 p 324

रुद्रसेन-द्वितीय ने केवल ५ वर्ष (३८५–३९० ई०) तक राज्य किया। उस समय उसके दोनों पुत्र दिवाकरसेन और दामोदरसेन अल्पायु थे। अतः प्रभावती ने अपने पुत्रों की सरक्षिका के रूप में कुछ काल तक राज्य किया। इस काल में प्रभावती को अपने पिता चन्द्रगुप्त-द्वितीय से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली। रुद्रसेन द्वितीय और प्रभावतीगुप्त के शासन-काल में वाकाटक-राज्य पर गुप्तों का बड़ा प्रभाव रहा—

(१) रुद्रसेन-द्वितीय ने अपना वंशानुगत शैव धर्म को छोड़ दिया। उसने गुप्तों का वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया।

(२) विवाह के पश्चात भी प्रभावती अपने पितृगोत्र को ही धारण करती रही।

(३) सम्भवतः चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने अपनी पुत्री की सहायता करने के लिये कुछ गुप्त-पदाधिकारी भी वाकाटक-राज्य में भेजे थे। यही कारण है कि प्रभावती के पूना-ताम्रपत्र में गुप्त-लिपि का प्रयोग हुआ है।[1]

(४) प्रभावती गुप्ता ने अपने अभिलेखों में अपने पति की वंशावली न देकर अपने पिता की वंशावली दी है।

कदम्बों के साथ विवाह-सम्बन्ध—इस समय कुन्तल (महाराष्ट्र का दक्षिणी एव मैसूर का उत्तरी भाग) पर कदम्ब-वंश का राज्य था। तालगुण्ड-अभिलेख से प्रकट होता है कि कदम्ब-नरेश काकुस्थवर्मन ने अपनी पुत्रियों का विवाह गुप्त आदि राजवंशो में किया था। डा० सरकार का मत है कि काकुस्थ वर्मन ने अपनी एक पुत्री का विवाह वाकाटक-नरेश नरेन्द्रसेन से किया था और अपनी दूसरी पुत्री का विवाह सम्भवत चन्द्रगुप्त-द्वितीय के किसी पुत्र अथवा पौत्र के साथ किया था।[2]

कुछ साहित्यिक आधारों पर भी गुप्तों और कदम्बों का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। क्षेमेन्द्र की 'औचित्य-विचार-चर्चा' से प्रकट होता है कि कालिदास ने 'कुन्तलेश्वर-दौत्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इससे यह प्रकट होता है कि कालिदास किसी समय कुन्तल-राज्य में दूत बन कर गये थे। क्षेमेन्द्र ने कालिदास का एक श्लोक भी उद्धृत किया है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कुन्तल-राज्य का शासन वास्तव में चन्द्रगुप्त-द्वितीय ही चला रहा था।[3] पूर्ववर्ती भोज के शृंगार-प्रकाश का भी कथन है कि कुन्तल-नरेश ने अपने राज्य का भार

---

1 They were drafted by a Gupta officer, imported from Pataliputra.
—Altekar, NHIP, p. 112, fn.1

2 Katkusthavarman's another daughter, was actually given in marriage to a Gupta prince of Pataliputra, who was possibly, a son or grandson of ChandraGupta II or Kumara-Gupta I
—The Successors of the Satavahanas.

३ इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम्।

चन्द्रगुप्त द्वितीय पर डाल दिया था और स्वय भोग-विलास में लिप्त था।[1] कुन्तल-नरेश का तात्पर्य कदम्ब-नरेश से है।

शक-विजय—यह आश्चर्य की बात है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय की विजय का उल्लेख किसी गुप्त-अभिलेख में नही हुआ है। परन्तु इसका प्रमाण अन्य साक्ष्यो से मिलता है—

(१) उदयगिरि पर्वत पर चन्द्रगुप्त-द्वितीय के सामन्त सनकानीक महाराज के एक दान का उल्लेख है। इसकी तिथि ८२ गुप्त सवत् अर्थात, ४०१ ई० है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शक-राज्य पर आक्रमण करने के लिये पूर्वी मालवा को आधार बनाया गया होगा और इस युद्ध-योजना मे स्थानीय सामन्त सनकानीक महाराज का भी हाथ होगा।

(२) ९३ गुप्त सवत् (४१२ ई०) का एक अभिलेख सांची में मिला है। इसमे चन्द्रगुप्त-द्वितीय के सेनापति आम्रकार्द्दव द्वारा सांची के बौद्ध विहार को दिये गये एक दान का वर्णन है। इसमें आम्रकार्द्दव की अनेक युद्धों में विजयो का भी उल्लेख है।[2] सम्भवतः सेनापति आम्रकार्द्दव चन्द्रगुप्त-द्वितीय के सैनिक अभियान के सम्बन्ध मे ही इस प्रदेश में आया होगा।

(३) एक अन्य उदयगिरि गुहा-लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्धमन्त्री वीरसेन शाब का उल्लेख करता है जो सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने के लिये निकले हुए अपने स्वामी के साथ इस प्रदेश में आया था।[3]

एक ही प्रदेश में सामन्त, सेनापति, युद्धमन्त्री और सम्राट् का होना यह सकेत देता है कि चन्द्रगुप्त ने शक-राज्य पर आक्रमण करने की बड़ी तैयारी की थी और उसने अपने साम्राज्य के बड़े-बड़े पदाधिकारियों को पूर्वी मालवा में एकत्र किया था।[4] इन अभिलेखों में एक की तिथि ८२ गुप्त सवत है और दूसरे की ९३ गुप्त सवत। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि शकों के विरुद्ध चन्द्रगुप्त-द्वितीय का अभियान दीर्घकालीन था।[5]

(४) पश्चिमी भारत में शक-वश का अन्तिम नरेश रुद्रसिह तृतीय था। उसके पश्चात हम यहाँ किसी भी शक-नरेश का नाम नही सुनते। यह नरेश चन्द्रगुप्त-द्वितीय का समकालीन था। इसकी मुद्राओं पर अन्तिम तिथि ३१ मिलती है। इस तिथि में इकाई की सख्या विलुप्त हो गई है। वह ० और ९ के बीच में

---

1 असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि पिबति मधुसुगन्ध्यान्याननानि प्रियाणां त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः

2 अनेकसमरावाप्तविजययशःपताकः।

3 कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।

4 'the emperor Chandragupta II assembled at or near Vidisa in east Malwa many of his ministers, generals and feudatories...
—PHAI, p. 555

5 'protracted affair'—
—NHIP, p. 167

कोई भी संख्या हो सकती है। इस आधार पर रुद्रसिंह तृतीय के शासन की अन्तिम तिथि ३१० से ३१९ के बीच रक्खी जा सकती है। यह शक-संवत की तिथि है जो ३८८ ई० और ३९७ ई० के बीच होगी।

(५) शक-विजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक मुद्राओं के अनुकरण पर अपनी चाँदी की मुद्रायें चलाईं। इन मुद्राओं पर उसकी सर्वप्रथम तिथि ९ गुप्त संवत मिलती है। इसमें इकाई की संख्या विलुप्त हो गई है जो ० और ९ के बीच में कोई संख्या रही होगी। इस प्रकार इस प्रदेश में चन्द्रगुप्त की सर्वप्रथम तिथि ९० गुप्त संवत और ९९ गुप्त संवत के बीच रक्खी जा सकती है। ये तिथियाँ ४०९ ई० और ४१८ ई० के बराबर हुईं।

(६) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सिंह शैली की मुद्रायें चलाईं। इनमें वह सिंह का शिकार करते हुए दिखाया गया है। इन मुद्राओं पर उसकी उपाधि 'सिंहविक्रम' मिलती है। इनसे सम्भवतः उसकी शक-नरेश रुद्रसिंह-तृतीय पर विजय का संकेत मिलता है। गुजरात और सौराष्ट्र में सिंह मिलता है। अतः यह भी अनुमान किया जाता है कि सिंह शैली की मुद्रायें इन प्रदेशों की विजय की स्मृति में निर्मित कराई गई थीं।

(७) भारतीय जनश्रुति चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'शकारि' (शकों का शत्रु) बताती है। इस विरुद से भी उसकी शक विजय का बोध होता है।

विजय की तिथि—उपर्युक्त जो तिथियाँ दी गई हैं उनके आधार पर चन्द्रगुप्त की शक विजय ३८८ ई० और ४१८ ई० के बीच रक्खी जा सकती है। परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ४१२ ई० तक शासन किया था। अतः शक विजय ४१२ ई० के पूर्व ही हुई होगी।

मिहरौली स्तम्भ लेख का चन्द्र

दिल्ली के मिहरौली में एक लौह स्तम्भ पर एक अभिलेख खुदा हुआ है जो निम्नलिखित सूचना देता है—

(१) चन्द्र नामक एक राजा था।

(२) उसने अपने भुजबल से अधिराज्य की स्थापना की।[1]

(३) उसका शासन दीर्घकालीन (सुचिर) था।

(४) वंग-युद्ध में उसने सम्मिलित रूप से आये हुए शत्रुओं को भगा दिया।[2]

(५) युद्ध में सिन्धु नदी के सात मुखों को पार करके उसने वाह्लिकों को पराजित किया।[3]

---

1 प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ

2 यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा, शत्रून समेत्यागतान् वंगेष्वाहववर्तिनोभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।

3 तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः।

(६) उसके शौर्य-समीर से आज भी दक्षिणी समुद्र सुगन्धित है।[1]

(७) जिस समय यह अभिलेख उत्कीर्ण कराया गया था, उस समय तक वह राजा मर चुका था।[2]

(८) राजा वैष्णव धर्मावलम्बी था।[3]

(९) उसने विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णु भगवान् का ध्वज स्थापित किया।[4]

समीकरण

चन्द्रगुप्त मौर्य—श्री एच० सी० सेठ[5] के मतानुसार चन्द्र नामक यह राजा चन्द्रगुप्त मौर्य था, क्योंकि चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने भुजबल से राज्य प्राप्त किया था और उसका हिन्दूकुश तक विस्तार किया था। दक्षिण भारत का भी कुछ भाग अवश्य उसके अधीन था। उसका शासन दीर्घकालीन था।

परन्तु अनेक आधारों पर इस मत का खण्डन किया जा सकता है—

(१) किसी भी साक्ष्य से यह सिद्ध नहीं होता कि चन्द्रगुप्त मौर्य वैष्णव था। अपने जीवन के अन्तिम चरण में वह जैन हो गया था।

(२) मिहरौली स्तम्भ-लेख की लिपि मौर्य-काल के बहुत बाद की है।

कनिष्क—किसी समय डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार[6] का विश्वास था कि चन्द्र नामक राजा कनिष्क था। यह मत विशेष रूप से एक खोतानी पाण्डुलिपि के ऊपर निर्भर है जिसमें कनिष्क को चन्द्र-कनिष्क कहा गया है। पुन कनिष्क के राज्य में वाह्लिक (बैक्ट्रिया) था और उसने दीर्घकाल तक शासन किया था।

परन्तु इस मत के विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) किसी भी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता कि कनिष्क ने बंगाल जीता था।

(२) इसी प्रकार उसने दक्षिणी भारत की भी विजय न की थी।

(३) वह बौद्ध था, वैष्णव नहीं।

(४) मिहरौली स्तम्भ-लेख की लिपि कुषाणों से बाद की है।

कुछ समय बाद स्वय डॉ० मजूमदार ने ही अपने इस मत का परित्याग कर दिया।[7]

---

1 यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः।

2 खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां
मूर्त्या कर्म्मजितावनिं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्नाद्याप्युत्सृजति
प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषः क्षितौ।

3 विष्णौ मतिम्।

4 प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः।

5 JIH, XXVI, pp. 177ff.

6 JRASB, Letters, IX, 1943, pp. 179 ff,

7 Ancient India, 1952, p. 246

चन्द्रवर्मन्—महोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री[1] के मतानुसार चन्द्र पुष्करण का राजा चन्द्रवर्मन् था। इसका प्रमुख आधार तीन पक्तियों का एक अभिलेख है जो पश्चिमी बंगाल के बाँकुरा जिले में सुसुनिआ पर्वत पर उत्कीर्ण है। इसमें पुष्करणाधिपति महाराज चन्द्रवर्मन का उल्लेख है। यह राजा महाराज सिंहवर्मन् का पुत्र था। यह राजा भी वैष्णव था। इस मत के अनुसार पुष्करण राजस्थान के जोधपुर में स्थित पोखरन था।

शास्त्री जी का मत था कि यह चन्द्रवर्मन वास्तव में दशपुर के वर्मन-वंश में उत्पन्न हुआ था। ४६१ मालव सवत (४०३ ई०) के मन्दसोर-अभिलेख में जयवर्मन, सिंहवर्मन् और नरवर्मन् नामक तीन राजाओं के नाम मिलते हैं। इनमें से सिंहवर्मन् चन्द्रवर्मन् का पिता था जिसका नाम सुसुनिआ-अभिलेख में भी मिलता है।

परन्तु यह मत नितान्त असगत है—

(१) जोधपुर-स्थित पोखरन के साथ पुष्करण का समीकरण सन्देहपूर्ण है। पोखर्न नामक एक स्थान पश्चिमी बगाल में भी है। इसी के पास सुसुनिया पर्वत है। सम्भव है कि पुष्करण यही हो। इस प्रकार चन्द्रवर्मन् पश्चिमी बंगाल का कोई स्थानीय शासक रहा होगा।

(२) पुष्करण के चन्द्रवर्मन् का सम्बन्ध दशपुर के राजाओं के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। दशपुर के किसी भी अभिलेख में चन्द्रवर्मन् का नाम नही आता। इन अभिलेखों में पुष्करण का भी कोई उल्लेख नही मिलता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन्दसोर का सिंहवर्मन् सुसुनिआ अभिलेख के सिंहवर्मन् (चन्द्रवर्मन् का पिता) से भिन्न व्यक्ति था।

(३) पुष्करण ने कोई भी ऐसा दिग्विजयी नरेश उत्पन्न नही किया था जो सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपना साम्राज्य उत्पन्न करता।

(४) सुसुनिआ-अभिलेख में न तो मिहरौली का उल्लेख है और न मिहरौली-अभिलेख में सुसुनिआ अथवा पुष्करण का।

(५) सुसुनिआ-अभिलेख का चन्द्रवर्मन् केवल 'महाराज' था, जबकि मिहरौली का चन्द्र 'अधिराज'।

(६) इस बात का कोई प्रमाण नही कि चन्द्रवर्मन् ने सिन्धु के सात मुखों को पार कर वाह्लीक जीता हो।

चन्द्रांश नाग—डॉ० रायचौधरी मिहरौली-अभिलेख के चन्द्र का समीकरण

---

1 EI, XII, p. 315

नाग-वंश के सबसे बड़े शासक चन्द्रांश के साथ सम्भव बताते हैं।[1] इस नरेश का उल्लेख पुराणों में हुआ है।[2]

परन्तु किसी भी साक्ष्य से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि चन्द्रांश नामक किसी राजा ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की थी।

चन्द्रगुप्त-प्रथम--डॉ० आर० जी० बसाक चन्द्र का समीकरण गुप्त-वंश के चन्द्रगुप्त-प्रथम के साथ करते हैं। इस मत को निम्नलिखित आधारों पर अस्वीकृत किया जा सकता है—

(१) इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मिहरौली-प्रदेश चन्द्रगुप्त-प्रथम के अधीन था।

(२) सिन्धु नदी के सात मुखों को पार करके वाह्लिक-प्रदेश को जीतने की बात भी उसके पक्ष में सार्थक नहीं होती।

(३) दक्षिणी भारत से उसका कोई सम्बन्ध नही था।

(४) उसका शासन 'सुचिर' था, इस बात का भी प्रमाण नहीं है।

(५) इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि वह वैष्णव धर्मावलम्बी था।

चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य--अधिकाश विद्वान् चन्द्र का समीकरण चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य के साथ करते है। इनमें विशेष उल्लेखनीय है डॉ० जायसवाल[3], डॉ० अल्तेकर[4], डॉ० डाडेकर[5], डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी[6], डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[7], डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार[8] आदि।

इस समीकरण के पक्ष मे अनेक बातें कही जा सकती है—

(१) चन्द्रगुप्त-द्वितीय की ताम्र-मुद्राओं पर उसका नाम केवल चन्द्र मिलता है।

(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय निःसन्देह वैष्णव था। गुप्त-अभिलेखों में उसे 'परम-भागवत' कहा गया है।

---

1 "The greatest of the Naga Kings was perhaps Chandramsa, 'the second Nakhavant,' whose name reminds us of the great king Chandra of the Delhi Iron Pillar inscription. It is by no means clear that the two are identical. But if Chandra preceded the rise of he Gupta empire, it is natural to seek reference to him in the Puranic texts..., —PHAI, p. 481

2 भोगी भविष्यते राजा नृपो नाग कुलोद्वहः सदाचन्द्रस्तु चन्द्रांशो द्वितीयो नखवांस्तथा।
—Dynasties of the Kali Age p.49

3 JBORS, XVIII, pp.31 ff

4 NHIP, p. 21

5 A Hist. of the Guptas, pp. 27-28

6 The Gupta Empire, pp. 68 ff.

7 Matya Purana, a study, p. 229

8 JRASB, Letters V, pp. 413 ft.

(३) रामगुप्त के निर्बल शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य की शोचनीय अवस्था हो गई थी। उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने अपने भुजबल से उसे फिर स्थापित किया और उसकी सीमाओं का विस्तार किया।

(४) उसका शासन सुचिर था।

(५) भारत का पश्चिमोत्तर प्रदेश निश्चित रूप से उसके अधीन था। मथुरा में सर्वप्रथम उसी का एक स्तम्भ-लेख मिला है जिसकी तिथि ६१ गुप्त संवत् (३८० ई०) है। उसकी कुछ ताम्र-मुद्रायें दक्षिणी-पूर्वी पंजाब में मिली हैं।

(६) बंगाल का समतट-प्रदेश समुद्रगुप्त के अधीन था। सम्भव है कि रामगुप्त के शासन-काल में उसने स्वतन्त्रता घोषित कर दी हो और उसे पुनः अपने अधिकार में करने के लिये चन्द्रगुप्त ने बंगाल में युद्ध किया हो। रघुवंश में कालिदास ने रघु की विजय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसने वंगों को पराजित करके गंगा की धाराओं के बीच के प्रदेश में अपने जय-स्तम्भ गड़वाये।[1] सम्भव है कि इस वर्णन को लिखते समय कालिदास की दृष्टि में चन्द्रगुप्त-द्वितीय विक्रमादित्य की विजय रही हो। यहाँ यह बात ध्यान रखने के योग्य है कि 'गंगास्रोतान्तरेषु' का अर्थ भागीरथी और पद्मा (गंगा की दो धारायें) नदियों के बीच का प्रदेश हो सकता है। यह समतट-प्रदेश समझा जा सकता है।

इसके विरुद्ध प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने मिहरौली-अभिलेख के वंग को बलूचिस्तान के मकरान-तट पर माना है।[2]

(७) 'वाह्लिक' शब्द विवादास्पद है। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार[3] और डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार[4] इसका अर्थ बैक्ट्रिया मानते है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की बैक्ट्रिया-विजय को सिद्ध करने के लिये रघुवंश में वर्णित रघुविजय का साक्ष्य भी प्रस्तुत किया जाता है। इसके अनुसार पारसीकों को जीतने के लिये रघु ने स्थल-मार्ग से प्रस्थान किया और वह वक्षु तक जा पहुँचा।[5]

इसके विरुद्ध डॉ० डी० आर० भण्डारकर तथा डॉ० बसाक आदि विद्वान् वाह्लिकों को पंजाब में मानते हैं। 'बाह्लीक' शब्द से नदियों के प्रदेश पंजाब का बोध होता है।

इसी प्रकार सिन्धु के 'सप्तमुखानि' के विषय में भी मतभेद है। साधारणतया 'सप्तमुख' से सात नदियों का बोध होता है। ये हैं पंजाब की पाँच नदियाँ और काबुल एवं कुनार। इन्हें पार करने के लिये पंजाब में जाना पड़ेगा जहाँ से बैक्ट्रिया को मार्ग जाता है।

---

1 वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्
निचखान जयस्तम्भान् गंगास्रोतान्तरेषु सः।

2 Mirashi Felicitation Volume, pp. 355 ff,

3 JRASB, Letters IX, pp. 179 ff.

4 P. V. Kane Volume, Art. No. 64

5 पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना (तथा) वंक्षुतीरविचेष्टनैः।

कभी-कभी 'सप्त मुखानि' से सिन्धु-डेल्टा का अर्थ लगाया जाता है। इस पर रुद्रदामन-प्रथम के समय से शकों का अधिकार था। सम्भव है कि गुजरात और काठियावाड की विजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त इस प्रदेश में आया हो और यहाँ से होते हुए पजाब गया हो।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि मिहरौली-स्तम्भ-लेख का आशय चन्द्रगुप्त की पजाब-विजय से है, अथवा बैक्ट्रिया-विजय से।

(८) मिहरौली-अभिलेख का कथन है कि चन्द्र के वीर्यानिल (वीरता की वायु) से दक्षिणी समुद्र 'अब भी' सुगन्धित है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह पक्ति राजकुमार के रूप में चन्द्रगुप्त द्वारा अपने पिता समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ-विजय में दी गई सहायता की ओर सकेत करती है।

दक्षिण मे चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने वाकाटक-राज्य एव कदम्ब-राज्य में अपना प्रभाव विस्तृत किया था। हो सकता है कि यह पक्ति उसके इसी प्रभाव की ओर सकेत करती हो।

कभी-कभी यह आपत्ति की जाती है कि यदि मिहरौली-अभिलेख का चन्द्र चन्द्रगुप्त-द्वितीय था तो उसने अपने इस लेख में अपनी वशावली और उपाधियो को उत्कीर्ण क्यो नही कराया? इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि चन्द्रगुप्त मिहरौली एक सम्राट अथवा विजेता के रूप मे नही गया था। वह वहाँ एक भक्त के रूप मे गया था। अत उसने विनीत व्यक्ति के रूप मे अपनी राजकीय परम्परा के आडम्बर का व्यक्त नही करना चाहा।

तिथि—मिहरौली स्तम्भ-लेख में कोई तिथि नही है, परन्तु उसकी लिपि निश्चित रूप से गुप्तकालीन है। फ्लीट महोदय इसकी लिपि को समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख के समान बताते है।[1] दानी महोदय इसे पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ की बताते हैं।[2]

मथुरा मे चद्रगुप्त-द्वितीय का ६१ तिथि का एक स्तम्भ-लेख मिला है। इस आधार पर डॉ० भण्डारकर ने यह माना था कि मथुरा प्रदेश को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुषाणो से जीता था।[3] परन्तु यह मत नितान्त असगत है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मथुरा के नाग-वश को समुद्रगुप्त ने पराजित किया था और मथुरा-प्रदेश को अपने साम्राज्य मे मिला लिया था।

राज्य-विस्तार—मिहरौली अभिलेख और ताम्र-मुद्राओ से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कम से कम पजाब तक अवश्य थी। फाह्यान के वर्णन से प्रकट होता है कि मध्य देश (उत्तर प्रदेश) उसके

1 Corpus, III, p. 140

2 Indian Palaeography, pp. 144-5

3 'This is but another indication of Mathura and the surrounding region being wrested from the Kushanas for he first time by Chandra Gupta II.' —Ep. Ind. XXI, p. 3.

साम्राज्य में था। पूर्व में वह बंगाल तक विस्तृत था।समुद्रगुप्त द्वारा अधीन किया हुआ बंगाल का डवाक (ढाका) प्रदेश भी उसके अधीन होगा। यही बात कामरूप (आसाम) के विषय में भी मानी जा सकती है।[1] बसाढ़ में उसके पुत्र एवं गवर्नर गोविन्दगुप्त की सील मिली है। इससे बिहार भी उसके अधीन सिद्ध होता है। दक्षिण पश्चिम में सिन्धु-डेल्टा, गुजरात और काठियावाड पर उसका अधिकार था। दक्षिण के वाकाटक एवं कदम्ब वंश उसके प्रभाव-क्षेत्र में थे। उत्तर में उसका साम्राज्य कश्मीर की दक्षिणी सीमा को छूता था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त के समय गुप्त-वंश एक अखिल भारतीय शक्ति बन गया।[2]

राजधानी—इस साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। फाह्यान ने इसे मध्य देश का सबसे बड़ा नगर बताया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शक-विजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपनी दूसरी राजधानी उज्जैन में स्थापित की थी। कुन्तल की जनश्रुति उसे 'पाटलिपुरवराधीश्वर और 'उज्जयिनी पुरवराधीश्वर', दोनों उपाधियो से पुकारती है।

अश्वमेध—श्री जे० रत्नाकर ने नगवा (वाराणसी) में एक पत्थर का घोडा पाया है। इस पर 'चन्द्रगु' लिखा हुआ मिलता है। उनके अनुसार यह घोड़ा चन्द्रगुप्त-द्वितीय के अश्वमेध का प्रमाण प्रस्तुत करता है।[3] परन्तु यह साक्ष्य सन्दिग्ध है।

सामन्त—साक्ष्यों से चन्द्रगुप्त-द्वितीय के कुछ सामन्तों के नाम ज्ञात होते हैं। ये सामन्त उसके साम्राज्य के विभिन्न भागो मे राज्य कर रहे थे—

(१): गोविन्दगुप्त—ब्लाख ने बसाढ़ के उत्खनन में अनेक राजमुद्राओं का पता लगाया। इनमें एक राजमुद्रा पर महाराज गोविन्दगुप्त का नाम मिलता है। इसे महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (द्वितीय) और महादेवी ध्रुवस्वामिनी का पुत्र बताया गया है। इससे प्रकट होता है कि गोविन्तगुप्त अपने पिता चन्द्रगुप्त के अधीन तीर-भक्ति प्रान्त का गवर्नर था।

(२) स्वामिदास—६७ (३८६ ई०) तिथि के इन्दौर ताम्रपत्र में स्वामिदास का नाम मिलता है।[4] इसे बल्ख का शासक कहा गया है। सम्भवतः बल्ख मध्य भारत में था और वहाँ स्वामिदास चन्द्रगुप्त का गवर्नर था।

(३) विश्वामित्र स्वामी—डॉ० भण्डारकर ने बेसनगर में एक राजमुद्रा प्राप्त की थी। इस पर महाराज श्री विश्वामित्र स्वामी का नाम मिलता है।[5] सम्भवतः यह भी चन्द्रगुप्त-द्वितीय का सामन्त था।

---

1 D. C. Sircar, Classical Age, p. 90.

2 'The Guptas were thus practically an all-India power towards the end of the reign of Chandra Gupta II'. —Altekar

3 IHQ, III, p. 719.

4 Ep. Ind. XV, p. 289, ABORI, XXV, p. 159

5 ASIR, 1914-15, p. 81

(४) सनकानीक—८२ तिथि (४०१ ई०) के उदयगिरि-गुहालेख से चन्द्रगुप्त-द्वितीय के एक अन्य गवर्नर का नाम विदित होता है। यह था महाराज सनकानीक। इसके पिता का नाम महाराज विष्णुदास और पितामह का नाम महाराज छगलग। इससे प्रकट होता है कि सनकानीक-वंश तीन पीढ़ियों से सामन्त-पद पर कार्य कर रहा था।

(५) त्रिकमल—६४ तिथि (३८३ ई०) का गया-अभिलेख मिला है। इसमें महाराज त्रिकमल नामक एक सामन्त का उल्लेख है।

धार्मिक नीति—चन्द्रगप्त-द्वितीय वैष्णव धर्मावलम्बी था। उसकी मुद्राओं और गुप्त-अभिलेखों में उसे 'परमभागवत' कहा गया है। मिहरौली-स्तम्भ-लेख में उसे स्पष्ट रूप से वैष्णव के रूप में प्रदर्शित किया है। उसने 'विष्णुपाद' नामक पर्वत पर विष्णुध्वज स्थापित किया था।

फिर भी चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने सहिष्णु धार्मिक नीति का पालन किया। उसने न अपने व्यक्तिगत धर्म को दूसरो पर लादने की चेष्टा की और न धार्मिक आधार पर किसी के साथ भेदभाव किया। राज्य के पद सभी के लिये समान रूप से खुले हुए थे। उदयगिरि-गुहालेख से विदित होता है कि उसका युद्ध-मन्त्री वीरसेन शाव शैव था। उदयगिरि में उसने शम्भु भगवान् को एक गुहा अर्पित की थी। साँची-अभिलेख से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त का सेनापति आम्रकार्द्दव बौद्ध था। उसने साँची के बौद्ध विहार को प्रतिदिन ५ भिक्षुओं को भोजन कराने तथा रत्नगृह में दीप जलाने के लिये २५ दीनार और एक गाँव दान दिया था।

फाह्यान के विवरण से भी यही सिद्ध होता है कि देश में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता था और जनता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने इष्ट देवों की उपासना करती थी।

शासन-काल—मथुरा-स्तम्भ-लेख से चन्द्रगुप्त-द्वितीय के शासन की प्रथम तिथि ६१ गुप्त सवत् अर्थात् ३८० ज्ञात होती है। उसी लेख से यह भी ज्ञात होता है कि यह चन्द्रगुप्त के शासन के पाँचवें वर्ष की तिथि है। दूसरे शब्दों में चन्द्रगुप्त कम से कम ३७५ ईसवी में सिंहासनासीन हुआ था।

उसके शासन की अन्तिम तिथि ९३ गुप्त संवत् साँची-अभिलेख से प्रकट होती है। इससे प्रकट होता है कि उसने कम से कम ४१२ ई० तक अवश्य राज्य किया।

उसके पुत्र एव उत्तराधिकारी कुमारगुप्त-प्रथम की प्रथम तिथि ९६ गुप्त संवत् अर्थात् ४१५ ई० बिलसद-अभिलेख से प्रकट होती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय के शासन का अन्त ४१२ ई० और ४१५ ई० के बीच कभी हुआ होगा।

अध्याय ८

कुमारगुप्त-प्रथम

शासन-काल—कुमारगुप्त-प्रथम की सर्वप्रथम तिथि बिलसद-अभिलेख से प्राप्त होती है। यह है ९६ गुप्त सवत् अर्थात् ४१५ ई०। सम्भव है कि कुमारगुप्त इस तिथि के दो-तीन वर्ष पूर्व ही सिंहासनासीन हो गया हो, क्योंकि उसके पिता चन्द्रगुप्त की अन्तिम तिथि साँची अभिलेख मे ९३ गुप्त सवत् अथवा ४१२ ई० है। उसके शासन की अन्तिम तिथि १३६ गुप्त सवत् अथवा ४५५ ई० उसकी चाँदी की मुद्राओं से प्राप्त होती है। इस प्रकार कुमारगुप्त-प्रथम ने लगभग ४० वर्ष तक राज्य किया।

गोविन्दगुप्त—गुप्त-अभिलेखो में कुमारगुप्त-प्रथम को चन्द्रगुप्त-द्वितीय और ध्रुवदेवी का पुत्र बताया गया है। परन्तु वैशाली राजमुद्रा से उसके एक अन्य पुत्र गोविन्दगुप्त का भी पता चलता है।[1] वैशाली राजमुद्रा के अतिरिक्त गोविन्दगुप्त का उल्लेख ५२४ मालव सवत् (४६६ ई०) के मन्दसोर-अभिलेख में भी हुआ है। यह अभिलेख सूचित करता है कि गोविन्दगुप्त ने सामन्त-नरेशों की कीर्ति का अपहरण कर लिया था और उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करवाई थी। इसमे यह भी कहा गया है कि वसुधाधिप (इन्द्र) गोविन्दगुप्त की शक्ति को देखकर शकाकुल हो गया था

अब प्रश्न यह उठता है कि गुप्त-इतिहास में गोविन्दगुप्त की स्थिति क्या थी।

सर्वप्रथम डॉ० भण्डारकर ने यह मत प्रतिपादित किया था कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसके दो पुत्रों—कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त—में सम्भवत. सिंहासन के लिये युद्ध हुआ था।[2] डॉ० रायचौधरी भी गोविन्दगुप्त को कुमारगुप्त का विरोधी भाई मानते हैं।[3] श्री जगन्नाथ ने भी इसी मत का समर्थन किया है और कहा है कि वैशाली की राजमुद्रा पर गोविन्दगुप्त की माता के रूप में ध्रुव-स्वामिनी का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि गोविन्दगुप्त ही चन्द्रगुप्त-द्वितीय का बड़ा पुत्र और युवराज था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वही सिंहासनासीन हुआ। चन्द्रगुप्त-द्वितीय की अन्तिम तिथि ४१२ ई० है और कुमारगुप्त-प्रथम की प्रथम तिथि ४१५ ई०। यह तीन वर्षों का अन्तराल भी यही सिद्ध करता है कि चन्द्रगुप्त की मृत्यु के तत्काल पश्चात् कुमारगुप्त राजा न बना था। वास्तव में इन तीन वर्षों में गोविन्दगुप्त ने राज्य किया था। ४१५ ई० में गोविन्दगुप्त की मृत्यु अथवा पराजय के पश्चात् कुमारगुप्त-प्रथम ने सिंहासन प्राप्त किया।[4]

---

1 महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त-पत्नी महाराज श्रीगोविन्द गुप्तमाता महादेवी ध्रुवस्वामिनी।

2 IC, XI, p. 231

3 PHAI, p. 566, fn. 1

4 IHQ, XXII, pp. 286 ff

परन्तु यह मत काल्पनिक है। गोविन्दगुप्त और कुमारगुप्त दोनों को ही भिन्न-भिन्न अभिलेखों में ध्रुवदेवी का पुत्र कहा गया है। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि गोविन्दगुप्त बड़ा था, अथवा चन्द्रगुप्त का युवराज था। वैशाली राजमुद्रा के आधार पर अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि गोविन्दगुप्त वैशाली में चन्द्रगुप्त-द्वितीय का गवर्नर था।

यह आवश्यक अथवा सम्भव नहीं है कि किसी राजा के राजकाल के प्रारम्भिक और अन्तिम दोनों वर्ष के अभिलेख मिल जायें। ४१२ और ४१५ ईसवी के बीच में न चन्द्रगुप्त-द्वितीय का शासन था और न कुमारगुप्त का, यह नहीं कहा जा सकता। यह तीन वर्षों का काल गोविन्दगुप्त का शासन-काल था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। गोविन्दगुप्त की न कोई मुद्रा मिली है और न सम्राट् के रूप में कोई अभिलेख। गुप्त-वंशावली में भी उसका नाम नहीं आता। अतः उसे एक स्वतन्त्र गुप्त सम्राट् नहीं माना जा सकता।

रही मन्दसोर अभिलेख की बात, तो उससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि गोविन्द गुप्त एक स्वतन्त्र सम्राट् था। उसके अधीन अनेक सामन्त थे, यह कथन उसके सम्राट्-पद को सिद्ध नहीं करता। जैसा कि डा० दिनेशचन्द्र सरकार ने कहा है, गवर्नर के अधीन भी अनेक छोटे-छोटे सामन्त हो सकते हैं।[1] उदाहरण के लिये गुप्त-नरेश बुधगुप्त का सामन्त सुरश्मिचन्द्र था और सुरश्मिचन्द्र का अधीन सामन्त मातृविष्णु था। कुछ विद्वानों ने वसुधाधिप (इन्द्र) का समीकरण कुमारगुप्त प्रथम के साथ किया है जो गोविन्द की शक्ति से शकाकुल था। इस समीकरण का आधार यह भी है कि कुमारगुप्त-प्रथम ने अपनी मुद्राओं पर 'श्री महेन्द्र' की उपाधि उत्कीर्ण कराई थी और महेन्द्र तथा इन्द्र समानार्थक हैं।[2] यह समीकरण भी एकमात्र कल्पना पर निर्भर है। गोविन्द की शक्ति से इन्द्र भी शकाकुल हो गया था, इस प्रकार के कथन का शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना चाहिए। यह केवल काव्यात्मक वर्णन है।

४३५ ई० के तुमाइ अभिलेख के आधार पर श्री जगन्नाथ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुमारगुप्त ने शस्त्र-बल से गोविन्दगुप्त के हाथ से सिंहासन छीना था। उनके अनुसार तुमाइ-अभिलेख का कथन है कि कुमारगुप्त बलात् अधिकार में की गई भार्या की भाँति पृथ्वी की रक्षा कर रहा था। परन्तु 'उपगुह्य' का सामान्य अर्थ 'आलिंगन करके' होता है, 'बलात अधिकार में करके' नहीं।[3] इस परिस्थिति में तुमाइ-अभिलेख से कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त के बीच गृहयुद्ध सिद्ध नहीं होता। कुछ समय पश्चात् स्वयं भण्डारकर ने इस मत का परित्याग कर दिया और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि गोविन्दगुप्त और कुमारगुप्त एक ही व्यक्ति के दो नाम थे।[4] परन्तु इस मत का कोई भी प्रमाण नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यही प्रकट होता है कि गोविन्दगुप्त एक गवर्नर था। वैशाली राजमुद्रा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पहले वह अपने पिता चन्द्रगुप्त

---

1 IHQ, XXIV, pp. 72 ff.

2 Catalogue of Gupta Coins by Allan, pp. 61. ff.

3 यथा—'आर्यौहीत्युपगुह्य . . . . .
—प्रयाग-स्तम्भ-लेख

4 EI, XIX, App. 7

द्वितीय की अधीनता में वैशाली का गवर्नर था। चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् जब कुमारगुप्त-प्रथम सिंहासनासीन हुआ तो गोविन्दगुप्त मालवा का गवर्नर बनाया गया। ४९३ मालव सवत् (४३५ ई०) का एक अन्य अभिलेख भी मन्दसोर में मिला है। इससे विदित होता है कि कुमारगुप्त पृथ्वी पर राज्य कर रहा था और बन्धुवर्मन् उसके अधीन मालवा में सामन्त शासक था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मालवा में गोविन्दगुप्त की नियुक्ति ४३५ ई० के पश्चात् की गई होगी। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार[1] और डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार[2] आदि विद्वान् गोविन्दगुप्त को मालवा का गवर्नर ही मानते हैं।

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि मन्दसोर के उपर्युक्त दोनों अभिलेखों में गुप्त संवत् का प्रयोग नहीं किया गया है। ये मालव सवत् में हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मालवा गुप्त साम्राज्य के बाहर था। मालव सवत् का प्रयोग स्थानीय परम्परा की रक्षा के लिये किया गया होगा। गोविन्दगुप्त वाले मन्दसोर-अभिलेख में गुप्त-सम्राट् का भी नामोल्लेख नहीं है। यह विशेष परिस्थिति का परिणाम था। गोविन्दगुप्त सम्राट् का एक अनुभवी पुत्र था। गुप्त-साम्राज्य में उसकी विशेष प्रतिष्ठा थी। अतः अभिलेखक ने यह आवश्यक नहीं समझा कि उसकी पराधीनता प्रदर्शित करने के लिये सम्राट् का नाम भी उत्कीर्ण करे।

अभिलेख और मुद्रायें—कुमारगुप्त-प्रथम के कम से कम तेरह अभिलेख मिले हैं। ये उसके साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में पाये गये हैं। इसलिये इनसे उसके साम्राज्य की सीमायें निश्चित करने में सहायता मिलती है। कुछ से उसके शासन-काल की तिथियों और कुछ से उसके सामन्तों के नामों का ज्ञान होता है। परन्तु इन अभिलेखों में उसकी किसी विजय, उसके किसी युद्ध अथवा किसी अन्य महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्तिम कुछ वर्षों को छोड़कर कुमारगुप्त का शासन-काल शान्तिपूर्ण रहा। परन्तु डॉ० राखलदास बनर्जी के इस कथन का कोई साक्ष्य नहीं है कि कुमारगुप्त एक निर्बल शासक था।[3]

उसका शासन-काल समृद्धिपूर्ण भी था। यही कारण है कि उसने बड़ी संख्या में मुद्रायें चलायीं। बयाना-मुद्राभाण्ड में केवल कुमारगुप्त की ही ६२३ मुद्रायें मिली हैं। इनमें से कुछ मुद्रायें बिल्कुल नई शैली की हैं। इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण है मयूर-शैली की मुद्रा। यह कदाचित् समस्त गुप्त-मुद्राओं में सर्वाधिक सुन्दर है। सर्वप्रथम मध्य प्रदेश में उसने मयूर-शैली की चाँदी की मुद्रायें भी चलाईं।

अश्वमेध—एक स्वर्ण मुद्रा मिली है जिसके अग्रभाग पर अश्व और यूप है। पृष्ठ भाग पर चमरधारिणी राजमहिषी है। इसी ओर 'अश्वमेधमहेन्द्रः' लिखा हुआ है 'महेन्द्र' कुमारगुप्त की उपाधि थी। इसी से डॉ० रायचौधरी और डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी आदि विद्वानों ने इस मुद्रा को कुमारगुप्त की मुद्रा माना है। इस अश्वमेध के पूर्व कुमारगुप्त ने कोई नई विजय की थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

1 IHQ, XXIV, pp. 72 ff.
2 NHIP, p. 174
3 AIG, p. 40

नाम और उपाधियाँ—कुमारगुप्त अनेक नामों से विख्यात था यथा—श्रीमहेन्द्र, अश्वमेधमहेन्द्र, श्रीमहेन्द्रसिंह, सिंहमहेन्द्र, महेन्द्रकुमार, महेन्द्रकर्मा, गुप्त कुलामलचन्द्र, गुप्तकुलव्योमशशी आदि। ह्वेनसांग का शुक्रादित्य यही कुमारगुप्त था, क्योंकि 'शक्र' और 'महेन्द्र' पर्यायवाची शब्द हैं जिनका अर्थ है 'इन्द्र'।

वामन के 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' में चन्द्रगुप्त के एक पुत्र चन्द्रप्रकाश का उल्लेख है। चन्द्रप्रकाश ने बौद्ध विद्वान् वसुमित्र को अपना मन्त्री नियुक्त किया था।

चन्द्रगुप्त और चन्द्रप्रकाश के समीकरण पर विवाद है। एलन महोदय के मतानुसार चन्द्रगुप्त चन्द्रगुप्त-द्वितीय था। अतः उसका पुत्र चन्द्रप्रकाश कुमारगुप्त होगा। कुमारगुप्त के लिये मुद्राओं पर 'गुप्त कुलामलचन्द्र' और 'गुप्त कुल व्योमशशी' उपाधियों का प्रयोग किया गया है जो 'चन्द्र' के अर्थ में है। अतः सम्भव है कि कुमारगुप्त का एक अन्य नाम 'चन्द्रप्रकाश' भी रहा हो। परन्तु डॉ० मजूमदार चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त-प्रथम मानते हैं। इस प्रकार उसका पुत्र चन्द्रप्रकाश समुद्रगुप्त हुआ।

पदाधिकारी—अभिलेखों से कुमारगुप्त के अनेक पदाधिकारियों के नाम ज्ञात होते हैं। घटोत्कचगुप्त एरण-प्रदेश (पूर्वी मालवा) का गवर्नर था। दशपुर (पश्चिमी मालवा) में बन्धुवर्मन् गवर्नर था। पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) चिरातदत्त नामक दूसरे गवर्नर के अधीन था। करमदाण्डे-अभिलेख से प्रकट होता है कि अवध में पृथिवीषेण गवर्नर था।

साम्राज्य-विस्तार—कुमारगुप्त के मन्दसोर-अभिलेख का उल्लेख है कि कुमारगुप्त का शासन सम्पूर्ण पृथ्वी पर था जो चारों समुद्रों से घिरी हुई थी।[1]

विभिन्न साक्ष्यों से कुमारगुप्त के साम्राज्य में निम्नलिखित प्रदेश सिद्ध किये जा सकते हैं—

बंगाल—बंगाल निश्चित रूप से उसके अधीन था। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है—

(१) दामोदरपुर का प्रथम ताम्रपत्र—इसकी तिथि १२४ गुप्त सवत् (४४३ ई०) है। इसमें कुमारगुप्त के गवर्नर चिरातदत्त का नाम मिलता है।

(२) दामोदरपुर का द्वितीय ताम्रपत्र—इसकी तिथि १२८ गुप्त सवत् (४४७ ई०) है। इसमें भी कुमारगुप्त के गवर्नर चिरातदत्त का नाम है।

(३) धनैदह ताम्रपत्र—इसकी तिथि ११३ गुप्त संवत् (४३२ ई०) है। इसमें भी कुमारगुप्त का नाम है।

(४) बैग्राम का ताम्रपत्र—इसकी तिथि १२८ गुप्त सवत (४४७ ई०) है। इसमें कुमारगुप्त का नाम नहीं है। परन्तु तिथि से स्पष्ट हो जाता है कि यह उसी के शासन-काल में उत्कीर्ण कराया गया है।

इन सभी में भू-दान का उल्लेख है।

---

1 चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्। वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति।

पश्चिमी भारत—पश्चिमी भारत के विभिन्न प्रदेशों में उसके अभिलेख और सिक्के मिले हैं।

तुमाइ-अभिलेख से प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा में उसका गवर्नर घटोत्कच-गुप्त राज्य करता था। मन्दसोर-अभिलेख के अनुसार पश्चिमी मालवा में उसका गवर्नर बन्धुवर्मन् था। उसकी मुद्रायें सतारा, अहमदाबाद, जूनागढ़ और वलभी में मिली हैं। इनसे भी उसका अधिकार पश्चिमी भारत पर सिद्ध होता है।

उत्तर प्रदेश—गढ़वा और मनकुवर (प्रयाग जिला) अभिलेख, तथा करम-दाण्डे (फैजाबाद जिला) अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं कि उत्तर प्रदेश उसके अधीन था। एलन महोदय का अनुमान था कि कुमारगुप्त की मयूर-शैली की चाँदी की मुद्रायें गंगाघाटी पर उसका आधिपत्य सूचित करती हैं।

मध्य प्रदेश—यहाँ उसने सर्वप्रथम अपनी चाँदी की मुद्रायें चलाईं। इन पर उसने गरुड के स्थान पर मयूर की आकृति उत्कीर्ण कराई।

कामरूप—गैंडा-शैली की स्वर्ण-मुद्राओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि कामरूप में भी कुमारगुप्त का शासन था, क्योंकि गैंडा विशेष-तया कामरूप (आसाम) में पाया जाता है।[1] परन्तु यह मत नितान्त काल्पनिक है।

दक्षिणापथ—डॉ० रायचौधरी और डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि नर्मदा नदी के दक्षिण का कुछ भाग भी कुमारगुप्त के अधीन था। इसका विशेष आधार कुमारगुप्त की व्याघ्रशैली की मुद्रायें हैं। व्याघ्र नर्मदा नदी के दक्षिण के वनों में मिलता है। नर्मदा नदी के दक्षिण में ही सतारा है जहाँ उसकी मुद्रायें मिली हैं। परन्तु यह मत सन्देहपूर्ण है, क्योंकि मुद्रायें एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच सकती हैं।

शक्तिशाली नरेश—इस प्रकार बहुसंख्यक अभिलेखों, मुद्राओं और विशाल साम्राज्य से प्रकट होता है कि कुमारगुप्त एक शक्तिशाली राजा था और उसने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य की पूर्ण रूप से रक्षा की। गुप्त संवत् १२९ के मन-कुवर-अभिलेख में कुमारगुप्त के लिये 'महाराज' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। इस आधार पर डॉ० फ्लीट का मत था कि कुमारगुप्त इस अभिलेख के समय केवल एक सामन्त रह गया था। परन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कभी-कभी स्वतन्त्र राजाओं ने भी छोटी उपाधियाँ धारण की थीं। पुनः १२८-२९ के दामोदरपुर-ताम्रपत्र में कुमारगुप्त को 'महाराजाधिराज' कहा गया है।

इसी प्रकार डॉ० राखलदास बनर्जी का यह मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुमारगुप्त एक निर्बल राजा था।[2]

धार्मिक सहिष्णुता—कुमारगुप्त वैष्णव धर्मावलम्बी था। मुद्राओं और अभि-

1 IHQ, XXXI, No. 2, pp 175 ff.

2 AIG., p. 40

लेखों में उसे 'परमभागवत' कहा गया है। उसकी अपनी कुछ मुद्राओं पर विष्णु-वाहन गरुड़ की मूर्ति है।

परन्तु वह दूसरे धर्मों के प्रति भी नितान्त सहिष्णु था। सभी धर्मावलम्बी उसके साम्राज्य में सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे।

(१) करमदाण्डे-अभिलेख से प्रकट होता है कि उसका मन्त्री पृथिवीषेण शैव था और उसने एक शिवलिंग की स्थापना कराई थी।

(२) मन्दसोर-अभिलेख के अनुसार पश्चिमी मालवा में उसका गवर्नर बन्धुवर्मा राज्य करता था। इसी गवर्नर के शासनकाल में एक तन्तुवाय-श्रेणी ने दशपुर में एक सूर्य-मन्दिर बनवाया था।

(३) ह्वेनसांग के अनुसार स्वयं कुमारगुप्त (शक्रादित्य) ने नालन्दा में बौद्ध विहार की स्थापना कराई थी।

(४) मनकुवर-अभिलेख के अनुसार बुद्धमित्र नामक एक व्यक्ति ने एक बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना की थी।

(५) बिलसद-अभिलेख ध्रुवशर्मा द्वारा स्वामी महासेन के मन्दिर के निर्माण की सूचना देता है।

(६) उदयगिरि-गुहालेख का कथन है कि शका नामक एक व्यक्ति ने जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक मूर्ति स्थापित कराई थी।

दक्षिण में अभियान—अनेक साक्ष्यों से अनुमान लगाया जा सकता है कि कुमारगुप्त के शासन के अन्तिम काल में गुप्त-साम्राज्य की स्थिति बड़ी संकटपूर्ण और अशान्तिमय हो गई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त ने नर्मदा नदी के दक्षिण में अपना राज्य-विस्तार करने की चेष्टा की थी और प्रारम्भ में उसे कुछ सफलता भी मिली। उसकी कुछ चाँदी की मुद्रायें त्रैकूटक-नरेशों की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। इस आधार पर एलन महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया है कि कुमारगुप्त ने त्रैकूटकों को पराजित करके उनसे दक्षिणी गुजरात छीन लिया था। सतारा जिले में समन्द नामक स्थान पर कुमारगुप्त की १३९५ चाँदी की मुद्रायें मिली हैं। इसी प्रकार बरार में एलिचपुर में उसकी १३ मुद्रायें मिली हैं। इन मुद्राओं से कुमारगुप्त के दक्षिणी अभियान का अनुमान लगाया जा सकता है। डॉ० रायचौधरी के मतानुसार उसकी व्याघ्रशैली की मुद्रायें भी सम्भवतः नर्मदा नदी के दक्षिण में उसके राज्य-विस्तार की सूचना देती हैं।

पुष्यमित्र—परन्तु कुछ समय पश्चात् कुमारगुप्त को पुष्यमित्र नामक एक जाति के आक्रमण का सामना करना पड़ा। इस युद्ध की सूचना हमें भीतरी स्तम्भ-लेख से प्राप्त होती है। इससे प्रकट होता है कि गुप्त-वंश की राजलक्ष्मी विचलित हो गई जिसे स्कन्दगुप्त ने पुनःस्थिर किया। इस कार्य में उसे एक रात पृथ्वी पर

सोकर बितानी पड़ी। उसने पुष्यमित्रों को जीता जो बल और कोष से समृद्ध थे और (उनके) राजा-रूपी पादपीठ पर अपना बायाँ पैर रक्खा।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्यमित्रों का यह आक्रमण कुमारगुप्त के शासन-काल के अन्तिम चरण में हुआ था जबकि वह वृद्ध हो गया था। कुमारगुप्त ने युद्ध का भार राजकुमार स्कन्दगुप्त के ऊपर डाला। युद्ध बड़ा संकटपूर्ण था। उसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि राजकुमार स्कन्दगुप्त को एक रात पृथ्वी पर सोकर व्यतीत करनी पड़ी। परन्तु अन्त में उसकी विजय हुई। परन्तु उसकी विजय के पूर्व ही उसके पिता कुमारगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी।[2]

ये पुष्यमित्र कौन थे, इस बात पर बड़ा मतभेद है—

(१) दिवेकर महोदय ने 'पुष्यमित्र' के स्थान पर 'युध्यमित्र' (युद्ध में शत्रु) पढ़ा है और कहा है कि यहाँ किसी जाति-विशेष का नहीं वरन शत्रुओं का उल्लेख हुआ है।[3] डा० बाशम और डा० छाबडा भी इसी मत को ग्रहण करते हैं।

(२) हर्नले महोदय पुष्यमित्रों को मैत्रिक मानते हैं।

(३) डॉ० राखलदास बनर्जी पुष्यमित्रों को हूण मानते हैं।[4]

(४) एन० के० भट्टसाली महोदय उन्हें कामरूप-नरेश पुष्यवर्मन् के वंशज मानते हैं।

(५) जायसवाल महोदय के अनुसार वे पश्चिमी मालवा में रहते थे। उनका राज्य गणतन्त्रवादी था।

(६) डॉ० स्मिथ उन्हें पश्चिमोत्तर प्रदेश की जाति मानते हैं।

वायु-पुराण से विदित होता है कि पुष्यमित्र जाति नर्मदा नदी के तट पर मेकल-प्रदेश में रहती थी। बालाघाट-ताम्रपत्र के अनुसार वाकाटक-नरेश नरेन्द्रसेन के अधिकार में मेकल प्रदेश भी था। सम्भव है कि पुष्यमित्रों ने वाकाटकों की सहायता से ही गुप्त-साम्राज्य से लोहा लिया हो।

बाण के 'हर्षचरित' का कथन है कि मेकल-नरेश के मन्त्री मगध के किसी राजा को बन्दी बनाकर ले गये थे, परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यह मगध-नरेश कुमारगुप्त था।

१२९ गुप्त-संवत् के मनकुवर-अभिलेख में कुमारगुप्त की उपाधि केवल 'महाराज-श्री' है। इस आधार पर फ्लीट महोदय यह मानते हैं कि कुमारगुप्त अपने शत्रुओं के अधीन हो गया था। परन्तु यह मत भी नितान्त असंगत है, क्योंकि १२८-१२९

---

1 विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।
—भीतरी अभिलेख

2 पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्
तथा
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या
—जूनागढ़ अभिलेख।

3 ABTRI, I, pp. 99 ff.

4 AIG, p. 46.

गुप्त सवत् के दामोदरपुर ताम्रपत्र में कुमारगुप्त के लिये 'महाराजाधिराज' की उपाधि का प्रयोग किया गया है।

अन्ततोगत्वा राजकुमार स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों को पराजित किया। परन्तु उसकी इस विजय के पूर्व ही कुमारगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी।

क्या कुमारगुप्त ने सिंहासन-त्याग किया था?—कथासरित्सागर का कथन है कि महेन्द्रादित्य (कुमारगुप्त) के पुत्र विक्रमादित्य (स्कन्दगुप्त) ने म्लेच्छों को पराजित किया था। तत्पश्चात् महेन्द्रादित्य ने विक्रमादित्य को राज्यभार सौंपकर संन्यास ले लिया।

इसी प्रकार चन्द्रगर्भपरिच्छा का कथन है कि महेन्द्रसेन (कुमारगुप्त) ने अपने पुत्र दुप्रसहहस्त के हाथों में राज्य सौंप कर सन्यास ले लिया था।

कुमारगुप्त की 'अप्रतिघ शैली की एक मुद्रा मिली है जिसके अग्रभाग पर बीच में कुमारगुप्त की मूर्ति है। वह एक धोती धारण किये हुए है। उसके शरीर पर कोई आभूषण नही है। उसके दाहिनी ओर एक नारी और बाईं ओर एक पुरुष वितर्क-मुद्रा में दिखाये गये हैं।

डॉ० अल्तेकर का मत है कि इस दृश्य में कुमारगुप्त सिंहासन-त्याग करते हुए दिखाया गया है और उसकी रानी तथा उसका पुत्र उसे ऐसा न करने के लिये मना रहे हैं।[1]

परन्तु डा० अल्तेकर के मत को विद्वान् स्वीकार नही करते।

1 The Coinage of the Gupta Empire, p. 209

अध्याय ६

स्कन्दगुप्त

शासन-काल—कुमारगुप्त की चाँदी की मुद्राओं के ऊपर उसके शासन की अन्तिम तिथि १३६ गुप्त सवत् (=४५५ ई०) मिलती है। यही तिथि स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्दगुप्त १३६ गुप्त सवत् अर्थात ४५५ ई० में सिंहासनासीन हुआ था।

उसके शासन की अन्तिम तिथि १४८ गुप्त सवत् (=४६७ ई०) थी। यह तिथि गढ़वा अभिलेख और उसकी मुद्राओं पर मिलती है।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुमारगुप्त के शासन के अन्तिम चरण में गुप्त-साम्राज्य को बाह्य शत्रुओं का सामना करना पड़ा। वृद्ध को कुमारगुप्त ने उन शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध-सचालन का भार अपने पुत्र स्कन्दगुप्त दिया।

निम्नलिखित साक्ष्य इन शत्रुओं का उल्लेख करते हैं—

(१) भीतरी अभिलेख—इसका कथन है कि गुप्त-वश की लक्ष्मी विचलित हो गई। उसे स्थायी बनाने के प्रयत्न में स्कन्दगुप्त को एक रात भूमितल पर सोना पड़ा। पुष्यमित्र शक्ति और धन में बड़े सम्पन्न हो गये थे। स्कन्दगुप्त ने उन्हें पराजित किया और पुष्यमित्र-नरेश-रूपी पादपीठ पर अपना बाँया पैर रक्खा।[1]

. . . .

. . . .

पिता की मृत्यु पर वश-लक्ष्मी विचलित हो गई। स्कन्दगुप्त ने अपने भुजबल से शत्रुओं को जीत कर उसे पुनः स्थापित किया और 'विजय प्राप्त हो गई है' ऐसी घोषणा करता हुआ वह हर्षातिरेक से रोती हुई अपनी माता के पास उसी प्रकार गया जिस प्रकार शत्रुओं का बध करके श्रीकृष्ण अपनी माता देवकी के पास गये थे।[2]

. . . .

हूणो के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसकी दो भुजाओ ने पृथ्वी को कँपा दिया।[3]

(२) जूनागढ़-अभिलेख—यह अभिलेख उसके शत्रुओ की तुलना मान और दर्प से अपने फन उठाये हुए सर्पों से करता है और कहता है कि इन सर्पों का दमन करने के लिये स्कन्दगुप्त ने गरुड़रूपी अपने (स्थानीय) प्रतिनिधियों की शक्ति का

---

1 विचलित कुललक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।

2 पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः। जितमिति परितोषान्मातरं सास्त्रनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः।

3 हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।

उपयोग किया।[1] .... पिता के मरने पर उसने अपने शत्रुओं को पराजित किया और सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया।[2]

. . . .

उसका यशगान उन म्लेच्छों के देशों में भी होता था जिनका गर्व समूल नष्ट हो गया था।[3]

(३) कथासरित्सागर—विक्रमादित्य (स्कन्दगुप्त) ने म्लेच्छों को पराजित किया। उसके पिता महेन्द्रादित्य (कुमारगुप्त) ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके सिंहासन त्याग दिया और वाराणसी चला गया।

(४) चन्द्रगर्भपरिपृच्छा—दुप्रसहहस्त ने केवल १२ वर्ष की आयु में यवनों, पल्हिकों और शकुनों को पराजित किया। उसके पिता महेन्द्रसेन ने उसे राजा बना कर सन्यास ले लिया।

डॉ० जयसवाल ने महेन्द्रसेन का समीकरण कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के साथ और दुप्रसहहस्त का समीकरण स्कन्दगुप्त के साथ किया है।

इन आधारों पर स्कन्दगुप्त के निम्नलिखित शत्रुओं के नाम ज्ञात होते हैं—

(१) पुष्यमित्र—इस जाति के विरुद्ध स्कन्दगुप्त के युद्ध का वर्णन पीछे किया जा चुका है।

(२) हूण—अधिकांश विद्वान् जूनागढ़ अभिलेख के म्लेच्छों का समीकरण भीतरी अभिलेख के हूणों के साथ करते हैं। कथासरित्सागर में भी हूणो को म्लेच्छ कहा गया है। चन्द्रगर्भपरिपृच्छा में यवन, पल्हिक और शकुन भी सम्भवतः हूण जाति के आक्रमण का संकेत देती है।

जूनागढ़-अभिलेख में म्लेच्छों की पराजय का उल्लेख है। इस अभिलेख की तिथि १३६ गुप्त सवत् अर्थात् ४५५ ई० है। अतः हूणों की पराजय इस तिथि के पूर्व ही हो गई होगी।

हर्नले महोदय का यह मत स्वीकार नही किया जा सकता कि हूण-आक्रमण स्कन्दगुप्त के शासन-काल में नही हुआ।[4] भीतरी अभिलेख में स्पष्ट रूप से हूणों के विरुद्ध स्कन्दगुप्त के युद्ध का वर्णन है।

स्मिथ महोदय का विश्वास था कि स्कन्दगुप्त को अनेक हूण-आक्रमणों का सामना करना पडा था और अन्त में वह हूणों द्वारा पराजित हुआ था।[5]

परन्तु भीतरी और जूनागढ-अभिलेख न तो अनेक हूण-आक्रमणों का वर्णन

---

1 नरपतिभुजगानां मानदर्पोत्फणानां प्रतिकृतिगरुडाज्ञां निर्विषीं चावकर्ता।
. . . .

2 अपि च जितमेव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य... [अवनिमवनतारिर्यः चकारात्मसंस्थाः पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या।]

3 ...प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवोऽप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।

4 JRAS, 1909, p. 128

5 EHI, p. 328

करते हैं और न स्कन्दगुप्त की पराजय का। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में एक ही हूण-आक्रमण हुआ और वह हूणों को पराजित करने में सफल हुआ।

डॉ० राखलदास बनर्जी के इस कथन का कोई प्रमाण नहीं है कि तीसरे हूण-आक्रमण के विरुद्ध लड़ते हुए मारा गया।[1]

जूनागढ़-अभिलेख से प्रकट होता है कि सौराष्ट्र में गवर्नर नियुक्त करने के पूर्व स्कन्दगुप्त को बड़ा विचार करना पड़ा था।[2] अन्त में उसने इस पद के लिये पर्णदत्त को चुना। स्कन्दगुप्त की इस विशेष चिन्ता को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि सौराष्ट्र-साम्राज्य का चिन्तादायक प्रान्त था और सम्भवतः यही हूण-आक्रमण हुआ था।

मौर्यों ने अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये उत्तरी-पश्चिमी सीमा को विशेष महत्त्व दिया था। उन्होंने न केवल सम्पूर्ण पजाब पर अपना दृढ़ शासन रक्खा, वरन् अपने साम्राज्य को वैज्ञानिक सीमा देने के लिये उसे हिन्दूकुश तक विस्तृत किया। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि साधन-सम्पन्न होते हुए भी गुप्तों ने किसी दृढ़ पश्चिमोत्तर नीति का पालन नहीं किया। हिन्दूकुश की बात तो दूर रही, उन्होंने सिन्धु नदी तक के प्रदेश पर भी सदैव दृढ़ आधिपत्य नहीं रक्खा। अधिक से अधिक पजाब की विदेशी जातियों के साथ उन्होंने मित्रतापूर्ण व्यवहार रक्खा। परिणामतः पश्चिमोत्तर प्रदेश के महत्त्वपूर्ण दर्रे—खैबर और बोलन—अरक्षित रहे और यहीं से आकर हूणों ने मालवा और मध्य-प्रदेश तक आक्रमण किये।[3]

हूणों के विरुद्ध स्कन्दगुप्त की विजय बड़ी महत्त्वपूर्ण थी।[4] यदि वह न होता तो सम्भव था कि हूण सम्पूर्ण उत्तरी भारत को रौंद डालते। सम्भवत. इस विजय

1 AIG, p. 49

2 सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन् संचिन्तयामास बहुप्रकारम्।

3 The Guptas 'did not realise the vital necessity of keeping an effective control over the Panjab and the Khyber pass, if the political integrity of the rest of India was to be maintained. The Guptas showed in this respect less political insight than the Mauryas . . . Had they effectively garrisoned the Khyber pass, the critical battles with the Hunas would have been fought beyond the Indus and not in Malwa and Central India, —Altekar, NHIP, p. 3

4 "If we remember that the cruel devastations of the Hunas had spread from the Danube to the Indus, that their leader Attila, who died in 453 A.D. was able to send 'equal defiance to the courts of Revenna and constantinople,' and that thirty years later they overwhelmed Persia and killed its king, we can well realise the value of the great victory of Skandagupta over them."
—Dr. R.C. Majumdar, VGA, p 164

के कारण ही उसकी कीर्ति देश के बहुत बड़े भाग में फैल गई।[1] इस विजय की स्मृति कथासरित्सागर चन्द्रगर्भपरिपृच्छा, और चान्द्रव्याकरण[2] में भी सुरक्षित है।

नागों से युद्ध ?—जूनागढ़-अभिलेख में स्कन्दगुप्त द्वारा भुजगों के दमन का उल्लेख है।[3] भुजग नाग का पर्यायवाची है। इस आधार पर डॉ० फ्लीट ने यह अनुमान किया है कि सम्भवतः स्कन्दगुप्त ने नागों को भी युद्ध में पराजित किया था।[4]

वाकाटकों से युद्ध ?—बालाघाट-ताम्रपत्र में वाकाटक-नरेश के साम्राज्य में कोसल, मेकल और मालवा सम्मिलित थे।[5] नरेन्द्रसेन का शासन-काल लगभग ४४०-४६० ई० था। इस प्रकार वह स्कन्दगुप्त का समकालीन था। हम जानते हैं कि मालवा गुप्तों के अधीन था। मन्दसोर-अभिलेख के अनुसार यहाँ कुमारगुप्त का सामन्त बन्धुवर्मन् राज्य करता था। फिर बालाघाट-ताम्रपत्र में नरेन्द्रसेन को मालवा का अधिपति कैसे कहा गया है ? डा० डाडेकर का मत है कि नरेन्द्रसेन ने स्कन्दगुप्त की प्रारम्भिक कठिनाइयो से लाभ उठाकर गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया था और स्कन्दगुप्त से मालवा छीन लिया था। परन्तु डॉ० अल्तेकर इस मत को स्वीकार नही करते। वे कहते हैं कि इस समय वाकाटक-वश और बस्तर के नल-वश के बीच शत्रुता थी। अत नरेन्द्रसेन गुप्तों के साथ शत्रुता मोल लेने की बात कभी नही सोच सकता था। डॉ० अल्तेकर का विश्वास है कि गुप्तों के अधीन मालवा के सामन्त ने स्कन्दगुप्त के समय में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी होगी। अपने इस कार्य में विद्रोही सामन्त ने सम्भवत वाकाटकों से भी कुछ सहायता प्राप्त की होगी। इसी सहायता-दान के आधार को लेकर बालाघाट-ताम्रपत्र में नरेन्द्रसेन को मालवा का अधिपति कहने की अतिरंजना की गई है।

मालव सवत् ५२४ (=४६७-६८) के मन्दसोर-अभिलेख मे मालवा के एक अन्य शासक प्रभाकर का नाम आता है। उसके-सेनापति दत्तभट ने एक स्तूप, आराम और कूप बनवाये थे। दत्तभट चन्द्रगुप्त-द्वितीय के पुत्र गोविन्दगुप्त के सेनापति वायरक्षित का पुत्र था। इस अभिलेख का यह भी कथन है कि प्रभाकर ने गुप्तो के शत्रुओ का दमन किया। सम्भवत ये शत्रु मालवा का कोई सामन्त एव उसके सहयोगी थे। कुमारगुप्त-प्रथम के समय मालवा का सामन्त बन्धुवर्मन् था। अनुमानत उसी के किसी वशज ने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह किया होगा। सम्भव है कि उसे वाकाटकों ने भी सहायता दी हो। अन्त में स्कन्दगुप्त ने उसे पराजित करके अपदस्थ कर दिया और मालवा में प्रभाकर को अपना सामन्त बनाया। इस प्रकार मालवा अन्ततोगत्वा स्कन्दगुप्त के अधीन रहा। १३६ गु० स० के जूनागढ़-अभिलेख में उसका साम्राज्य सौराष्ट्र तक विस्तृत बताया गया है।

---

1 चरितममलकीर्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः
—भीतरी अभिलेख

2 अजयत् जर्तो (गुप्तो) हूणान्।

3 नरपतिभुजगानां मानदर्पोत्फणानाम्।

4 कोसलमेकलमालवाधिपतिरभ्यर्चित शासनः।

१४१ गु० सं० के कहौम-अभिलेख और १४६ गु० सं० के इन्दौर ताम्रपत्र से विदित होता है कि जिस समय ये अभिलेख उत्कीर्ण कराये गये उस समय स्कन्दगुप्त के साम्राज्य में शान्ति थी। अतः इस काल में भी मालवा उसके साम्राज्य में ही रहा होगा। काम्बे समुद्र-तट पर प्राप्त उसकी मुद्रायें भी पश्चिमी भारत पर उसका आधिपत्य सिद्ध करती हैं।

वाकाटक-नरेश नरेन्द्रसेन ने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध पुष्यमित्रों और मालवा के विद्रोही गुप्त-सामन्त को सहायता भले ही दी हो, परन्तु स्कन्दगुप्त के साथ उसके प्रत्यक्ष युद्ध का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

उत्तराधिकार का युद्ध—डॉ० मजूमदार का मत है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् स्कन्दगुप्त शान्तिपूर्ण रूप से राज्याधिकारी नहीं हुआ। उसे सिंहासन प्राप्त करने के लिये अपने भाई पुरुगुप्त के साथ युद्ध करना पड़ा। इस उत्तराधिकार-युद्ध के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

(१) भितरी स्तम्भ-लेख और बिहार स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त को कुमारगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी बताया गया है।

भितरी राजमुद्रा में पुरुगुप्त को कुमारगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी बताया गया है।

इनसे स्पष्ट है कि कुमारगुप्त के कम से कम दो पुत्र थे और दोनों ने ही राज्य किया था। पुरुगुप्त को पराजित करके ही स्कन्दगुप्त ने राज्य पाया था।

(२) किसी भी अभिलेख में स्कन्दगुप्त की माता का नाम नहीं दिया गया है। परन्तु भितरी राजमुद्रा में पुरुगुप्त की माता का नाम (अनन्तदेवी) ही नहीं दिया गया है, वरन् उसे महादेवी भी कहा गया है।[1] इससे अनुमान होता है कि स्कन्दगुप्त की माता महादेवी नहीं थी और वह साम्राज्य का वैध उत्तराधिकारी नहीं था। पुरुगुप्त महादेवी का पुत्र होने के कारण कुमारगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी था। भितरी अभिलेख[2] के एक अंश के आधार पर बाशम महोदय का यह मत है कि स्कन्दगुप्त की माता शूद्रा थी और चारणवृन्द की स्तुतियों ने ही उसे आर्यत्व दिया था।[3] यही कारण है कि उसने अपने अभिलेखों में अपनी माता का उल्लेख नहीं किया है। शूद्रापुत्र होने के कारण स्कन्दगुप्त राज्याधिकारी नहीं था।

(३) भितरी अभिलेख का कथन है कि पिता (कुमारगुप्त) की मृत्यु पर गुप्त-वंश की लक्ष्मी विचलित हो गई और अपने भुजबल से शत्रुओं को पराजित करके स्कन्दगुप्त ने उसे पुनः स्थिर किया। डॉ० मजूमदार का मत है कि गुप्तवंश की लक्ष्मी के चचल होने का कारण गृहयुद्ध था।

---

1 महाराजाधिराज कुमार गुप्तस्य पुत्रस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्त-देव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरुगुप्तस्य।

2 गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्यताम्

3 BSOAS, XLVII, pp. 368-69

(४) जूनागढ़-अभिलेख का कथन है कि लक्ष्मी ने समस्त राजपुत्रों का परित्याग करके स्कन्दगुप्त को स्वीकार किया।[1] इससे भी सम्भवतः गृहयुद्ध में स्कन्दगुप्त की विजय का सकेत मिलता है।

(५) स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त ने अपने-अपने अभिलेखों में एक-दूसरे का उल्लेख नहीं किया है। इससे उन दोनों के बीच शत्रुता का अनुमान लगाया जा सकता है।

(६) भितरी अभिलेख में स्कन्दगुप्त के लिये 'तत्पादानुध्यात' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे भी प्रकट होता है कि वह राज्य का वैध अधिकारी न था।

परन्तु डॉ० रायचौधरी आदि अनेक विद्वान् उत्तराधिकार-युद्ध को स्वीकार नहीं करते।[2] इस युद्ध के पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, उनका खण्डन किया जा सकता है—

(१) कुमारगुप्त के स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त दोनों पुत्र थे। ज्येष्ठ होने अथवा पिता द्वारा मनोनीत होने के कारण पहले स्कन्दगुप्त ने राज्य किया। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका भाई पुरुगुप्त राजा बना।

(२) डॉ० रायचौधरी का मत है कि स्कन्दगुप्त की माता का नाम देवकी था जिसका उल्लेख भितरी अभिलेख में हुआ है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भितरी अभिलेख में स्कन्दगुप्त की माता का नाम नही दिया गया है तो भी यह सिद्ध नही होता कि वह महादेवी नही थी। मधुबन और बाँसखेड़ा ताम्रपत्रों में हर्ष की माता यशोमती का नाम नहीं है। इससे यह नही कहा जा सकता कि वह महादेवी नही थी। डॉ० बाशम का यह मत कि स्कन्दगुप्त की माता शूद्रा थी, नितान्त काल्पनिक है। उन्होंने भितरी अभिलेख के अंश का अर्थ गलत लगाया है। उस अंश का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चारण-वृन्द अपने गीतों और स्तुतियों से स्कन्दगुप्त की महत्ता और विशेषता को बढ़ाते थे।

यह सत्य है कि भितरी अभिलेख में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त-द्वितीय और कुमारदेवी की माताओं के नाम तथा उनकी उपाधि 'महादेवी' का उल्लेख है। परन्तु स्कन्दगुप्त की माता का नाम नही है।

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इस अभिलेख में स्कन्दगुप्त के लिये 'महाराजाधिराज' की उपाधि का भी उल्लेख नही है, यद्यपि यह उपाधि चन्द्रगुप्त-प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त-द्वितीय और कुमारगुप्त के लिये मिलती है। तो क्या यह मान लिया जाय कि स्कन्दगुप्त 'महाराजाधिराज' भी न था?'

वास्तव में स्कन्दगुप्त की माता के नाम तथा उसकी उपाधि 'महाराजाधिराज' के अनुल्लेख का एक ही कारण प्रतीत होता है कि भितरी अभिलेख में कुमारगुप्त तक गुप्त-वंशावली गद्य में दी गई है, अत: उसमें सभी ब्यौरा बड़ी सरलता से

---

1 व्यपेत्य सर्वान् मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयां चकार।

2 *PHAI*, pp. 572 ff.

दे दिया गया है। स्कन्दगुप्त-सम्बन्धी विवरण छन्दोबद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशस्तिकार स्कन्दगुप्त की माता का नाम तथा उसकी 'महाराजाधिराज' की उपाधि छन्द के सीमित शब्दों में बाँध नहीं पाया? अतः उसने उन्हें छोड़ दिया।

पुनः गुप्त-वंश में ऐसा कोई नियम नहीं था कि सबसे बड़ी रानी का पुत्र अथवा राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी हो। यदि ऐसा कोई नियम होता तो चन्द्रगुप्त-प्रथम को अपना उत्तराधिकारी चुनने के लिये सभा नहीं करनी पडती।

इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि 'महादेवी' का अर्थ प्रमुख रानी ही होता था। भितरी अभिलेख में चन्द्रगुप्त-द्वितीय की रानी ध्रुवदेवी को महादेवी कहा गया है, जबकि पूना ताम्रपत्र में उसकी दूसरी रानी कुबेरनागा को महादेवी कहा गया है।

(३) गुप्त-वंश की लक्ष्मी के अस्थिर होने का कारण गृहयुद्ध नही, वरन् पुष्यमित्रों आदि के आक्रमण थे।

(४) जूनागढ़-अभिलेख के कथन का अधिक से अधिक यही अर्थ हो सकता है कि समस्त राजकुमारों में स्कन्दगुप्त ही सबसे अधिक योग्य समझा गया और कुमारगुप्त ने उसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया।

(५) गुप्त-परम्परा के अनुसार राजा अपने अभिलेखों में सदैव अपने पिता का ही उल्लेख करता है, भाई का नही। भाई के नाम के अनुल्लेख से शत्रुता सिद्ध नही होती।

(६) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भितरी स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त का विवरण छन्दोबद्ध पद्य में है। अनुमानत प्रशस्तिकार उसमें स्कन्दगुप्त की माता का नाम, उसकी 'महाराजाधिराज' की उपाधि तथा 'तत्पादानुध्यात' आदि ब्यौरा नही दे पाया है। यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि भितरी अभिलेख में 'तत्पादानुध्यात' शब्द घटोत्कच, चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के साथ भी प्रयुक्त नही हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'तत्पादानुध्यात' से उत्तराधिकार भी सिद्ध नही होता। सामन्त शासक भी अपने लिये इस शब्द का प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिये, ८२ गुप्त सवत के उदयगिरि गुहालेख में सनकानीक महाराज ने अपने को चन्द्रगुप्त-द्वितीय का 'तत्पादानुध्यात' कहा है। अत यह शब्द केवल अनुरागसूचक है, उत्तराधिकार-सूचक नही।

कुछ अन्य साक्ष्यों से भी यही विदित होता है कि स्कन्दगुप्त को सिंहासन के लिये किसी से भी युद्ध नही करना पडा था।

(१) आर्यमञ्जुश्री मूलकल्प, कथासरित्सागर और चन्द्रगर्भपरिपृच्छा उत्तराधिकार-युद्ध का उल्लेख नही करते। उनसे यही प्रकट होता है कि कुमारगुप्त के पश्चात स्कन्दगुप्त राजा हुआ।

(२) कुमारगुप्त की मुद्राओं से प्रकट होता है कि उसने १३६ गुप्त सवत् तक राज्य किया। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-अभिलेख की भी यही तिथि है जिससे

प्रकट होता है यह स्कन्दगुप्त के शासन की प्रथम तिथि थी। इस प्रकार कुमारगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त अथवा उत्तराधिकार-युद्ध के लिये कोई अवकाश नही है।

घटोत्कचगुप्त—कुछ साक्ष्यों से घटोत्कचगुप्त नामक एक गुप्त राजकुमार का ज्ञान होता है—

(१) वैशाली में एक राजमुद्रा मिली है जिस पर घटोत्कचगुप्त का नाम मिलता है। यह राजमुद्रा चन्द्रगुप्त-द्वितीय की पत्नी ध्रुवदेवी की राजमुद्रा के साथ मिली है। अत. दोनो के समय के बीच अधिक अन्तर नही होगा।

(२) तुमाइ-अभिलेख (११६ गुप्त संवत्) से प्रकट होता है कि घटोत्कच-गुप्त पूर्वी मालवा का गवर्नर था।

(३) लेनिनग्राड में घटोत्कचगुप्त की एक धनुर्धारी शैली की स्वर्ण-मुद्रा सरक्षित है। स पर उसकी उपाधि क्रमादित्य मिलती है। श्री अजितघोष ने घटोत्कचगुप्त की एक अन्य स्वर्णमुद्रा का पता लगाया है।[1]

इन साक्ष्यो से घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त का पुत्र प्रतीत होता है जिसने वैशाली और पूर्वी मालवा मे कुमारगुप्त के अधीन गवनर के रूप मे शासन किया था। श्री पी० एल० गुप्त का मत है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् घटोत्कचगुप्त ने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। स्वतन्त्र शासक के रूप मे ही उसने अपनी स्वर्ण-मुद्रा चलाई थी।

परन्तु घटोत्कचगुप्त का प्रश्न बडा विवादग्रस्त है। मुद्राओं के घटोत्कचगुप्त को डॉ० सरकार पाचवी शताब्दी के अन्त अथवा छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में रखते हैं।[2] यदि यह सत्य है तो वह स्कन्दगुप्त का समकालीन नही हो सकता। जो भी हो, कम से कम स्कन्दगुप्त और घटोत्कचगुप्त के बीच युद्ध का कोई निश्चित प्रमाण नही है। वैशाली और मालवा दोनो ही स्कन्दगुप्त के साम्राज्य मे थे। अतः उनमें से किसी भी प्रदेश पर स्कन्दगुप्त के समय में घटोत्कचगुप्त का स्वतन्त्र शासन नही हो सकता था।

क्या स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त एक ही व्यक्ति थे?—हर्नले महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया था कि स्कन्दगप्त और पुरुगुप्त एक ही व्यक्ति थे।[3] इस मत का समर्थन भण्डारकर[4] तथा कृष्णदेव[5] महोदयों ने भी किया। इस मत का प्रमुख आधार यही है कि दोनों ने अपने को कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' कहा है। परन्तु इसका यह नहीं है कि दोनों ही कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी थे। यह शब्द केवल सम्मानसूचक है। यदि ये दोनों एक ही व्यक्ति होते तो ये केवल एक ही नाम से अपनी मद्रायें चलाते। गुप्त-इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नही है जबकि किसी राजा ने दो नामों से अपनी मुद्रायें चलाई हों। इसके अतिरिक्त यह उल्लेखनीय

1 JNSI, XXII, pp. 260-61
2 IHQ, XXIV, p. 71
3 JRAS, Pt. I, p. 129
4 IC, IX, pp. 231 ff.
5 EI, XXVI, pt. V, pp. 235 ff.

है कि स्कन्दगुप्त की मुद्राओं पर 'क्रमादित्य' की उपाधि मिलती है और 'विक्रम' की। इससे प्रकट होता है कि वे दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे।

साम्राज्य-विभाजन का मत—डॉ० बसाक का मत है कि कुमारगुप्त की मत्यु के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य दो भागों में विभाजित हो गया। अधिकांश उत्तरी भारत पर क्रमशः स्कन्दगुप्त, सारनाथ-अभिलेख के कुमारगुप्त-द्वितीय, बुधगुप्त और भानुगुप्त ने शासन किया। दक्षिणी बिहार में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त-तृतीय ने शासन किया।[1]

परन्तु यह मत न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। यह नितान्त अस्वाभाविक है कि सौराष्ट्र से मगध तक के विस्तृत साम्राज्य का अधिकारी स्कन्दगुप्त दक्षिणी बिहार में पुरुगुप्त का एक स्वतन्त्र एवं विरोधी राज्य के अस्तित्व को सहन कर लेता।

साम्राज्य-विस्तार—अनेकानेक कठिनाइयों के होते हुए भी स्कन्दगुप्त अपने पैतृक साम्राज्य की रक्षा करने में सफल हुआ। उसका साम्राज्य विशाल था। जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि चतु समुद्रों से घिरी सम्पूर्ण पृथ्वी पर उसने अपना अधिकार कर लिया था।[2]

सम्पूर्ण मध्य देश उसके अधीन था। यहाँ उसके भितरी स्तम्भ-लेख (गाजीपुर जिला, उत्तर प्रदेश), कहौम स्तम्भ-लेख (गोरखपुर जिला, उत्तर प्रदेश) और इन्दौर-ताम्रपत्र (बुलंदशहर जिला, उत्तर प्रदेश) मिले हैं। उसकी गरुड-शैली की मुद्रायें भी मध्यदेश पर उसका आधिपत्य सिद्ध करती हैं। पटना जिले में बिहार स्तम्भ-लेख मिला है। फ्लीट महोदय इसे स्कन्दगुप्त का मानते हैं। अतः बिहार भी उसके अधीन था। बंगाल में उसकी भारी तौल की स्वर्ण-मुद्रायें मिली हैं। जूनागढ़-अभिलेख सौराष्ट्र पर उसके अधिकार को सिद्ध करता है। काठियावाड़ में भी उसकी मुद्रायें मिली हैं। इस प्रकार उसका साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक और बंगाल से सौराष्ट्र तक विस्तृत था।

पदाधिकारी—यह विशाल साम्राज्य अनेक प्रान्तों में बँटा हुआ था और प्रत्येक प्रान्त जिलों में। प्रान्त गोप्ता[3] के अधीन थे और जिला विषयपति के अधीन।

जूनागढ़-अभिलेख से प्रकट होता है कि पर्णदत्त सौराष्ट्र का गोप्ता (गवनर) था। इन्दौर-ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि अन्तर्वेदी (गंगा-यमुना का दोआब) में सर्वनाग उसका विषयपति था। कौशाम्बी से शिवमूर्ति पर उत्कीर्ण एक लेख मिला है। इसकी तिथि १३९ गु० सं० है। सम्भवतः इसमें स्कन्दगुप्त के एक सामन्त महाराज भीमवर्मन का उल्लेख है। डॉ० मजूमदार के अनुसार पश्चिमी मालवा में उसका गवर्नर प्रभाकर था।

विरुद—स्कन्दगुप्त अपने पराक्रम के अनुरूप अनेक विरुदों और नामों से प्रख्यात था—

1 HNEI, pp. 62 ff.

2 चतुरुदधिजलान्तां स्फीत पर्यन्तदेशाम्
अवनिमवनतारिर्यः चकारात्मसंस्थाः

3 सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन्
—जूनागढ़ अभिलेख।

(१) कहौम स्तम्भ-लेख में उसे 'शक्रोपम' कहा गया है।

(२) आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प उसे 'देवराज' कहता है।

(३) जूनागढ़-अभिलेख उसे 'श्रीपरिक्षिप्तवक्षाः' विष्णु के समान बताता है।

(४) कथासरित्सागर में उसे 'विक्रमादित्य' कहा गया है। यह उसकी सबसे लोकप्रिय उपाधि थी। यह उपाधि भितरी अभिलेख और उसकी मुद्राओं पर भी मिलती है। विक्रमादित्य के स्थान पर कभी-कभी उसे क्रमादित्य कहा गया है।

मूल्यांकन—स्कन्दगुप्त की गणना प्राचीन भारत के महान् सम्राटों में होती है। वह बड़ी ही विषम परिस्थिति में सिंहासनासीन हुआ था। वृद्ध पिता के शासन के अन्तिम चरण में ही गुप्त-साम्राज्य पर पुष्यमित्रों का आक्रमण हुआ। यह भी सम्भव है कि इस आक्रमण में वाकाटकों ने पुष्यमित्रों का साथ दिया हो। फ्लीट के अनुसार नाग राजाओं ने भी गुप्तों के आपत्काल में लाभ उठाने की चेष्टा की। परन्तु गुप्त-साम्राज्य पर सबसे अधिक भयकर आक्रमण हूणों का था। इन बाह्य आक्रमणों ने साम्राज्य की सुरक्षा खतरे में डाल दी थी। इसके साथ ही साम्राज्य के कुछ प्रदेशों में विद्रोह भी होने लगे थे। इनमें मालवा का प्रान्त सबसे अधिक कष्टदायक सिद्ध हुआ। स्कन्दगुप्त ने अदम्य पराक्रम और धैर्य का परिचय देते हुए सभी बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं को पराजित किया। इसी से भितरी अभिलेख में उसे गुप्त-वश का महत्त्वपूर्ण वीर (गुप्तवशैकवीरः) कहा गया है। कहौम-अभिलेख में उसे 'शक्रोपम' बताया गया है। बाह्य आक्रमणों से देश, जाति और सस्कृति की रक्षा करने वाले स्कन्दगुप्त के प्रति सारी प्रजा कृतज्ञता का अनुभव करती थी। उसकी यशोगाथा प्रत्येक दिशा में गाई जाती थी।[1] उसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' सार्थक थी।[2]

वह एक महान् विजेता, राष्ट्रोद्धारक, गुप्त-वश की प्रतिष्ठा का सरक्षक और एक सदय शासक था।[3] उसने अपने विशाल साम्राज्य का सगठन किया, उसे अनेक प्रान्तों में विभक्त किया और उनमें योग्य गवर्नर नियुक्त किये। सौराष्ट्र के भौगोलिक एव सैनिक महत्त्व को समझते हुए उसने वहाँ गवर्नर नियुक्त करने में बड़ी सावधानी बरती और बड़े सोच-विचार के पश्चात् पर्णदत्त को वहाँ

---

1 चरितममलकीर्तेः गीयते यस्य शुभ्रं दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः। —भितरी।

2 This heroic achievement that saved his kingdom from the scourge of a cruel barbaric invasion (i.e., Huna invasion) justified the assumption of the title of Vikramaditya by Skandagupta....
—Majumdar, VGA, P. 164

3 'Thus, Skandagupta was a great conqueror, the liberator of the nation, the restorer of the pride of the imperial Guptas and, above all the fountain (head) of a beneovolent administration.

का गवर्नर बनाया।[1] वह सदैव प्रजा की भलाई करने में लगा रहता था[2]। उसके शासन-काल में प्रसिद्ध झील सुदर्शन का बाँध टूट गया था[3], जिससे जनता को बड़ा कष्ट होने लगा। स्कन्दगुप्त के गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने उसकी मरम्मत कराई और उसके तट पर एक विष्णु-मन्दिर बनवाया। उसके राज्य में अधर्मी, दुःखी, दरिद्र, व्यसनी, कदर्य और दण्डीय मनष्य नहीं थे।[4] वह पराजित और दुःखी लागों के प्रति दया का बर्ताव करता था।[5] आर्यमजु-श्रीमूलकल्प में उसे श्रेष्ठ, बुद्धिमान और धर्मात्मा कहा गया ।

स्कन्दगुप्त स्वय वैष्णव था। अभिलेखों में उसे परम भागवत कहा गया है। अपने पिता की स्मृति में उसने भगवान् विष्णु की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी।[6] अपनी मुद्राओं पर उसने लक्ष्मी और गरुड के चित्र अंकित कराये। उसके अधीन सौराष्ट्र के गवनर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने सुदर्शन झील के तट पर विष्णु भगवान् का मन्दिर बनवाया।

उसके राज्य में सभी को धार्मिक स्वतन्त्रता थी। इन्दौर-ताम्रपत्र के अनुसार एक ब्राह्मण देवविष्णु ने सूर्य-मन्दिर में दीप जलाने के लिये दान दिया था। कहौम-अभिलेख से प्रकट होता है कि द्विजों, गुरुओं और यतियों में श्रद्धा रखने वाले मद्र नामक एक व्यक्ति ने जैन तीर्थंकरों की पाँच पाषाण-प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराई थी। इसी अभिलेख से प्रकट होता है कि स्कन्दगुप्त के साम्राज्य में शान्ति थी।[7]

---

1 सर्वेषु मृत्येष्वपि संहितेषु यो मे प्रशिष्यभिखिलान् सुराष्ट्रान् आम् ज्ञात-मेकः खलु पर्णदत्तो भारतस्य तस्योद्वहने समर्थः। —जूनागढ़-अभिलेख

2 सर्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः —जूनागढ़-अभिलेख।

3 ववर्ष तोयं बहुसंततं चिर सुदर्शनं येनं बिभेद चात्वरात्—जूनागढ़ अभिलेख।

4 तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित् धर्मादपेतो मनुजः प्रजासु आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्यो न वा यो भृश-पीडितः स्यात्। —जूनागढ़-अभिलेख।

5 जितेष्वातेषु कृत्वा दयाम्—भितरी अभिलेख।

6 स्वपितुः कीर्ति............ .....कर्त्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणाः—भीतरी अभिलेख

7 स्कन्द गुप्तस्य शान्ते वर्षे ।

अध्याय १०

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी

स्कन्दगुप्त गुप्त-वश का अन्तिम पराक्रमी सम्राट् था। उसके पश्चात् सम्भवतः बुधगुप्त को छोड कर कोई भी ऐसा योग्य शासक न हुआ जो उसके विस्तृत साम्राज्य की रक्षा कर सकता। स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य लगभग एक शताब्दी तक जीवित रहा, परन्तु निश्चित रूप से यह उसका अवनति-काल था। इस काल के अधिकाश साक्ष्य इतने अस्पष्ट और अल्प है कि स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों का निश्चित क्रम भी बताना बडा कठिन है।

पुरुगुप्त—सम्भवत स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र न था। अत उसके पश्चात् ४६७ ई० में उसका भाई पुरुगुप्त सिहासन पर बैठा। हमे इसका ज्ञान भितरी राजमुद्रा से होता है।[1] इसमें महाराजाधिराज पुरुगुप्त को कुमारगुप्त-प्रथम और अनन्त-देवी का पुत्र कहा गया है।

बौद्ध धर्मावलम्बी—इस अभिलेख में पुरुगुप्त के साथ 'परमभागवत' की उपाधि का प्रयोग नही किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह वैष्णव, न था वरन् बौद्ध था। इसकी पुष्टि परमार्थ-लिखित वसुबन्धु की जीवनी से होती है। इसमें अयोध्या के राजा विक्रमादित्य का उल्लेख है। वह बौद्ध था और उसने अपने पुत्र बालादित्य की शिक्षा-दीक्षा के लिये वसुबन्धु को नियुक्त किया था।

हर्नले महोदय और डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने विक्रमादित्य का समीकरण पुरुगुप्त के साथ और उसके पुत्र बालादित्य का समीकरण नरसिहगुप्त के साथ किया है। एलन महोदय के अनुसार पुरुगुप्त की स्वण मुद्राओ पर 'श्रीविक्रम' की उपाधि है।[2] भितरी राजमुद्रा में पुरुगुप्त के पुत्र का नाम नरसिहगुप्त मिलता है। नरसिहगुप्त ने अपनी मुद्राओं पर 'बालादित्य' की उपाधि उत्कीण कराई थी।

पश्चिमी भारत की हानि—स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्तों का कोई भी अभिलेख अथवा सिक्का सौराष्ट्र और पश्चिमी मालवा मे नही मिला है। इससे अनुमान

---

1 महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यामनन्त-देव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीपुरु-गुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीवत्सदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीनरसिंहगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीमती देव्यामुत्पन्नो परम-भागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमार गुप्तः।

2 डॉ० एस० के० सरस्वती इन मुद्राओं को बुधगुप्त की मुद्रायें मानते हैं—I C, I, p. 692.

किया जा सकता है कि ये प्रदेश पुरुगुप्त के समय में गुप्त-साम्राज्य के बाहर निकल गये थे। पुरुगुप्त ने अपना कोई भी अभिलेख उत्कीर्ण नहीं कराया। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका शासन-काल संकटपूर्ण था।

कुछ स्वर्णमुद्रायें मिली हैं जिनके अग्र भाग पर अश्वारोही राजा सिंह का वध करते हुए दिखाया गया है। उनके दाहिनी ओर गरुड़ध्वज है। गोलाकाररूप में '...विजित्य वसुधां दिव जयति' लिखा है।

पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी का चित्र है। नाम 'श्रीप्रकाशादित्य' मिलता है। डॉ० स्मिथ, डॉ० अल्तेकर आदि विद्वानों ने प्रकाशादित्य का समीकरण पुरुगुप्त के साथ किया है।[1]

कुमारगुप्त-द्वितीय—भितरी राजमुद्रा में तीन राजाओं के नाम मिलते हैं—पुरुगुप्त, उसका पुत्र नरसिंहगुप्त और उसका पुत्र कुमारगुप्त।

भितरी राजमुद्रा और सारनाथ बुद्ध प्रतिमा-लेख के कुमारगुप्त—श्री पन्नालाल के अनुसार पुरुगुप्त के पश्चात नरसिंहगुप्त राजा हुआ और नरसिंहगुप्त के पश्चात् कुमारगुप्त।[2] उन्होंने भितरी राजमुद्रा के कुमारगुप्त का समीकरण सारनाथ में प्राप्त एक बुद्ध-प्रतिमा पर उल्लिखित कुमारगुप्त के साथ किया है। इसमे कुमारगुप्त के शासन की तिथि १५४ गु० स० (४७३ ई०) दी गई है।[3] यदि इन दोनों कुमारगुप्तों को एक ही व्यक्ति मानलिया जाय तो फिर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ४६७ ई० (स्कन्दगुप्त की अन्तिम तिथि) और ४७६ ई० (बुधगुप्त की प्रथम तिथि) के बीच के ९ वर्षों के अल्पकाल मे पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और ९ वर्षों के अल्पकाल में पुरुगुप्त को रखना पड़ेगा। यह अत्यन्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। पुनः भितरी राजमुद्रा का कुमारगुप्त वैष्णव था जबकि सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख का कुमारगुप्त बौद्ध। इस कारण भट्टसाली, बसाक आदि विद्वानों ने भितरी राजमुद्रा के कुमारगुप्त और सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख के कुमारगुप्त को भिन्न-भिन्न व्यक्ति माना है।

चीनी लेखों—सि-यु-कि, ह्वेनसाग की जीवनी और शे-किआ-फैंग-चे— से प्रकट होता है कि शक्रादित्य ने नालन्दा विहार की स्थापना की थी। डॉ० सिनहा के मतानुसार यह शक्रादित्य कुमारगुप्त-द्वितीय था।[4]

शासन-काल—ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुगुप्त का शासन ४६७ ई० में प्रारम्भ हुआ और ४७३ ई० अथवा उसके कुछ पहले समाप्त हुआ, क्योंकि सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख के अनुसार ४७३ ई० में कुमारगुप्त-द्वितीय राज्य कर रहा था। उसने ४७६ ई० (बुधगुप्त की प्रथम तिथि) तक राज्य किया।

---

1 EHI, p. 329, Coinage, pp. 284-85

2 Hindustan Review, Jan. 1918, pp. 1 ff.

3 वर्षशते गुप्तानां चतुःपंचाशतोत्तरे भूमिं रक्षति कुमारगुप्ते ।

4 D. K. M., p. 69

मुद्रायें—यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि कुमारगुप्त द्वितीय और पुरुगुप्त का क्या सम्बन्ध था। एलन महोदय ने कुमारगुप्त की मुद्राओं को भिन्नता के आधार पर दो कोटियों में विभक्त किया है।[1] सम्भव है कि एक कोटि की मुद्रायें सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख के कुमारगुप्त-द्वितीय की हों और दूसरी कोटि की मुद्रायें भितरी राजमुद्रा के कुमारगुप्त-तृतीय की हों।[2]

बुधगुप्त—ह्वेनसांग की जीवनी का कथन है कि बुधगुप्त ने अपने पूर्वगामी नरेश से राज्य छीन लिया था। यदि यह कथन सत्य है तो इससे यह कल्पना की जा सकती है कि बुधगुप्त ने कुमारगुप्त-द्वितीय के हाथ से सिंहासन छीना था। हर्नले महोदय ने बुधगुप्त को पूर्वी मालवा का स्थानीय शासक माना था, क्योंकि भितरी राजमुद्रा में उसका नाम नहीं है और उस समय तक उसका एरण-अभिलेख तथा सिक्के पूर्वी मालवा में ही मिले थे।

एलन महोदय भी बुधगुप्त को पूर्वी मालवा का स्थानीय शासक मानते थे, परन्तु उसके विषय में आज तक जो साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं उनके आधार पर सिद्ध हो गया है कि वह गुप्त-सम्राट् था और अवनति-काल के गुप्त-सम्राटों में सबसे अधिक शक्तिशाली था।

उसके अभिलेख—नालन्दा राजमुद्रा से सिद्ध होता है कि बुधगुप्त पुरुगुप्त का पुत्र था। सारनाथ-अभिलेख से उसके शासन की १५७ गु० स० (=४७६ ई०) तिथि मिलती है। इसमें वह 'महाराज' कहा गया है। इस आधार पर डॉ० एन० एन० दासगुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस तिथि तक बुधगुप्त स्वतन्त्र शासक न था। परन्तु यह मत असगत है, क्योंकि इसी अभिलेख में यह भी उल्लिखित है कि बुधगुप्त पृथ्वी पर राज्य कर रहा था, जिसका अर्थ यह है कि वह सर्वसत्ताधारी सम्राट् था।[3] दामोदरपुर ताम्रपत्र में उसे महाराजाधिराज कहा गया है और उसके शासन की १६३ गु० स० (=४८२ ई०) तिथि मिलती है। पहाड़पुर में एक दूसरा ताम्रपत्र मिला है। इसकी तिथि १५९ गु० स० है जो ४७८ ई० के बराबर है। इसमें राजा की उपाधि परमभट्टारक दी गई है, यद्यपि उसका नाम नहीं है।

---

1 'Two varieties may be distinguished in the coins of Narasimhagupta and Kumaragupta II; a small number of class I of good gold with traces of a marginal legend and of a style fairly good for the period, and a Class II of every crude workmanship and base metal some of which seem never to have had a marginal legend.'

2 'the numismatic evidences intead of knowing only one Kumaragupta besides Kumaragupta I prove the existence of two Kumaraguptas who must have been separated from one another by a period of about fifty years?—Sinha DKM, p. 68

3 शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति...।

अनुमानत: यह बुधगुप्त का ही लेख है। इस बगाल-प्रदेश में उसके दो सामन्त—उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त और उपरिमहाराज जयदत्त राज्य करते थे। १६५ गु० स० (=४८४ ई०) के एरण-अभिलेख से प्रकट होता है कि यमुना और नर्मदा के बीच के प्रदेश में बुधगुप्त का सामन्त महाराज सुरश्मिचन्द्र शासन कर रहा था और सुरश्मिचन्द्र की अधीनता में महाराज मातृविष्णु एरण-प्रदेश में शासन कर रहा था।

उसकी मुद्रायें—बुधगुप्त की चांदी की मुद्रायें मिली है जिन पर मयूर की मूर्ति है। डा० एम० के० सरस्वती ने उस धनुर्धारी शैली स्वर्ण-मुद्राओं को बुधगुप्त की मुद्रा कहा है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर 'श्रीविक्रम' लिखा हुआ है। सरस्वती महोदय के अनुसार इस पर लेख 'पुर' नहीं वरन् बुधगुप्त है। 'श्रीविक्रम' विरुदधारी कुछ अन्य मुद्रायें भी हैं। जिन पर कोई नाम नहीं है। डा० अल्तेकर ने इन्हें भी बुधगुप्त की मुद्रायें बताया है।

प्रतापी सम्राट्—इन समस्त साक्ष्यों से प्रकट होता है कि बुधगुप्त वास्तव में एक पराक्रमी सम्राट् था। उसने किसी सीमा तक गुप्त-वंश की विलुप्त गरिमा की पुन स्थापना की।[1]

साम्राज्य-विस्तार उसका साम्राज्य उत्तरी बगाल (पहाडपुर और दामोदरपुर ताम्रपत्रों के अनुसार) से पूर्वी मालवा (एरण अभिलेख के अनुसार) तक विस्तृत था। इसके अन्तर्गत यमुना और नर्मदा के बीच का सम्पूर्ण प्रदेश सम्मिलित था। उसकी चांदी की मयूर-शैली की मुद्रायें भी मध्य प्रदेश पर उसका अधिकार सिद्ध करती हैं।

शासन-काल—सारनाथ-लेख से प्रकट होता है कि बुधगुप्त के शासन की प्रथम तिथि १५७ गु० स० (=४७६ ई०) है। उसके शासन की अन्तिम तिथि १७५ गु० स० (=४९४) उसकी मुद्रा से प्राप्त होती है।

बौद्ध धर्मावलम्बी—चीनी ग्रन्थों—सि-यु-कि, ह्वेनसांग की जीवनी और शे-किआ-फैग- -से प्रकट होता है कि बुद्धगुप्तराज ने नालन्दा विहार को दान दिया था। सम्भवत वह बौद्ध था, क्योंकि उसके किसी भी लेख में उसके लिये 'परमभागवत' की उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया है।

तथागतगुप्त-वैन्यगुप्त—उपर्युक्त चीनी ग्रन्थों से प्रकट होता है कि बुधगुप्त के पश्चात् तथागतगुप्त राजा हुआ।

गुनैधर ताम्रपत्र से एक राजा वैन्यगुप्त का पता चलता है। इसकी तिथि १८८ गु० स० (=५०७ ई०) है। वैन्यगुप्त की नालन्दा में राजमुद्रा मिली है और चीनी साक्ष्यों के अनुसार तथागतगुप्त ने नालन्दा विहार को दान दिया था। इन तथ्यों

1 'it will thus appear that the empire under Budha Gupta recovered its position and prestige after the dark age following the death of Skanda Gupta' —Dr. R. K. Mookerjee, The Gupta Empire; p. 121

के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तथागतगुप्त और वैन्यगुप्त एक ही व्यक्ति थे।

स्वतन्त्र शासक—गुनैघर ताम्रपत्र में वैन्यगुप्त को 'महाराज' कहा गया है। इसके अनुसार इसने बौद्ध विहार को कन्तेडदक में ग्राम-दान किया था। इस अभिलेख में उसके गवर्नर महाराज रुद्रदत्त तथा विषयपति विजयपति के भी नाम मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वह सर्वसत्ताधारी सम्राट् था।

नालन्दा राजमुद्रा में वैन्यगुप्त की उपाधि 'महाराजाधिराज' मिलती है।

मुद्रायें—उसकी एकमात्र धनुर्धारी शैली की मुद्रायें मिली हैं। रैप्सन महोदय ने इन पर 'चन्द्र' पढ़ा था और इस आधार पर इतिहास में चन्द्रगुप्त-तृतीय की कल्पना की गई। परन्तु गुनैघर ताम्रपत्र की प्राप्ति के पश्चात् डॉ० डी० सी० गांगुली ने इन मुद्राओं पर 'वैन्य' पढ़ा। अब अधिकांश विद्वान् इन मुद्राओं को वैन्यगुप्त की ही मुद्रायें बताते हैं। इन मुद्राओं पर उसकी उपाधि 'द्वादशादित्य' मिलती है।

राज्य-विस्तार—वैन्यगुप्त के अभिलेख और मुद्रायें बंगाल में ही मिली हैं। अत: यह कहना कठिन है कि बंगाल के बाहर किन प्रदेशों पर उसका अधिकार था।

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प—आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में एक राजा द्वादश का उल्लेख है। सम्भव है कि यह वैन्यगुप्त द्वादशादित्य ही हो। परन्तु इस ग्रन्थ का यह भी कथन है कि कुछ मास के शासन के पश्चात् यह अपने पिता चन्द्र और पितामह की भाँति मार डाला गया। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन कथनों में कितना सत्य है।

धर्म—नालन्दा राजमुद्रा में वैन्यगुप्त को 'परम भागवत' कहा गया है। उसकी मुद्राओं पर गरुडध्वज का चिह्न भी मिलता है। इनसे सिद्ध होता है कि वह वैष्णव था। परन्तु वह बौद्ध धर्म के प्रति भी उदार था। गुनैघर ताम्रपत्र बौद्ध विहार को दिये गये उसके भूमि-दान का उल्लेख करता है।

भानुगुप्त—१९१ गु० स० (=५१० ई०) के एरण-अभिलेख से प्रकट होता है कि महान् राजा भानगुप्त के साथ गोपराज ने एरण में एक सुमहत् युद्ध किया था। इस युद्ध में गोपराज मारा गया और उसकी पत्नी अपने पति के शव के साथ सती हो गई थी।[1]

भानुगुप्त का अन्य कोई लेख प्राप्त नहीं हुआ है। उसकी कोई मुद्रा भी नहीं मिली है। इस एरण-अभिलेख में भी उसके लिये केवल 'राजा' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। ऐसी परिस्थिति में डॉ० जयसवाल[2] और डॉ० रायचौधरी[3]

---

1 श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो राजा महान् पार्थसमोऽतिशूरः
तेनाथ सार्धंत्विह गोपराजो मित्रानुगत्यार्थकिलानयातः
कृत्वा च युद्धं सुमहत्प्रकाशं स्वर्गं गतो दिव्यनरेन्द्र कल्पः।
भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम्।

2. I H I, pp. 47.53

3. *P H A I*, p. 596

के इस मत को स्वीकार करना कठिन है कि वह एक स्वतन्त्र गुप्त सम्राट था। इन दोनों विद्वानों ने इसका समीकरण ह्वेनसाँग के 'बालादित्य' के साथ किया है। परन्तु ह्वेनसांग का बालादित्य नरसिंहगुप्त प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी मुद्राओं पर 'बालादित्य' की उपाधि मिलती है।

भानुगुप्त गोविन्दगुप्त और घटोत्कचगुप्त की भाँति गुप्त राजकुमार हो सकता है, परन्तु 'राजा' की उपाधि से वह पूर्वी मालवा का गवर्नर प्रतीत होता है। सम्भव है कि यह नरसिंहगुप्त बालादित्य की अधीनता में पूर्वी मालवा में शासन करता था।

नरसिंहगुप्त बालादित्य—भितरी राजमुद्रा से प्रकट होता है कि यह पुरुगुप्त और श्रीवत्सदेवी का पुत्र था। इसके पुत्र का नाम कुमारगुप्त-तृतीय था।

सि-यु-कि, जीवनी और श्रे-किआ-फैंग-चे ने नालन्दा विहार के निर्माण और विकास के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख करते हैं—

पाँच राजाओं ने इसका निर्माण किया . पहला शक्रादित्य थ। . उसने अपना विहार बनवाना प्रारम्भ किया .. दूसरा राजा बुद्धगुप्त था . तीसरा तथागतगुप्त था .चौथा बालादित्य था. पाँचवाँ वज्र था।

नरसिंहगुप्त का समीकरण ह्वेनसाँग के बालादित्य से किया जा सकता है, क्योंकि नरसिंहगुप्त की मुद्राओं पर उसकी उपाधि बालादित्य मिलती है।

कुछ विद्वान् निम्नलिखित आधार पर इस समीकरण का विरोध करते हैं—

(१) नरसिंहगुप्त के पिता का नाम पुरुगुप्त था, जबकि ह्वेनसाग के अनुसार उसका पिता तथागतगुप्त था।

(२) नरसिंहगुप्त का पुत्र कुमारगुप्त-तृतीय था जबकि ह्वेनसांग के अनुसार उसका पुत्र वज्र था। परन्तु इस आपत्ति मे कोई बल नही है, क्योंकि ह्वेनसाग केवल उन राजाओं के नाम देता है जिन्होंने नालन्दा विहार को दान दिए थे। उनके बीच में कुछ और भी राजा हो सकते है जिन्होने नालन्दा विहार को दान न दिया हो। इसके अतिरिक्त वह बालादित्य, तथागतगुप्त और वज्र का सम्बन्ध नही बताता।

परमार्थ ने बसुबन्धु की जीवनी लिखी है। उसमें उसने विक्रमादित्य और उसके पुत्र बालादित्य का वर्णन किया है। एलन महोदय का मत है कि विक्रमादित्य पुरुगुप्त था और बालादित्य उसका पुत्र नरसिंहगुप्त।

मिहिरकुल से युद्ध—ह्वेनसाग के विवरण से प्रकट होता है कि मिहिरकुल ने बालादित्य को अपने अधीन कर लिया था और उसने कर देना स्वीकार कर लिया था। बालादित्य बौद्ध था और मिहिरकुल बौद्ध-विरोधी। मिहिरकुल के बौद्ध-विरोधी कार्य जब असह्य हो गये तो बालादियत्य ने उसे कर देना बन्द कर दिया। मिहिरकुल

ने उस पर आक्रमण किया। प्रारम्भिक असफलता के पश्चात् बालादित्य मिहिर-कुल को बन्दी बनाने में सफल हुआ। वह मिहिरकुल की हत्या करना चाहता था, परन्तु राजमाता के हस्तक्षेप पर उसने उसे मुक्त कर दिया।

यूनानी लेखक कास्मस ने मिहिरकुल का उल्लेख गोल्ल के रूप मे किया है और कहा है कि वह भारतवर्ष का स्वामी था। यह लेख ५३५ ई० के लगभग लिखा गया था। अत इसी तिथि के आसपास प्रारम्भ मे बालादित्य की पराजय और अन्त मे मिहिरकुल की पराजय रक्खी जा सकती है।

बौद्ध—ह्वेनसाग के वर्णन से प्रकट होता है कि नरसिहगुप्त बौद्ध था। इस कथन की पुष्टि परोक्ष रूप से भितरी राजमुद्रा लेख से भी होती है। इसमे नरसिह-गुप्त के लिये 'परमभागवत' की उपाधि का प्रयोग नही किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, परमाथ-कृत बसुबन्धु की जीवनी से प्रकट होता है कि अयोध्या का राजा विक्रमादित्य बसुबन्धु के प्रभाव मे बौद्ध हो गया था और उसने अपने पुत्र बालादित्य की शिक्षा के लिये बसुबन्धु को नियुक्त किया था। जब बालादित्य राजा हुआ तो उसने बसुबन्धु को अपनी राजसभा मे आमन्त्रित किया। अनेक विद्वान् विक्रमादित्य और बालादित्य का समीकरण क्रमश पुरुगुप्त और नरसिहगुप्त के साथ करते है।

ह्वेनसाग का कथन है कि मिहिरकुल को पराजित करने के पश्चात नरसिह-गुप्त ने राजपाट छोड़ दिया और सन्यास ग्रहण कर लिया।

कुमारगुप्त-तृतीय—भितरी राजमुद्रा इसी कुमारगुप्त-तृतीय का अभिलेख है। इससे प्रकट होता है कि यह पुरुगुप्त का पौत्र और नरसिहगुप्त का पुत्र था। इसकी माता का नाम श्रीदेवी था। आर्यमजुश्री-मूलकल्प मे इसे 'कुमाराख्य' कहा गया है।

भितरी राजमुद्रा मे इसे 'परमभागवत' कहा गया है। इस पर गरुड़ का चित्र भी बना हुआ है। अत यह बौद्ध प्रतीत होता है।

वज्र—ह्वेनसाग ने वज्र नामक राजा को बालादित्य के पश्चात रक्खा है। भितरी राजमुद्रा मे कुमारगुप्त-तृतीय नरसिहगुप्त (बालादित्य) के पश्चात् आता है। अत अनुमान किया जा सकता है कि कुमारगुप्त-तृतीय और वज्र एक ही व्यक्ति थे।

डा० रायचौधरी का मत था कि वज्र गुप्त-वश का अन्तिम राजा था। मन्दसोर-अभिलेख के यशोधर्मा ने लौहित्य-प्रदेश तक आक्रमण किया। इस अभियान में उसने वज्र को मार डाला।

विष्णुगुप्त—नालन्दा की एक राजमुद्रा[1] से प्रकट होता है कि विष्णुगुप्त कुमार-गुप्त का पुत्र और नरसिहगुप्त का पौत्र था। कालीघाट मुद्राभाण्ड में उसकी मुद्रायें वैन्यगुप्त, नरसिहगुप्त और कुमारगुप्त की मुद्राओ के साथ मिली हैं। इन समस्त

1 EI, XXVI, p. 235 ff

मुद्राओं की धातु अशुद्ध और कलाहीन है। नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त की मुद्राओं में स्वर्ण ५४% है जबकि विष्णुगुप्त की मुद्राओं में वह केवल ४३% है। कला की दृष्टि से भी विष्णुगुप्त की मुद्रायें नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त की मुद्राओं से हीनतम हैं। मुद्राओं पर विष्णुगुप्त की उपाधि चन्द्रादित्य मिलती है।

यह गुप्त-वंश का अन्तिम राजा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् लगभग ५५० ई० में गुप्त-साम्राज्य का विलोप हो गया।

गुप्त-साम्राज्य का पतन

गुप्त-सम्राटों ने लगभग २७५ ई० से लेकर ५५० ई० तक शासन किया। तत्पश्चात उनके साम्राज्य का विलोप हो गया। गुप्त-साम्राज्य की अवनति स्कन्दगुप्त के शासन के अन्त मे ही प्रारम्भ हो गई थी। इसके अनेक कारण बताये जा सकते है—

(१) **निर्बल उत्तराधिकारी**—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त का काल गुप्त-साम्राज्य की अवनति का काल कहा जा सकता है। इस काल में बुधगुप्त के अतिरिक्त कोई भी ऐसा गुप्त-नरेश नही हुआ, जिसे शक्तिशाली कहा जा सके। ये नरेश न तो दूरस्थ प्रदेशों के सामन्तों को अपने अधीन रख सके और न विदेशी आक्रमणो से अपने साम्राज्य की रक्षा ही कर सके।

(२) **उत्तराधिकार के युद्ध**—गुप्त-वंश में उत्तराधिकार-सम्बन्धी कोई निश्चित नियम न था। परिस्थिति के अनुरूप कभी सिंहासन ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होता था और कभी योग्यतम पुत्र को, चाहे वह छोटा ही क्यों न हो। अत राजसभा में दलबन्दी की सम्भावना सदैव बनी रहती थी। कभी-कभी उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर राजपुत्रों में युद्ध भी हो जाता था। इससे राजशक्ति को बड़ा आघात पहुँचता था। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त-प्रथम के जीवन-काल में ही उत्तराधिकार का प्रश्न विवाद-ग्रस्त बन गया था। इसका निर्णय करने के लिये चन्द्रगुप्त ने राजसभा का अधिवेशन किया। इसने बहुमत से समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी चुना। फिर भी कुछ राजकुमारों ने इस निर्णय को स्वीकार नही किया। परिणामतः उत्तराधिकार का युद्ध हुआ। विरोधी पक्ष का नेता समुद्रगुप्त का भाई काच प्रतीत होता है।

इसी प्रकार सिंहासन के लिये चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की हत्या की। कुछ विद्वानों के अनुसार स्कन्दगुप्त ने भी अपने भाई पुरुगुप्त को पराजित करके ही सिंहासन प्राप्त किया था।

इन उत्तराधिकार-युद्धों तथा तत्सम्बन्धी दलगत नीति ने गुप्त-साम्राज्य को बड़ी हानि पहुँचाई होगी।

(३) **बाह्य आक्रमण**—गुप्त-साम्राज्य को हूणों ने बड़ी हानि पहुँचाई। उनका सर्वप्रथम आक्रमण स्कन्दगुप्त के शासन-काल में हुआ। परन्तु स्कन्दगुप्त ने असीम साहस और शौर्य का परिचय देते हुए हूणों को पराजित किया और गुप्त-साम्राज्य को महाविनाश से बचाया।

परन्तु हूणों का खतरा सदैव के लिये समाप्त न हुआ। तोरमाण के नेतृत्व में उन्होंने ४८४ ई० के आसपास कश्मीर, पंजाब और मालवा पर अधिकार कर लिया। तोरमाण की मृत्यु के पश्चात् मिहिरकुल राजा हुआ। उसने नरसिंहगुप्त बालादित्य को पराजित करके प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। ग्वालियर-अभिलेख से प्रकट होता है कि मध्य भारत भी उसके अधीन था। इन हूण-आक्रमणों ने गुप्त-साम्राज्य के पतन में काफी योग दिया।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, स्कन्दगुप्त के समय पुष्यमित्र नामक जाति ने भी गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया था। इस आक्रमण की भयंकरता का अनुमान इसी बात से होता है कि इस विपत्ति-काल में स्कन्दगुप्त को एक रात पृथ्वी पर सोकर व्यतीत करनी पड़ी। यद्यपि स्कन्दगुप्त पुष्यमित्रों को पराजित करने में सफल हुआ, तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि इस आक्रमण ने गुप्त-साम्राज्य की धन-जन की बड़ी क्षति पहुँचाई होगी।

स्कन्दगुप्त की विपत्तियों से लाभ उठाकर सम्भवतः वाकाटकों ने भी गुप्त-साम्राज्य के प्रति वैर-भाव प्रदर्शित किया। यह अनुमान किया जाता है कि उन्होंने पुष्यमित्रों और मालवा के गवर्नर स्कन्दगुप्त के विरुद्ध सहायता दी होगी। डॉ० डाडेकर तो यहाँ तक कहते है कि वाकाटक-नरेश नरेन्द्रसेन ने कम से कम कुछ समय के लिये मालवा स्कन्दगुप्त से छीन लिया था।

५३२ ई० के लगभग मध्य भारत में यशोधर्मा नामक एक पराक्रमी नरेश का उदय हुआ। इसने ब्रह्मपुत्र से लेकर महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और हिमालय से लेकर पश्चिमी समुद्रतट तक अपना साम्राज्य-विस्तार किया। इस साम्राज्य की स्थापना करते हुए उसने गुप्त-नरेश को अवश्य पराजित किया होगा। यशोधर्मा के समय गुप्त-साम्राज्य केवल मगध और उत्तरी बगाल तक ही सीमित रहा होगा।

निरन्तर युद्ध—गुप्त-सम्राट् साम्राज्यवादी थे। समुद्रगुप्त ने प्रायः सम्पूर्ण भारत की दिग्विजय की। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त-द्वितीय को भी बगाल से बाह्लिक तक युद्ध करने पड़े। पश्चिमी भारत में शक-राज्य का नाश करने में उससे सबसे महत्त्वपूर्ण युद्ध करना पड़ा। इन साम्राज्यवादी युद्धों में गुप्तों को धन-जन की बड़ी हानि उठानी पड़ी होगी।

प्रान्तों की स्वतन्त्रता—अवनति-काल में गुप्त-साम्राज्य के अधीनस्थ प्रान्त शनैः शनैः स्वतन्त्र होने लगे। स्कन्दगुप्त के पश्चात् पश्चिमी भारत गुप्त-साम्राज्य के बाहर निकल गया।

५०२ ई० तक वलभी निश्चित रूप से गुप्त-साम्राज्य के अधीन रहा, क्योंकि यहाँ के मैत्रक शासक ध्रुवसेन-प्रथम को परमभट्टारक गुप्त-नरेश का पादानुध्यात कहा गया है। ध्रुवसेन प्रथम ने ५४५ ई० तक राज्य किया। इसके पश्चात कभी वलभी स्वतन्त्र हो गया।

मध्य प्रदेश में परिव्राजक गुप्तों की अधीनता में राज्य करते थे। ५१८ ई० के बेतूल-अभिलेख और ५२९ ई० के खोह-अभिलेख ताम्रपत्रों में परिव्राजक-नरेश

सङ्क्षोभ को गुप्तों के अधीन प्रदर्शित किया गया है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण बात है कि उनमें गुप्त-सम्राट् का नाम नहीं मिलता। इससे अनुमान किया जाता है कि इस प्रदेश में गुप्तों की सत्ता धीरे-धीरे क्षीण हो रही थी और अन्त में वह विलुप्त हो गई।

परिव्राजक-राज्य की सीमा पर ही उच्चकल्प-राज्य था। इस वंश के नरेशों जयनाथ, सर्वनाथ आदि के ताम्रपत्रों में गुप्त सम्राटों का कोई उल्लेख नहीं है। जयनाथ के खोह-अभिलेख की तिथि ५१३ ई० है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह वंश इस तिथि तक पूर्ण स्वतन्त्र हो गया था या नाममात्र के लिये ही गुप्तों के अधीन था।

गुनैघर ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि १८८ गु० स० अथवा ५०७ ई० में वंग-समतट प्रदेश में गुप्त-सम्राट वैन्यगुप्त का राज्य था।

इसके कुछ समय पश्चात् ही हम इस प्रदेश में गोपचन्द्र, धर्मादित्य और समाचार देव का राज्य पाते हैं। इनका उल्लेख बंगाल के फरीदपुर जिले में प्राप्त चार ताम्रपत्रों और बर्दवान जिले के मल्लसरूल में प्राप्त एक अन्य ताम्रपत्र में इनका उल्लेख हुआ है। इन लेखों मे इन्हें महाराजाधिराज कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह एक स्वतन्त्र राजवंश था और सम्भवतः इसी ने वंग-समतट में गुप्त-आधिपत्य का अन्त किया होगा।

उत्तरी बंगाल में ५४३ ई० के पश्चात गुप्तों का कोई लेख नहीं मिलता। कुछ विद्वानों का मत है कि उत्तरी बंगाल में गुप्त-शासन का अन्त करने वाला व्यक्ति कामरूप-नरेश भूतिवर्मा था। बडगंगा-शिलालेख में इसे भास्करवर्मा का पूर्वज बताया गया है। इस लेख की तिथि २४४ गु० स० अथवा ५६३ ई० है।

५५४ ई० के हरहा-अभिलेख में मौखरी-नरेश महाराजाधिराज ईशानवर्मा की विजयों का उल्लेख है। सम्भव है कि इसने मगध में गुप्तों का अन्त किया हो।

यशोधर्मा का उदय—मन्दसोर अभिलेख से प्रकट होता है कि ५३२ ई० के आसपास मालवा में यशोधर्मा नाम के एक पराक्रमी राजा का उदय हुआ। इसने अनेक प्रदेशों को जीता तथा लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से लेकर महेन्द्र पर्वत (उडीसा) तक तथा हिमालय से लेकर पश्चिमी समुद्र तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस वर्णन से अनुमान किया जा सकता है कि उसने गुप्त सम्राट को भी अपने अधीन कर लिया होगा। सम्भवतः यह गुप्त सम्राट नरसिंहगुप्त बालादित्य रहा होगा। इस प्रकार यशोधर्मा के उदय ने गुप्त-साम्राज्य का अस्त-व्यस्त कर दिया होगा।

कूटनीतिक सम्बन्ध का अभाव—गुप्तों ने अपने साम्राज्य-विस्तार में सैनिक शक्ति के साथ-साथ कूटनीति का भी प्रयोग किया। कूटनीति के अन्तर्गत प्राचीन भारत में समकालीन वंशों के साथ विवाह-सम्बन्धों का बड़ा महत्त्व था। प्राचीन ग्रन्थों में 'कन्या-सन्धि' का वर्णन मिलता है।[1] चन्द्रगुप्त-प्रथम ने तत्कालीन प्रख्यात

1 कन्यासन्धिर्विशेषः दारिकादानपूर्वकः। —कामन्दक

लिच्छवि-वंश की कन्या कुमारदेवी के साथ विवाह करके उस वंश को अपना मित्र बना लिया। यही, नहीं उसने वैशाली राज्य को अपने राज्य में मिलाकर एक साम्राज्य की नीव डाली।

समुद्रगुप्त ने भी इस नीति का अनुसरण किया। उसने कुषाणों, शकों और सिंहल-नरेश आदि के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाये। इन विदेशियों ने 'कन्योपायनदान' द्वारा समुद्रगुप्त को सन्तुष्ट किया। सम्भवतः वाकाटकों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखने की इच्छा से प्रेरित होकर समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय के अवसर पर वाकाटक-राज्य पर आक्रमण नहीं किया था।

समुद्रगुप्त ने नागो को पराजित करने के पश्चात् उन्हें अपना मित्र बनाने की भी चेष्टा की। उसने नागवंशीया कुबेरनागा के साथ अपने पुत्र चन्द्रगुप्त-द्वितीय का विवाह कर दिया।

चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने भी विवाह-सम्बन्धों द्वारा तत्कालीन राजवंशो का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की। उसने कुबेरनागा से उत्पन्न अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटक-राजकुमार रुद्रसेन-द्वितीय के साथ कर दिया। यह विवाह बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। वाकाटको की सहायता से चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने पश्चिमी भारत से शको को निकाला।

अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय के सम्बन्ध कुन्तल-राज्य के कदम्ब-वंश के साथ भी अच्छे थे और सम्भवतः उसने कदम्ब-नरेश काकुस्थवर्मन् की पुत्री के साथ अपने किसी राजकुमार का विवाह कर दिया था।

परन्तु हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय के पश्चात गुप्त-नरेशों ने तत्कालीन राजवंशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाने के लिये उत्साह नहीं दिखाया। परिणामतः सकट-काल मे उन्हें अन्य राजवंशों से कोई सहायता न मिल सकी।

अहिंसावादी बौद्ध नीति का अनुसरण—प्रारम्भिक गुप्त-सम्राट वैष्णव थे। वैष्णव धर्म से अनुप्राणित होकर उन्होंने देश को राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकता प्रदान की थी। शस्त्र और शास्त्र की रक्षा के लिये उन्होंने दण्डनीति का आश्रय लिया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् अनेक गुप्त-नरेशों ने अहिंसात्मक बौद्ध धर्म को अपनाया। चीनी साक्ष्यो से प्रकट होता है। कि शक्रादित्य (कुमारगुप्त-प्रथम) ने नालन्दा मे एक बौद्ध विहार की स्थापना की थी जो आगे चलकर नालन्दा विश्वविद्यालय के रूप मे विकसित हुआ। शक्रादित्य के पश्चात् बुद्धगुप्तराज, तथागतराज, बालादित्यराज, वज्र आदि ने इस विहार को महत्त्वपूर्ण सहायता दी। अन्तिम चरण के अनेक गुप्त-नरेशों के साथ 'परमभागवत' की उपाधि का भी प्रयोग नहीं किया गया है। इससे भी उनके बौद्ध होने का अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। इन बौद्ध धर्मावलम्बी गुप्त-नरेशो ने सैनिक शक्ति की उपेक्षा की हो, यह नितान्त सम्भव है।

आर्थिक क्षति—विशाल साम्राज्य की स्थापना तथा रक्षा के लिये किये गये निरन्तर युद्धो ने गुप्त-राजकोश पर बड़ा भार डाला होगा।

कालान्तर में पश्चिमोत्तर प्रदेश और पश्चिमी प्रदेशों के गुप्त-साम्राज्य से निकल जाने के कारण गुप्तों के हाथ से वे स्थलीय और सामुद्रिक व्यापारिक मार्ग भी निकल गये, जिनसे भारत और बाह्य ससार का सम्बन्ध स्थापित होता था। परिणाम यह हुआ कि गुप्त-साम्राज्य की आर्थिक अवस्था खराब होने लगी। इस असन्तोषजनक आर्थिक अवस्था के संकेत हमें स्कन्दगुप्त के शासन-काल से ही मिलने लगते हैं। उसकी स्वर्ण-मुद्रायें विशुद्ध धातु की न होकर मिश्रित धातु की हैं। उसकी मुद्राओं की सख्या भी कम है। स्वर्ण-मुद्राओं की अपेक्षा स्कन्दगुप्त की चांदी की मुद्रायें अधिक हैं। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों ने भी वर्ण-मुद्रायें बहुत कम चलाईं। यह परिस्थिति आर्थिक दुरवस्था की ओर सकेत करती है।

सामन्तवाद का उदय—समुद्रगुप्त ने अनेक राजाओं को पराजित किया, परन्तु उनके राज्यों का अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया उसने राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार करवाकर तथा उन्हें 'करद' बनाकर छोड दिया। उसकी इस नीति से अनेक सामन्त राज्यों का आविर्भाव हुआ, यद्यपि 'सामन्त' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वैन्यगुप्त के गुनैघर-अभिलेख में हुआ है।

समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के अधीन अनेक सामन्त शासक बडे-बड़े भू-प्रदेशो में शासन करते थे। जब तक केन्द्रीय सत्ता शक्तिशाली रही तब तक ये सामन्त छोटी उपाधियां धारण करते रहे और गुप्त सम्राट के प्रति अपनी अधीनता अथवा स्वामिभक्ति प्रदर्शित करने के लिये अपने अभिलेखों में गुप्त-सम्राट् के नाम तथा गुप्त-सवत् का उल्लेख करते रहे। परन्तु निर्बल गुप्त-नरेशों के शासन-काल मे इन्होंने अपने अधिकार बढा लिये। बुन्देलखण्ड में परिव्राजक-वश गुप्तों के अधीन था। इस वश मे हस्तिन् (१५६-१९८ गु० स०) और सक्षोभ (१९९-२०९ गु० स०) नामक राजाओं के ६ ताम्रपत्र मिले हैं। इनमे गुप्त-सम्राट् का नामोल्लेख नहीं किया गया है। बुन्देलखण्ड में परिव्राजक-राज्य के समीप ही उच्चकल्प-वश का राज्य था। यह वश भी गुप्तों के अधीन शासन करता था। इस वश के ७ ताम्रपत्र मिले है। इनमे इनके दो राजाओं—जयनाथ और सर्वनाथ तथा उनके पूर्वजों—का उल्लेख है। ये लेख भी गुप्त-सम्राट् का नाम नहीं लेते। इसी प्रकार इलाहाबाद जिले और रीवा मे १५८ (गु० स० ?) तिथि के दो ताम्रपत्र मिले है। इनमें उस प्रदेश के महाराज लक्ष्मण का उल्लेख है, परन्तु गुप्त-सम्राट् का उल्लेख नहीं है। अभी तक यह विश्वास किया जाता था कि ४७२ ई० के पश्चात् पश्चिमी मालवा मे गुप्तकालीन कोई अभिलेख नहीं मिला है। परन्तु हाल ही में डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने दो अभिलेख प्रकाशित किये हैं। एक नीमच के समीप छोटी सदरी में मिला है। इसकी तिथि ५४७ (मालव सवत् ?) है। दूसरा अभि-लेख मन्दसोर में मिला है। इसमें कोई तिथि नहीं है। इन दोनों में गुप्त-सम्राट् का नाम नहीं मिलता। स्कन्दगुप्त के अधीन अन्तर्वेदी का शासक अपने

को केवल 'विषयपति' कहता था। परन्तु बुधगुप्त के अधीन एरण का विषयपति अपने को 'महाराज' कहने लगा। सुराष्ट्र में मैत्रक वंश गुप्त के अधीन सामन्त-वंश था। इस वंश का संस्थापक भटार्क और उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी धरसेन सेनापति कहलाते थे। परन्तु धरसेन के उत्तराधिकारी द्रोणसिंह ने 'महाराज' की उपाधि धारण की। इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् सामन्तों की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई, जिससे गुप्तों की केन्द्रीय सत्ता निर्बल हो गई। अन्त में अनेक सामन्त-वंश स्वतन्त्र हो गये।

अध्याय ११

यशोधर्मा और हूण

यशोधर्मा—मन्दसोर के दो अभिलेख मालवा के राजा यशोवर्मा का उल्लेख करते हैं। इनमें एक लेख की तिथि ५८९ विक्रम संवत अर्थात ५३२ ई० है। इस लेख के अनुसार यशोधर्मा ने पूर्वी और उत्तरी भारत के शक्तिशाली राजाओं को परास्त किया था। दूसरे अभिलेख मे तिथि नहीं है, परन्तु इसमें यशोधर्मा के विषय में अनेक तथ्य मिलते हैं।

इसमें कहा गया है कि यशोधर्मा के साम्राज्य में वे प्रदेश भी सम्मिलित थे जिन पर कभी गुप्तों और हूणों का भी अधिकार न रहा था। उसका साम्राज्य पूर्व में लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और हिमालय से लेकर पश्चिमी समुद्र तक विस्तृत था। हूण-नरेश मिहिरकुल उसके चरणों पर अपना शीश झुकाता था। विन्ध्य और पारियात्र के बीच के प्रदेश में यशोधर्मा का सामन्त अभयदत्त शासन करता था।

५३२ ई० के मन्दसोर-अभिलेख में यशोधर्मा को विष्णुवर्धन भी कहा गया है। फ्लीट महोदय का मत था कि ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। वस्तुतः विष्णुवर्धन यशोधर्मा का सामन्त था। परन्तु यह मत नितान्त असंगत है, क्योंकि जहाँ यशोधर्मा को जनेन्द्र कहा गया है वहाँ विष्णुवर्धन को राजाधिराज और परमेश्वर कहा गया है। अतः डॉ० जयसवाल, डॉ० सरकार आदि विद्वानों ने दोनों व्यक्तियों को एक ही व्यक्ति माना है। बिना तिथि वाले दूसरे मन्दसोर-अभिलेख में यशोधर्मा को सम्राट कहा गया है।

तिथि वाले मन्दसोर-अभिलेख में यशोधर्मा को औलिकर-वंशीय कहा गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मन्दसोर-अभिलेख प्रशस्ति हैं इनका और वर्णन काव्यात्मक है। परन्तु इस आधार पर यह कहना कि इन अभिलेखों के कथन पूर्ण रूप से अनैतिहासिक है, असंगत है। जैसा कि डॉ० मजूमदार ने कहा है, सार्वजनिक रूप से यशोधर्मा की सफलताओं का उल्लेख करने वाले इन अभिलेखों में सत्य का अंश अवश्य होगा।[1]

---

1 'Such a general and conventional description of universal conquest (digvijaya) so familiar to us in Sanskrit poetry and royal pras'astis, cannot, of course, be taken at its face value .... .At the same time, such a claim, publicly made, must have some basis in fact and we need hardly doubt that Yasodharman was a great conqueror'.

निश्चित रूप से यशोधर्मा अपने समय का एक महान विजेता था। अभाग्यवश मन्दसोर के दोनों अभिलेखों से यह पता नहीं चलता कि अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना के पूर्व उसे किन-किन राजवशो से युद्ध करना पड़ा था। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार पूर्वी भारत में लौहित्य तक नही किया था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने गुप्त-सम्राट को भी पराजित किया था। सम्भव है कि यह गुप्त-सम्राट नरसिंहगुप्त बालादित्य रहा हो।

मन्दसोर-अभिलेख यशोधर्मा द्वारा अधिकृत ऐसे प्रदेश का उल्लेख करता है जो न तो गुप्तों के अधिकार में रहा था और न हूणों के अधिकार में। सम्भवतः यह वाकाटक-प्रदेश था। ५४० ई० तक वाकाटकों का पतन हो गया था। कदाचित् यशोधर्मा ने उन्हें पराजित किया था।

जिस राजा को यशोधर्मा ने निश्चित रूप से पराजित किया था वह हूण-नरेश मिहिरकुल था।

इस प्रकार यशोधर्मा ने गुप्तों, वाकाटकों और हूणों को पराजित करके अपने साम्राज्य की स्थापना की थी।

एक मन्दसोर-अभिलेख की तिथि ५३२ ई० है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह यशोधर्मा के चरमोत्कर्ष का काल था। ५२८ ई० तक परिव्राजक गुप्तों की अधीनता मे मध्य प्रदेश मे शासन कर रहे थे। अतः इस तिथि के पूर्व यशोधर्मा का मध्य प्रदेश में उदय नही हो सकता। बगाल से प्राप्त एक दामोदरपुर ताम्रपत्र की तिथि २२४ गु० स०, अर्थात ५४३ ई० है। सम्भवत इसमें कुमारगुप्त-तृतीय का उल्लेख है। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि ५४३ ई० तक पूर्वी भारत में यशोधर्मा की सत्ता समाप्त हो गई थी और वहाँ गुप्तो का राज्य था। इन आधारों पर हम यशोधर्मा को ५२८ ई० और ५४३ ई० के बीच रख सकते हैं। इस बात का कोई सकेत नही मिलता कि यशोधर्मा का अन्त कैसे हुआ। परन्तु इतना निश्चित है कि उसके उदय ने गुप्त-साम्राज्य को बडा आघात पहुँचाया था।

हूणों का उत्थान-पतन—चीन के पश्चिम में हूंग-नू जाति रहती थी। अनेक विद्वान हूणो को इसी जाति का मानते हैं। अन्य विद्वानो के मतानुसार हूण हूंग-नू जाति मे नही, वरन एप्थलाइट जाति से सम्बन्धित थे। कुछ विद्वान् एप्थलाइट जाति को यू-ची जाति की शाखा मानते है।

हूणों ने सर्वप्रथम स्कन्दगुप्त के शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है।, स्कन्दगुप्त ने उन्हें पराजित कर दिया। यह घटना ४५५ ई० के आसपास घटित हुई होगी।

कालान्तर मे हूणों के एक योग्य नेता तोरमाण का उदय हुआ। गन्धार से उसने पंजाब पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। ७७८ ई० में लिखित जैन ग्रन्थ कुवलयमाला का कथन है कि तोरमाण समस्त विश्व का स्वामी था और

वह चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित पव्वैया में रहता था। पंजाब में उसकी ताँबे की मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं। कुर-अभिलेख से भी पंजाब पर तोरमाण का अधिकार सिद्ध होता है। इसका कथन है कि राजाधिराज महाराज तोरमाण शाहीजऊब्ल के शासन-काल में राट-सिद्धवृद्धि नामक एक व्यक्ति ने एक बौद्ध विहार बनवाया था। तोरमाण की ताँबे की मुद्रायें पंजाब से यमुना नदी तक मिलती हैं। कौशाम्बी की खुदाई में तोरमाण की दो राजमुद्रायें मिली हैं। एक पर 'तोरमाण' लिखा है और दूसरी पर 'हूणराज'। इन राजमुद्राओं से अनुमान होता है कि तोरमाण ने उत्तर प्रदेश का एक बड़ा भाग भी अपने अधिकार में कर लिया था।

१६५ गु० स० (४८४ ई०) का एरण-अभिलेख मिला है। इससे प्रकट होता है कि महाराज मातृविष्णु एरण-प्रदेश में बुधगुप्त की अधीनता में विषयपति था। इस अभिलेख में उसके भाई धन्यविष्णु का भी नाम मिलता है।

एरण में तोरमाण के शासन-काल के प्रथम वर्ष का एक अन्य अभिलेख मिला है। इसमें प्रकट होता है कि मातृविष्णु की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई धन्यविष्णु ने एक मन्दिर का निर्माण किया था। अभिलेख में तोरमाण को राजाधिराज महाराज शाही जऊब्ल कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ४८४ ई० के पश्चात् धन्यविष्णु ने बुधगुप्त के स्थान पर तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। दूसरे शब्दों में, तोरमाण ने पूर्वी मालवा पर अधिकार कर लिया था।

एरण में एक तीसरा लेख मिला है। इसकी तिथि १९१ गु० स० (५१० ई०) है। इससे विदित होता है कि वीर राजा भानुगुप्त ने एरण में एक सुमहत् युद्ध किया था। इसमें उसका सेनापति गोपराज मारा गया था और उसके शव के साथ उसकी पत्नी सती हो गई थी।[1]

इस अभिलेख में युद्ध के परिणाम का उल्लेख नहीं है। परन्तु डॉ० रायचौधरी और डा० मजूमदार का अनुमान है कि इसमें भानुगुप्त विजयी हुआ था। यदि यह मत ठीक है तो स्पष्ट हो जाता है कि तोरमाण पूर्वी मालवा पर अधिक समय तक अपना अधिकार न रख सका। ५१० ई० में पूर्वी मालवा में हूण-आधिपत्य का अन्त हो गया। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि ५२८ ई० तक परिव्राजक-वंश मध्य प्रदेश में गुप्तों की अधीनता में राज्य कर रहा था।

राजतरंगिणी में भी तोरमाण का उल्लेख हुआ है। वहाँ उसकी मुद्रायें भी मिली हैं।

इन साक्ष्यों से प्रकट होता है कि किसी समय तोरमाण के साम्राज्य में गन्धार, कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश का एक बड़ा भाग तक तथा पूर्वी मालवा सम्मिलित थे।

---

1 श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो राजा महान् पार्थसमोऽतिशूरः।
तेनाथ सार्धन्त्विह गोपराजो मित्रानुगत्यारकिलानुयातः
कृत्वा च युद्धं सुमहत् प्रकाशं स्वर्गं गतो दिव्यनरेन्द्रकल्प-
भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता भार्यावलग्नानगताग्निराशिम्।

इस प्रकार तोरमाण एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने राजाधिराज महाराज शाही जऊब्ल की उपाधि धारण की थी। डॉ० जयसवाल का मत है कि जऊब्ल तोरमाण की ही उपाधि थी। परन्तु ऐसा नहीं है। उरुजगन में प्राप्त दो अभिलेखों में मिहिरकुल के लिये भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह हूणों की उस शाखा का नाम था जिसके राजा तोरमाण और मिहिरकुल थे।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि तोरमाण में धार्मिक कट्टरता न थी। कुर-अभिलेख का कथन है कि उसके शासन-काल में रोट-सिद्ध-वृद्धि नामक एक व्यक्ति ने एक बौद्ध विहार बनवाया था। एरण-अभिलेख से प्रकट होता है कि उसकी अधीनता में शासन करने वाले धन्यविष्णु ने नारायण का मन्दिर बनवाया था। उसकी मुद्राओं पर सूर्य अंकित मिलता है। कुवलयमाला नामक जैन ग्रन्थ से विदित होता है कि तोरमाण अथवा तोरराय जैन धर्म में भी आस्था रखता था।

तोरमाण की मृत्यु सम्भवत: ५११ ई० के आस-पास हुई।

मिहिरकुल—ग्वालियर-अभिलेख से प्रकट होता है कि तोरमाण के पश्चात उसका पुत्र मिहिरकुल राजा हुआ। सुंग-युन नामक एक चीनी राजदूत ५२० ई० में गन्धार आया था। उसने गन्धार के विषय में इस प्रकार लिखा है—

'इस देश को ये-थाज (हूणों) ने नष्ट कर दिया था और बाद को एक तेगिन (राजकुमार) को इस देश का राजा बनाया था। इस घटना को हुए दो पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं। इस राजा का स्वभाव क्रूर और प्रतिशोधपूर्ण था और उसने अत्यधिक बर्बर अत्याचार किए। वह बौध-धर्म में विश्वास नहीं करता, वरन दैत्यों की पूजा करना पसन्द करता था... उसने कि-मिन (कश्मीर) के साथ युद्ध छेड़ा था।..."
सम्भवतः यह गन्धार-नरेश मिहिरकुल था।

कास्मस नामक यूनानी लेखक ने ५३५ ई० और ५४७ ई० के बीच 'क्रिश्चियन टोपोग्राफी' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है—

"भारतवर्ष में, सुदूर उत्तर में, श्वेत हूण रहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि युद्ध में जाते समय (उनका राजा) गोल्ल अपने साथ कम से कम दो हजार हाथी और एक विशाल अश्वारोही दल ले जाता है। वह भारत का स्वामी है और जनता का उत्पीड़न करते हुए वह उन्हें कर देने के लिये विवश करता है।.... फिसन नदी हूण देश से भारत के राज्यों को पृथक करती है।"

इस वर्णन में उल्लिखित गोल्ल मिहिरकुल था। उसका मूल राज्य सिन्धु नदी के पश्चिम में था। परन्तु उसने उत्तरी भारत को भी अपने अधीन कर लिया था।

---

1 JRAS, 1954, pp. 112 ff.

ह्वेनसांग के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि मिहिरकुल ने गुप्त-सम्राट नरसिंह-गुप्त बालादित्य को अपने अधीन करके ही उत्तरी भारत पर अपनी प्रभु-सत्ता स्थापित की थी। इस सम्बन्ध में ह्वेनसांग का वर्णन इस प्रकार है—

"कुछ शताब्दी पूर्व मा-हि-लो-कु-लो (मिहिरकुल) नामक राजा, जिसकी राजधानी यह नगर (शाकल) थी, भारतीयों पर राज्य करता था। ..सब पड़ोसी राज्य उसके अधीन थे। उसने, अपने सम्पूर्ण राज्य में बौद्ध संघ के पूर्ण विनाश की आज्ञा दी थी।"

जब मगध-नरेश बालादित्य ने 'मिहिरकुल के क्रूर दमन और अत्याचारों के विषय में सुना' तो उसने अपने राज्य की सीमाओं की रक्षा का सुदृढ़ प्रबन्ध किया और कर देना बन्द कर दिया।

इस पर मिहिरकुल ने बालादित्य पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का सामना करने में असमर्थ बालादित्य पर्वतों और मरुस्थलों की ओर भाग गया।

अन्त में बालादित्य ने मिहिरकुल का सामना करने का निश्चय किया। उसे सफलता मिली और उसने 'मिहिरकुल को जीवित बन्दी बना लिया।'

बालादित्य मिहिरकुल की हत्या करना चाहता था, परन्तु राजमाता के अनुरोध पर उसने ऐसा न किया और मिहिरकुल को मुक्त कर दिया। मिहिरकुल ने कश्मीर में शरण ली और कुछ समय पश्चात् वहां के राजा को मार कर स्वयं कश्मीर-नरेश बन गया। इसके पश्चात् उसने गन्धार-नरेश को भी मार डाला और गन्धार पर अधिकार कर लिया।

ह्वेनसांग के वर्णन से प्रकट होता है कि किसी समय मिहिरकुल ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना अधिकार कर लिया था और गुप्त-सम्राट् (नरसिंहगुप्त बालादित्य) भी उसे कर देता था। उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। सुंग-युन के अनुसार गन्धार उसके अधीन था। कास्मस सिन्धु नदी को हूण-राज्य की पूर्वी सीमा बताता है। परन्तु यह सीमा मूल हूण-राज्य की ही हो सकती है, क्योंकि तोरमाण और मिहिरकुल दोनों ने ही उत्तरी भारत में अपना राज्य-विस्तार किया था। मिहिरकुल के शासन के १५वें वर्ष के ग्वालियर-अभिलेख से सिद्ध होता है कि मध्यप्रदेश का भी कुछ भाग मिहिरकुल के अधीन था।

मिहिरकुल का विजेता—इस प्रश्न पर मतभेद है कि मिहिरकुल का विजेता कौन था?

(१) ह्वेनसांग के वर्णन से प्रकट होता है कि मिहिरकुल को गुप्त-सम्राट् बालादित्य ने पराजित किया था।

(२) मन्दसोर-अभिलेख का कथन है कि मिहिरकुल को यशोधर्मा ने हराया था।

(३) इन परस्पर-विरोधी कथनों को समझाते हुए स्मिथ महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया था कि नरसिंहगुप्त बालादित्य और यशोधर्मा दोनों ने आपस में एक सन्धि कर ली थी और दोनों ने सम्मिलित रूप से मिहिरकुल को परास्त किया था।

(४) फ्लीट महोदय का मत है कि मिहिरकुल को पूर्व में बालादित्य ने पराजित किया और पश्चिम में यशोधर्मा ने।

इस बात पर भी मतभेद है कि उसे पहले किसने पराजित किया—

(१) हेरास[1] और उनके पश्चात् मजूमदार[2] ने यह मत रक्खा कि मिहिरकुल को पहले यशोधर्मा ने हराया। परन्तु उसे पूर्ण रूप से पराजित करने का कार्य बाद को बालादित्य ने किया।

(२) इसके विरुद्ध रायचौधरी का मत है कि मिहिरकुल पहले बालादित्य द्वारा हराया गया और फिर यशोधर्मा द्वारा[3]।

हम पहले कह चुके हैं कि मालवा में यशोवर्मा का उदय हुआ और उसने अपनी दिग्विजय में गुप्त-नरेश बालादित्य और हूण-नरेश मिहिरकुल दोनों को पराजित किया। दूसरे मन्दसोर-अभिलेख की तिथि ५३२ ई० है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि इस तिथि के पूर्व ही मिहिरकुल यशोधर्मा द्वारा पराजित किया जा चुका होगा।

मन्दसोर-अभिलेख का कथन है कि यशोधर्मा द्वारा पराजित होने के पूर्व मिहिर-ने स्थाणु (शिव भगवान्) के अतिरिक्त अन्य किसी के सामने भी अपना सिर नहीं झुकाया था। इस कथन से यही प्रकट होता है कि मिहिरकुल को सर्वप्रथम यशोवर्मा ने पराजित किया।

इस विजय के कुछ समय पश्चात् यशोवर्मा की मृत्यु हो गई। मिहिरकुल के लिये यह स्वर्ण-अवसर था। उसने अब फिर सिर उठाया और भारतवर्ष पर आक्रमण किया। इस बार उसे सफलता मिली और उसने गुप्त-सम्राट् बालादित्य को पराजित करके उसे कर देने के लिये विवश किया। परन्तु जब उसके अत्याचार बहुत बढ़ गये तो बालादित्य ने उसका विरोध किया, उसे कर देना बन्द कर दिया और कालान्तर में बन्दी बना लिया।

ग्वालियर-अभिलेख से प्रकट होता है कि मिहिरकुल ने कम से कम १५ वर्ष तक राज्य किया था।

वह एक बौद्ध-विरोधी और अत्याचारी शासक था।

(१) सुंग-युन कहता है कि इस राजा का स्वभाव क्रूर और प्रतिशोधात्मक था। वह बौद्ध धर्म में विश्वास न करता था, वरन् दैत्यों की पूजा करता था।

(२) ह्वेनसांग के वर्णन से प्रकट होता है कि मिहिरकुल ने बौद्ध धर्म के विनाश का प्रयत्न किया। उसने १६०० स्तूपों और विहारों को ध्वस्त कर दिया और ९ कोटि बौद्ध उपासकों की हत्या कर दी।

---

1 I. H. Q., III, p. 1 ff

2 NHIP., p. 199 ff.

3 PHAI, p. 596, fn. 3

अन्य साक्ष्यों से प्रकट होता है कि मिहिरकुल शैव था—

(१) मन्दसोर-अभिलेख का उल्लेख है कि यशोवर्मा द्वारा पराजित होने के पूर्व मिहिरकुल ने भगवान स्थाणु (शिव) के अतिरिक्त अन्य किसी के समक्ष अपना शीश न झुकाया था।

(२) मिहिरकुल की कुछ चाँदी की मुद्राओं पर नन्दी और त्रिशूल के चित्र हैं और उन पर 'जयति वृषध्वज' अथवा 'जयति मिहिरकुल' लिखा हुआ है।

(३) राजतरंगिणी का कथन है कि मिहिरकुल ने मिहिरेश्वर (शिव) के मन्दिर की स्थापना की थी।

अध्याय १२

वाकाटक-वंश

उदय-काल—सातवाहन-साम्राज्य के पतन के पश्चात दक्षिणी भारत मे अनेक छोटे-बडे राजवशो का उदय हुआ। इनमे वाकाटक-वश सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस वश का उल्लेख करते हुए दुब्रिमा महोदय कहते है कि 'ईसा की तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक दक्षिणी भारत मे जिन राजवशो का उदय हुआ, उनमे वाकाटक-वश सवश्रेष्ठ था और इसके कार्यों का दक्षिणी भारत की सस्कृति पर गहरा प्रभाव पडा है।[1]

इस वश का उदय किस समय हुआ, इस प्रश्न पर मतभेद है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वाकाटक-नरेशो ने अपने अभिलेखो मे किसी विशेष सवत का प्रयोग नही किया है, वरन अपने-अपने राज्यारम्भ के वर्षों (Regnal years) का उल्लेख किया है।

डॉ० जायसवाल ने यह मत प्रस्तुत किया था कि वाकाटको ने २५० ई० के लगभग कलचुरि चेदि सवत की स्थापना की थी। परन्तु आज अधिकाश विद्वान इस मत को नही मानते, क्योकि यदि इस सवत की स्थापना वाकाटको ने की होती तो वे अपने अभिलेखो मे इसका प्रयोग करते। परन्तु उनके किसी भी अभिलेख मे इस सवत् का प्रयोग नही मिलता।

फिर भी, प्रथम वाकाटक-नरेश विन्ध्य-शक्ति का शासन-काल २५० ई० के आसपास रक्खा जा सकता है, क्योकि इसी समय सातवाहन-साम्राज्य का पतन हुआ था।

सवप्रथम पूना-ताम्रपत्र से प्रकट हुआ कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय (३७५ ई० ४१४ ई०) ने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटक-राजकुमार रुद्रसेन-द्वितीय के साथ किया था। इस प्रकार रुद्रसेन द्वितीय चन्द्रगुप्त-द्वितीय का समकालीन था। रुद्रसेन का शासन अल्पकालीन था। सम्भवत उसने ३८५ ई० से ३९० ई० तक राज्य किया। उसके पिता-पृथ्वीषेण का शासन दीर्घकालीन था, क्योकि उसके अनेक पुत्र-पौत्र बताये गये है। अनुमानत उसने ३६० ई० से ३८५ ई० तक राज्य किया। एक अभिलेख से प्रकट होता है कि पृथ्वीषेण प्रथम के सिंहासनारोहण के समय तक वाकाटक-राज्य की स्थापना के १०० वर्ष हो चुके थे।[2] अत यह स्थापना २५५-६० ई० के आसपास हुई होगी।

---

1 Duburil, Ancient History of the Deccan, p. 71

2 वर्षशतसमभिवर्द्धमानकोशदण्ड-साधनसन्तान पुत्रपौत्रिण ...।

मूल-निवास-स्थान—वाकाटकों के मूल निवास-स्थान का प्रश्न भी बड़ा विवाद-ग्रस्त है। डॉ० जायसवाल के मतानुसार वे उत्तर प्रदेश के झांसी जिले में स्थित चिरगांव के पूर्व में भूतपूर्व ओड़छा राज्य में बागाट नामक ग्राम के मूल निवासी थे। इसी से उनके वंश का नाम 'वाकाटक' पड़ा। परन्तु डा० जायसवाल के मत को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वाकाटक-वंश का कोई भी शिलालेख उत्तरी भारत में नहीं मिला है। प्रवरसेन-द्वितीय के इन्दौर ताम्रपत्र के अतिरिक्त वाकाटकों का कोई अन्य ताम्रपत्र भी उत्तरी भारत में नहीं मिला है। यह ताम्रपत्र भी सम्भवतः खानदेश से ही उत्तरी भारत में पहुँचा होगा, क्योंकि उसमें उल्लिखित ग्राम खानदेश में स्थित है।

कुछ विद्वानों का मत है कि पुराण वाकाटक-नरेशों का सम्बन्ध भूतपूर्व पन्ना राज्य की किलकिला नदी से स्थापित करते है। परन्तु वास्तव में पुराण किलकिला-प्रदेश का नहीं वरन् किलकिल राजाओं का उल्लेख करते है जिनके पश्चात् विन्ध्य-शक्ति का उदय हुआ था।[1]

आन्ध्र प्रदेश में अमरावती नामक ग्राम में एक स्तम्भ-लेख मिला है। इसमें वाकाटक नामक एक गृहपति का उल्लेख है जो अपनी दो पत्नियों के साथ बौद्ध तीर्थ-स्थान अमरावती गया था और वहां उसने कुछ दान किये थे।[2] डॉ० मिराशी के मतानुसार यह वाकाटक अमरावती के समीप ही किसी स्थान का निवासी होगा परन्तु इसमें वाकाटक को बौद्ध बताया गया है, जबकि वाकाटक-नरेश ब्राह्मण-धर्मावलम्बी थे।

पुराण वाकाटक-वंश के सम्थापक विन्ध्यशक्ति को विदिशा (भिलसा, मध्य-प्रदेश) और पुरिका (बरार) का शासक बताते है। अतः सम्भव है कि वाकाटक-वंश पश्चिमी मध्यप्रदेश अथवा बरार का मूलनिवासी रहा हो।

जाति—वाकाटक-वंश ब्राह्मण-वंश था। उसके प्रथम नरेश विन्ध्यशक्ति को अजन्ता-अभिलेख में द्विज कहा गया है। पुन वाकाटक-अभिलेखों में वाकाटकों का गोत्र विष्णुवृद्ध बताया गया है। यह ब्राह्मण गोत्र था।

विन्ध्यशक्ति—यह वाकाटक-वंश का संस्थापक था। पुराणों मे इसका वर्णन है। अजन्ता की सोलहवी गुहा के एक अभिलेख मे इसे 'द्विज' और 'वाकाटक-वंश-केतु' कहा गया है।[3] इस लेख के अनुसार विन्ध्यशक्ति ने अनेक युद्धो मे विजय प्राप्त की थी।[4]

---

1 किलकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति

2 गामे वाधवस गहपतिस वाकाटकस गहपतिकिनि
···ना चेरेन बोधिकेन भरियाय चमुनाय समतुकेहि
.··· केहि सनातिमितबंधवेहि च अपनो आयुवधनिक

3 दौहित्रः शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत्
विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्
भोक्ष्यते च समाः षष्टिं पुरीं काञ्चनकां च वै।

4 स्वबाहुवीर्यार्जितसर्वलोकः।

सम्भवत वह अथवा उसके पूर्वज प्रारम्भ में सातवाहनो के अधीन सामन्त शासक थे। कालान्तर में विन्ध्यशक्ति ने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की। सम्भवत विन्ध्यशक्ति उसका नाम न था। विन्ध्यप्रदेश मे अपनी सत्ता का विस्तार करने के पश्चात उसने यह विरुद धारण किया था। पुराणो में विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन की दो राजधानियो—पुरिका और चनका—के नाम मिलते हैं। इनमें से एक विन्ध्यशक्ति की राजधानी रही होगी।

कुछ विद्वान् विन्ध्यशक्ति को स्वतन्त्र राजा नही मानते। इसके दो कारण हैं—

(१) वाकाटको के ताम्रपत्रो मे उनकी वंशावली प्रवरसेन से प्रारम्भ होती है। उनमें विन्ध्यशक्ति का नाम नही मिलता।

(२) अजन्ता के उपर्युक्त अभिलेख में विन्ध्यशक्ति के नाम के साथ किसी उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया है।

परन्तु ये आपत्तियाँ निर्बल हैं—

(१) स्वतन्त्र होते हुए भी विन्ध्यशक्ति एक छोटा राजा था। वाकाटक-साम्राज्य की स्थापना वस्तुत उसके पुत्र प्रवरसेन ने की थी। पुत्र की विपुल कीर्ति के समक्ष पिता की कीर्ति विस्मृत हो गयी। यही कारण है कि वाकाटक ताम्रपत्रो में वंशावली का प्रारम्भ प्रवरसेन से मिलता है।

(२) अजन्ता अभिलेख में विन्ध्यशक्ति ही नही, वरन उसके उत्तराधिकारियो के लिये भी उपाधि का प्रयोग नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि यह लेख पद्य में है और इसमे उपाधि प्रयोग कठिन अथवा अनावश्यक समझा गया।

पुराणो मे उल्लिखित ९६ वर्ष उसके शासन-काल के वर्ष नही हो सकते। वे उसकी आयु को सूचित करते हैं।[1]

इसने कदाचित २५५ ई० से २७५ ई० तक राज्य किया।

प्रवरसेन-प्रथम—विन्ध्यशक्ति के पश्चात उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम-सिंहासनासीन हुआ। पुराणो मे उसे प्रवीर कहा गया है। यह वाकाटक-वंश का सबसे अधिक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। अपने वंश में एकमात्र इसी ने 'सम्राट की उपाधि धारण की थी। इसके साम्राज्य के विषय मे निम्नलिखित बाते उल्लेखनीय है—

(१) पुराणो से प्रकट होता है कि विदिशा इसके अधीन था और वहाँ पुरिका इस नरेश की राजधानी थी। डॉ० मिराशी का कथन है कि उस समय पुरिका में विदिशा के नागवंशी राजा का दौहित्र शिशुक राज्य कर रहा था। प्रवरसेन ने इसी शिशुक को पराजित कर पुरिका पर अधिकार किया था। परन्तु अधिक विद्वानों के मतानुसार पुरिका विन्ध्यशक्ति के समय से ही वाकाटक-राज्य में थी।

1 समा : षण्णवति भूत्वा पृथिवीं तु गमिष्यति।

(२) प्रवरसेन ने गुजरात और काठियावाड़ पर भी अधिकार कर लिया था। कदाचित् यही कारण है कि वहाँ के शक-नरेशों रुद्रसिंह-द्वितीय (३०४ ई०-३१६ ई०) और यशोदामन्-द्वितीय (३१६ ई०-३३२ ई०) ने एकमात्र छोटी उपाधि 'क्षत्रप' धारण की थी। इस सम्बन्ध में यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि यशोदामन् द्वितीय के पश्चात् ३३२ ई० से लेकर ३४८ ई० तक शकों की मुद्रायें प्राप्त नहीं होती। परन्तु डॉ० मिराशी इस मत को अस्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि शकों की स्वतन्त्रता का अपहरण प्रवरसेन ने नहीं, वरन मध्यप्रदेश के एक अन्य नरेश श्रीधरवर्मन ने की थी।

(३) मध्यप्रदेश के बघेलखण्ड में स्थित नचना तथा गज ग्रामों में वाकाटक-नरेश पृथ्वीषेण के माण्डलिक व्याघ्रदेव के दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं। अनेक विद्वानों ने इस पृथ्वीषेण को पृथ्वीषेण-प्रथम माना है।[1] परन्तु बघेलखण्ड को न तो पृथ्वीषेण-प्रथम ने जीता था और न उसके पिता रुद्रसेन-प्रथम ने। अतः अनुमान किया जा सकता है कि बघेलखण्ड की विजय प्रवरसेन-प्रथम ने ही की थी।

(४) अभिलेखों से अनुमान किया जा सकता है कि बालाघाट से दक्षिणी बरार और उत्तरी-पश्चिमी हैदराबाद तक का प्रदेश प्रवरसेन के अधीन था। उत्तर कुन्तल के कोल्हापुर, सतारा और सोलापुर निश्चित रूप से उसके अधीन प्रतीत होते हैं। दक्षिणी कोसल, कलिंग और आन्ध्र में इस समय कोई शक्तिशाली राजा न था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इन राज्यों को भी प्रवरसेन ने अपने आधिपत्य में ले लिया होगा।

(५) श्रीशैलस्थलमाहात्म्य नामक ग्रन्थ चन्द्रगुप्त-द्वितीय की पुत्री चन्द्रावती का उल्लेख करता है। वह कृष्णा नदी पर स्थित श्रीशैल में मल्लिकार्जुन देवता की पूजा करने जाया करती थी। कुछ विद्वानों के मतानुसार चन्द्रावती प्रभावती-गुप्ता थी। यदि यह समीकरण ठीक है तो श्रीशैल-प्रदेश (हैदराबाद का भाग) प्रभावतीगुप्ता के पति रुद्रसेन-द्वितीय के राज्य में सम्मिलित होगा। इसे रुद्रसेन-द्वितीय के पूर्व प्रवरसेन ने जीता होगा।

डॉ० अलतेकर ने प्रवरसेन के साम्राज्य के विषय में लिखा है कि इसके अन्तर्गत उत्तरी महाराष्ट्र, बरार, नर्मदा नदी के दक्षिण में मध्य प्रदेश और भूतपूर्व हैदराबाद राज्य का अधिकांश भाग आते थे। इसके अतिरिक्त उसके प्रभाव-क्षेत्र में दक्षिणी कोसल, बघेलखण्ड, मालवा, गुजरात और काठियावाड़ थे।

डॉ० जायसवाल का मत—डॉ० जायसवाल ने 'कौमुदी-महोत्सव' के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया था कि प्रवरसेन ने उत्तरी भारत पर आक्रमण करके [illegible] चन्द्रगुप्त-प्रथम को पराजित किया था तथा उत्तरी भारत पर अपना [illegible] स्थापित किया था। यही नहीं, प्रवरसेन ने कुषाणों को भी पराजित करके [illegible] था।

1 [illegible] के मतानुसार वह पृथ्वीषेण-द्वितीय था।

डॉ० जायसवाल के मतानुसार उत्तरी भारत की बनावट की प्रवरसेन की मुद्रा भी मिली है। इस पर 'प्रवरसेनस्य' लिखा हुआ है।

परन्तु आज इस मत को कोई स्वीकार नहीं करता। कौमुदी महोत्सव के चण्डसेन का समीकरण चन्द्रगुप्त के साथ नहीं किया जा सकता। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि पंजाब अथवा उत्तरी भारत से प्रवरसेन का कोई सम्बन्ध था। डॉ० अल्तेकर का मत है कि जिस मुद्रा को डॉ० जायसवाल प्रवरसेन की मुद्रा बताते हैं वह वास्तव में वीरसेन की मुद्रा है।

यज्ञ—प्रवरसेन-प्रथम वैदिक धर्म का मानने वाला था। उसने चार अश्वमेध तथा अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामक वैदिक यज्ञ किये। इन अवसरों पर उसने बहुमूल्य दक्षिणायें दीं। वाजपेय यज्ञ के पश्चात् उसने 'सम्राट्' की उपाधि धारण की। वाशीम ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि उसने 'धममहाराज' की उपाधि भी धारण की थी।

नागों से सम्बन्ध—इस समय भारशिव-वंश में भवनाग नामक राजा पर्याप्त-रूप से शक्तिशाली था। उसकी ताँबे की मुद्रायें पद्मावती (पदमपवाया, मध्य प्रदेश) में मिली है। प्रवरसेन ने अपने पुत्र गौतमीपुत्र का विवाह इसी भवनाग की पुत्री के साथ किया।[1] इस विवाह का उल्लेख वाकाटकों के अनेक ताम्रपत्रों में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि नागों ने वाकाटकों के उत्कर्ष में बड़ी सहायता दी थी।

घटोत्कच-गुहा-लेख में प्रवरसेन के मन्त्री देव का उल्लेख है। यह मन्त्री विद्वान् और धर्मात्मा था। इसने वैदिक धर्म की स्थापना में बड़ा योग दिया।

पुराणों के अनसार प्रवरसेन ने ६० वर्ष तक राज्य किया। इसका शासन-काल सम्भवत. २७५ ई० से ३३५ ई० तक माना जाता है।

पुराणो का कथन है कि प्रवीर (प्रवरसेन) के चार पुत्र थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् ये सभी राजा बने।[2] उसके एक पुत्र सर्वसेन का नाम वाशीम-ताम्रपत्र और अजन्ता की सोलहवीं गुहा-लेख में मिलता है। शेष दो पुत्रों के नाम ज्ञात नहीं हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् वाकाटक-साम्राज्य का चारों पुत्रों के बीच विभाजन हो गया। प्रवरसेन के ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र के लिये किसी भी वाकाटक-अभिलेख में एक स्वतन्त्र राजा के रूप में वर्णन नहीं मिलता। इससे यह अनुमान किया जाता है कि उसकी मृत्यु अपने पिता के जीवन-काल में ही हो गई थी। अतः गौतमीपुत्र के पुत्र रुद्रसेन-प्रथम ने साम्राज्य का एक भाग—उत्तरी विदर्भ—पाया। उसकी राजधानी नन्दिवर्धन (आधुनिक नगरधन) थी। प्रवर-सेन के दूसरे पुत्र सर्वसेन ने दक्षिणी विदर्भ पाया। इसकी राजधानी वत्सगुल्म (वर्तमान वाशीम) थी। डॉ० मिराशी के अनुसार तीसरे पुत्र का राज्य उत्तरी कुन्तल में और चौथे पुत्र का राज्य दक्षिणी कोसल में था। उत्तरी कोसल की शाखा

---

1 भारशिवानां महाराजश्री भवनाग दौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य...।

2 तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः।

का अन्त मानांक नामक राष्ट्रकूट-नरेश ने किया। दक्षिणी कोसल की वाकाटक शाखा का अन्त सम्भवतः नल-वंश के उदय के कारण हुआ। प्रथम दो शाखायें समानान्तर रूप से बहुत दिनों तक चलती रहीं।

इस साम्राज्य-विभाजन से वाकाटक-राज्य की शक्ति को बड़ा धक्का लगा होगा और वह सम्पूर्ण भारत में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने की दौड़ में गुप्तों से पीछे रह गया।

डॉ० जायसवाल ने यह मत प्रतिपादित किया था कि प्रवरसेन-प्रथम के एक पुत्र ने दक्षिणी भारत में पल्लव-वंश की स्थापना की थी। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते।

रुद्रसेन-प्रथम—प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के पश्चात उसका पौत्र रुद्रसेन-प्रथम लगभग ३३५ ई० में सिंहासनासीन हुआ। इसने कदाचित् ३६० वर्ष तक शासन किया।

वाकाटक-अभिलेखों में बार-बार यह बात कही गई है कि रुद्रसेन-प्रथम नाग-नरेश भवनाग का दौहित्र था। सम्भवतः भवनाग ने उसे किसी विशेष सकट में महत्त्वपूर्ण सहायता दी होगी। डा० अल्तेकर का अनुमान है कि रुद्रसेन के तीन चाचा थे। सम्भव है कि उन्होंने अनुभवहीन रुद्रसेन-प्रथम के राज्य को हड़पने की चेष्टा की हो और रुद्रसेन ने अपने चाचा की सहायता से उन्हें पराजित किया हो। हो सकता है कि उनमें से दो चाचा युद्ध में मारे गये हों, क्योंकि उनके नाम इतिहास में नही मिलते। अपने इस मत की पुष्टि में डॉ० अल्तेकर यह कहते हैं कि भवनाग के प्रभाव में ही रुद्रसेन ने अपने वश के वैष्णव धर्म का परित्याग कर अपने नाना के शैव धर्म को अंगीकार कर लिया था। वाकाटक-लेखों से प्रकट होता है कि रुद्रसेन महाभैरव का उपासक अर्थात् शैव था।

कुछ विद्वानों ने रुद्रसेन प्रथम वाकाटक का समीकरण समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित रुद्रदेव के साथ किया था। परन्तु यह मत असगत है। रुद्रदेव आर्यावर्त्त का राजा था जबकि रुद्रसेन वाकाटक दक्षिणापथ का।

रुद्रसेन-प्रथम समुद्रगुप्त का समकालीन था। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन को पराजित किया था अथवा उसे अपने अधीन कर लिया था। वाकाटक-लेखों में गुप्तों की प्रभुसत्ता का वर्णन नहीं मिलता। उनमें गुप्त-सवत् का भी प्रयोग नहीं मिलता। यह सत्य है कि रुद्रसेन को सदैव अभिलेखों में 'राजन' अथवा 'महाराज' कहा गया है। परन्तु इससे उसकी अधीनता सिद्ध नहीं होती। दक्षिणी भारत में स्वतन्त्र शासक भी 'महाराज' की उपाधि धारण करते थे।

फिर भी डॉ० मिराशी का विश्वास है कि समुद्रगुप्त के दक्षिणी भारत के अभियान से वाकाटकों की शक्ति को बड़ा धक्का लगा। पहले महाकान्तार, कुराल और पिष्टपुर के राजा वाकाटकों के अधीन थे। अब उन्होंने समुद्रगुप्त की अधीनता

स्वीकार कर ली। परन्तु अनेक विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि इनमें से कोई भी वाकाटकों के अधीन नहीं था।

डॉ० अल्तेकर का मत है कि रुद्रसेन-प्रथम के शासन-काल में उज्जैन के शकों ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। ये शक प्रवरसेन प्रथम के अधीन थे। परन्तु अब उनके राजा रुद्रदामन्-द्वितीय को हम महाक्षत्रप की उपाधि धारण किये हुए पाते हैं। यह एक स्वतन्त्र राजा की उपाधि थी।

पृथ्वीषेण-प्रथम—रुद्रसेन-प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीषेण-प्रथम लगभग ३६० ई० में सिंहासन पर बैठा। इसने लगभग ३८५ ई० तक राज्य किया। इस समय तक वाकाटक-राज्य की स्थापना के सौ वर्ष हो चुके थे।

वाकाटक-लेखों में पृथ्वीषेण-प्रथम के चारित्रिक गुणों की प्रशंसा की गई है, उसे धर्मविजयी बताया गया है तथा उसकी तुलना युधिष्ठिर से की गई है।[1] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका काल शान्तिपूर्ण था और उसने साम्राज्य-विस्तार का प्रयत्न नहीं किया।

मध्यप्रदेश में नचना और गज नामक ग्रामों में महाराज पृथ्वीषेण के सामन्त व्याघ्रदेव के दो शिलालेख मिले हैं। यह पृथ्वीषेण-प्रथम ही था।

पृथ्वीषेण के शासन की सर्वप्रमुख महत्त्वपूर्ण घटना उसका गुप्त-वंश के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना था। इस समय गुप्त-वंश में चन्द्रगुप्त-द्वितीय का राज्य था। वह गुजरात और काठियावाड के शकों का दमन करना चाहता था। वाकाटक-राज्य शक-राज्य का पड़ोसी था। अतः वह चन्द्रगुप्त-द्वितीय की पर्याप्त सहायता कर सकता था। इसी उद्देश्य से चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावती-गुप्ता का विवाह पृथ्वीषेण के पुत्र रुद्रसेन-द्वितीय के साथ करने का प्रस्ताव रक्खा। पृथ्वीषेण ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस विवाह से दोनों राजवंश परम मित्र बन गये। वाकाटकों ने शकों को पराजित् करने में चन्द्रगुप्त-द्वितीय की सहायता की होगी।

वाकाटक-लेखों में पृथ्वीषेण को भी शैव कहा गया है।

रुद्रसेन-द्वितीय—पृथ्वीषेण-प्रथम की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय लगभग ३८५ ई० में सिंहासनासीन हुआ। इसने सम्भवतः ३९० ई० तक राज्य

---

1 सत्यार्जवकारुण्यशौर्य विक्रम-नयविनयमाहात्म्यधीमत्वपात्रगतभक्तित्व-धर्मविजयित्वमनोनैर्मल्याद्गुणैः समुपेतस्य वर्षशतमभिवर्द्धमानकोशदण्डसाधनपुत्र-पौत्रिणः युधिष्ठिरवृत्तेर्वाकाटकानां महाराज श्रीपृथिवीषेणस्य...।

किया। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय अथवा प्रभावतीगुप्ता के प्रभाव में उसने अपने पैतृक धर्म—शैव धर्म—का परित्याग कर वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया।[1]

रुद्रसेन-द्वितीय लगभग ५ वर्ष के अल्प शासन-काल के पश्चात् ही मर गया। उसकी मृत्यु के समय उसके पुत्र दिवाकरसेन और दामोदरसेन क्रमशः लगभग ५ और २ वर्ष के थे।

प्रभावतीगुप्ता का शासन-काल—इस परिस्थिति में प्रभावतीगुप्ता ने अपने अल्पवयस्क पुत्रों की संरक्षिका के रूप में शासन करना प्रारम्भ किया। इसके शासन-काल के दो ताम्रपत्र बड़े प्रसिद्ध हैं—पूना ताम्रपत्र और ऋद्धपुर ताम्रपत्र। प्रथम ताम्रपत्र दिवाकरसेन के शासन-काल के तेरहवें वर्ष उत्कीर्ण कराया गया है। इसी ताम्रपत्र से पहली बार ज्ञात हुआ कि प्रभावती चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी।[2] यह आधार मिल जाने पर वाकाटकों के काल-निर्धारण का कार्य सुगम हो गया। ऋद्धपुर ताम्रपत्र पूना ताम्रपत्र के अनेक वर्ष पश्चात् उत्कीर्ण कराया गया था। इन दोनों ताम्रपत्रों में वाकाटक-वंशावली के स्थान पर गुप्त-वंशावली मिलती है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रभावतीगुप्ता के शासन-काल में वाकाटक-राज्य गुप्त-वंश के प्रभाव में आ गया था। सम्भवतः गुप्त-नरेश चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने अपनी विधवा पुत्री की सहायता के लिये अपने पदाधिकारी वाकाटक-राज्य में भेजे थे। उन्हीं ने इन ताम्रपत्रों को लिखा और उनमें गुप्त-वंशावली का उल्लेख किया। यह अनुमान किया जाता है कि अल्पवयस्क राजकुमारों को शिक्षा देने के लिये चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने कालिदास को वाकाटक-राज्य में भेजा था। ऐसी भी जनश्रुति है कि दामोदरसेन द्वारा लिखित *'सेतुबन्ध'* काव्य को कालिदास ने संशोधित किया था। डॉ० मिराशी का मत है कि वाकाटक-प्रदेश विदर्भ में रहते हुए ही कालिदास ने *मेघदूत'* की रचना की थी। *मेघदूत' में उल्लिखित रामगिरि वाकाटक*-राजधानी नन्दिवर्धन के निकट था।

प्रभावतीगुप्ता के शासन-काल में ही चन्द्रगुप्त ने शक-राज्य पर आक्रमण किया। यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रभावतीगुप्ता ने अपने पिता को पूरी सहायता दी होगी।

प्रभावतीगुप्ता के बड़े पुत्र दिवाकरसेन की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई।

---

1 भगवतश्चक्रपाणेः प्रसादोपार्जित कुलालंकारभूता अत्यन्तभगवद्भक्ता श्री समुदयस्य महाराजश्र से नस्य। वाकाटकानां हाराज श्रीरुद्र से नस्याग्र-

2 महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य महिषी युवराज श्री दिवाकरसेनजननी दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसंभूतायां प्रभावतीगुप्ता...
श्री महादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्ना उभय-

अतः उसका छोटा भाई दामोदरसेन वयस्क होने पर प्रवरसेन-द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा।

प्रभावतीगुप्ता वैष्णव थी। वह अपनी राजधानी नन्दिवर्धन के समीपस्थ रामगिरि पर प्रतिष्ठित भगवान् रामचन्द्र की पादुकाओं की भक्त थी।

प्रवरसेन-द्वितीय—कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रभावतीगुप्ता के तीन पुत्र थे—दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन-द्वितीय। परन्तु यह मत असगत है, क्योंकि यदि दामोदरगुप्त और प्रवरसेन द्वितीय भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते तो प्रवरसेन द्वितीय की भांति दामोदरसेन का भी प्रशंसा की कोई स्वतन्त्र लेख मिलता। परन्तु ऐसा नहीं है। पुनश्च ऋद्धपुर ताम्रपत्र में प्रभावतीगुप्ता को 'वाकाटकानां महाराज श्री दामोदरसेन प्रवरसेन जननी' कहा गया है। यहां यदि दामोदरसेन और प्रवरसेन दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते तो दामोदरसेन की भांति प्रवरसेन के नाम के साथ भी 'महाराज' की उपाधि जुड़ी होती। इस प्रकार यही मानना अधिक तर्कपूर्ण प्रतीत होता है कि दामोदरसेन और प्रवरसेन एक ही व्यक्ति थे। राजा होने पर दामोदरसेन ने अपने महान् पूर्वज प्रवरसेन का नाम धारण किया। इसने सम्भवतः यह ४१० ई० में सिंहासन पर बैठा। सका पाण्डुर्णा ताम्रपत्र इसके शासन-काल के २९ वें वर्ष का है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसने लगभग ३० वर्ष तक शासन किया। सकी मृत्यु ४४० ई० के आसपास हुई होगी।

अभी तक वाकाटक-राज्य की राजधानी नन्दिवनर्ध थी। प्रवरसेन द्वितीय ने अपने नाम से प्रवरपुर नामक एक नवीन नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया। यहां उसने भगवान रामचन्द्र के एक मन्दिर का निर्माण कराया।

प्रवरसेन एक विद्वान् एव विद्याप्रेमी था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसने प्राकृत भाषा मे 'सेतुबन्ध' नामक काव्य की रचना की। जनश्रुति के अनुसार इसका सशोधन कालिदास ने किया था। प्रवरसेन ने लगभग एक दर्जन ताम्रपत्र भी उत्कीर्ण कराये। इतने ताम्रपत्र प्राचीन भारत के किसी भी राजा ने नहीं तैयार कराये। इनसे उसकी दानशीलता का प्रमाण मिलता है।

प्रवरसेन शैव धर्मावलम्बी था। उसे जांब ताम्रपत्र में (परममाहेश्वर') कहा गया है। परन्तु वह दूसरे धर्मों के प्रति भी श्रद्धावान था। उसने स्वय रामकथा पर आधारित सेतुबन्ध' काव्य की रचना की थी तथा प्रवरपुर में राम-मन्दिर बनवाया था।

प्रवरसेन द्वितीय ने कुन्तल-राज्य से मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का विवाह वहां की राजपुत्री अज्झितमहारिका के साथ कर दिया था। यह स्पष्ट नहीं है कि कुन्तल में उस समय किस वंश का राज्य था। डा० अल्तेकर का मत है कि वहां कदम्ब-वंश राज्य करता था और अज्झितमहारिका इसी वश के राजा काकुस्थवर्मन् की पुत्री थी। इसके विरुद्ध प्रो० मिराशी का मत है कि इस समय कुन्तल में राष्ट्रकूट-वंशीय अविधेय राज्य कर रहा था। अज्झितभहारिका इसी की पुत्री थी।

नरेन्द्रसेन—प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरेन्द्रसेन वाकाटक-राज्य का स्वामी बना। इसने लगभग ४४० ई० से ४६० ई० तक राज्य किया।

बालाघाट ताम्रपत्र का कथन है कि नरेन्द्रसेन ने अपने शारीरिक गुणों के कारण राजलक्ष्मी हस्तगत की। इस आधार पर डा० कीलहर्न ने यह मत प्रतिपादित किया था। कि प्रवरसेन द्वितीय के पश्चात उत्तराधिकार का युद्ध हुआ और नरेन्द्रसेन ने अपने बड़े भाई को पराजित कर सिंहासन प्राप्त किया। इस मत की पुष्टि में कुछ विद्वान यह कहते हैं कि अजन्ता की १६वीं गुहा के लेख में इस बड़े भाई का नाम था। अभाग्यवश गुहा-लेख का वह अंश नष्ट हो गया है। परन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में उत्तराधिकार-युद्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बालाघाट-ताम्रपत्र का कथन है कि कोसला, मेकला और मालव देशों के राजा उसकी आज्ञा मानते थे।[1] मालवा तत्कालीन गुप्त-नरेश स्कन्दगुप्त के अधीन था। सम्भव है कि वहाँ के किसी सामन्त ने गुप्तों के विरुद्ध नरेन्द्रसेन की अधीनता स्वीकार कर ली हो। परन्तु अन्त में मालवा स्कन्दगुप्त के ही अधिकार में रहा।

मेकला अमरकण्टक-प्रदेश था। डॉ० मिराशी का मत है कि यहाँ पाण्डव-वंश गुप्तों की अधीनता में राज्य कर रहा था। इसके एक राजा भरतबल का उल्लेख बम्हनी-ताम्रपत्र में हुआ है। सम्भव है कि इसने गुप्तों के विरुद्ध विद्रोह कर नरेन्द्रसेन का आधिपत्य स्वीकार कर लिया हो।

कोसला का तात्पर्य दक्षिण कोसल से है। यह छत्तीसगढ़-प्रदेश था। प्रो० मिराशी के कथनानुसार यहाँ भीमसेन-प्रथम नामक नरेश ने नरेन्द्रसेन का प्रभुत्व स्वीकार किया था।

नलवंश के तीन राजाओं—वराह, भवदत्तवर्मा और अर्थपति की स्वर्ण-मुद्रायें मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के एडेंगा नामक ग्राम में प्राप्त हुई हैं। भवदत्तवर्मा के ऋद्धपुर ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि उसने वाकाटक-राज्य के एक बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था। इस विजय के पश्चात् भवदत्तवर्मा ने प्रयाग-यात्रा की थी।

परन्तु नरेन्द्रसेन ने इस संकट-काल में अतीव धैर्य और शौर्य का परिचय दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि भवदत्तवर्मा अपनी विजय के पश्चात बहुत दिनों तक जीवित न रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अर्थपति राजा हुआ। नरेन्द्रसेन ने उस पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। यही नहीं, उसने नलों की राजधानी पुष्करी को नष्ट कर दिया। आन्ध्रप्रदेश के पोडागढ़ नामक स्थान पर एक शिलालेख मिला है। इसमें किसी शत्रु द्वारा पुष्करी के नष्ट किये जाने का उल्लेख है। डॉ० अल्तेकर का मत है कि यह शत्रु नरेन्द्रसेन था। परन्तु प्रो० मिराशी इसे नरेन्द्रसेन का पुत्र पृथ्वीषेण-द्वितीय मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध में अर्थपति मारा गया और उसके

---

१ कोसलामेकलामालवाधिपतिभि- रभ्यर्चितशासनस्य।

पश्चात् उसका भाई स्कन्दवर्मा नल-राज्य का शासक बना। उपर्युक्त पोड़ागढ़-शिलालेख इसी स्कन्दवर्मा का है।

डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि इस संकट-काल में नरेन्द्रसेन को अपनी रानी के कदम्ब-वंश से सहायता मिली होगी। यही कारण है कि नरेन्द्रसेन के पुत्र पृथ्वीषेण-द्वितीय ने अपने वंश-वृक्ष में कदम्ब-वंश का उल्लेख किया है।

पृथ्वीषेण-द्वितीय—यह नरेन्द्रसेन का पुत्र था। इसने लगभग ४६० ई० से ४८० ई० तक राज्य किया। बालाघाट-अभिलेख में उसे दो बार 'द्विमग्नवंश का उद्धारकर्ता' (द्विमग्नवंशस्योद्धर्तुः) कहा गया है। परन्तु इस अभिलेख से यह प्रकट नहीं होता कि किन शत्रुओं के कारण वाकाटक-वंश पर दो बार आपत्ति आई थी। सम्भवतः एक बार की आपत्ति का कारण नल-वंश रहा हो। सम्भवतः पृथ्वीषेण-द्वितीय ने राजकुमार की भाँति नलों को पराजित करने में अपने पिता की सहायता की थी। यह भी सम्भव है कि नल-वाकाटक-संघर्ष पृथ्वीषेण-द्वितीय के शासन-काल में ही हुआ हो।

डॉ० अल्तेकर के मतानुसार दूसरी बार की आपत्ति का कारण दक्षिणी गुजरात में त्रैकूटकवंशीय राजा दह्लसेन का उदय था। इस राजा ने एक अश्वमेध यज्ञ किया था। सम्भव है कि इसने अपने पड़ोसी वाकाटकों को पराजित किया हो। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीषेण द्वितीय पुनः अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थापित करने में सफल हुआ।

बालाघाट-अभिलेख में पृथ्वीषेण-द्वितीय को 'परमभागवत्' अर्थात् विष्णु भगवान का उपासक कहा गया है।

इस राजा के पश्चात् वाकाटकों की प्रमुख शाखा वत्सगुल्म (बाशीम) शाखा में मिल गई।

वत्सगुल्म शाखा

सर्वसेन—वाकाटकों की वत्सगुल्म शाखा की स्थापना प्रवरसेन-प्रथम के पुत्र सर्वसेन ने की थी। इसने सम्भवतः ३३० ई० से ३५० ई० तक शासन किया। डा० अल्तेकर का मत है कि इसने प्रमुख शाखा के अपने भतीजे रुद्रसेन-द्वितीय से उसका राज्य छीनने की चेष्टा की थी। परन्तु भवनाग ने अपने दौहित्र रुद्रसेन की रक्षा की। घटोत्कच-गुहालेख रवि नामक मंत्री का उल्लेख है। इसने सर्वसेन के उत्कर्ष में बड़ा योग दिया। अजन्ता-अभिलेख में सर्वसेन की प्रशंसा की गई है।

विन्ध्यसेन—सर्वसेन के पश्चात उसका पुत्र सिंहासनासीन हुआ। बाशीम-ताम्रपत्र में इसे विन्ध्यशक्ति-द्वितीय कहा गया है। इसने लगभग ३५० ई० से ४०० ई० तक शासन किया। अजन्ता-लेख से प्रकट होता है कि इसने कुन्तल-नरेश को पराजित किया था। प्रो० मिराशी के मतानुसार इस समय कुन्तल में राष्ट्रकूट-वंशीय मानांक का राज्य था। विन्ध्यसेन और मानांक दोनों में शत्रुता थी।

विन्ध्यसेन ने अपने शासन-काल में ३७वें वर्ष वाशीम-ताम्रपत्र उत्कीर्ण कराया था। इस लेख का एक भाग संस्कृत में है और दूसरा भाग प्राकृत में। इससे प्रकट होता है कि धीरे-धीरे संस्कृत की मान्यता बढ़ रही थी। घटोत्कच गुहालेख में वर्णित प्रवर इसका मन्त्री था।

डॉ० अल्तेकर के मतानुसार इसके राज्य में दक्षिणी बरार, उत्तरी हैदराबाद तथा नगर, नासिक, पूना और सतारा के प्रदेश सम्मिलित थे। इसने 'धर्ममहाराज' की उपाधि धारण की थी। कदाचित् वाकाटक की प्रमुख शाखा के राजा पृथ्वीषेण प्रथम के साथ इसके सम्बन्ध अच्छे थे।

प्रवरसेन-द्वितीय—विन्ध्यसेन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र प्रवरसेन-द्वितीय सिंहासनासीन हुआ। इसने लगभग ४०० ई० से ४१५ ई० तक राज्य किया। अजन्ता लेख में इसकी प्रशंसा की गई है। परन्तु इसके शासन-काल की किसी विशेष घटना का पता नहीं चलता। घटोत्कच गुहा-लेख में उल्लिखित श्रीराम इसका मन्त्री था।

उत्तराधिकारी—अजन्ता लेख में प्रवरसेन-द्वितीय के उत्तराधिकारी का नाम नष्ट हो गया है। उसकी आयु ८ वर्ष की बताई गई । डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि उसकी अल्पावस्था के कारण वाकाटक-वंश की मुख्य शाखा के राजा प्रवरसेन द्वितीय ने उसके संरक्षक के रूप में वत्सगुल्म शाखा का भी शासन चलाया होगा।

जब यह अल्पवयस्क राजा बड़ा हुआ तो इसने शासन स्वयं अपने हाथ में ले लिया। अजन्ता लेख में इसके शासन की प्रशंसा की गई है। सम्भव है कि इसने नल आक्रमण के विरुद्ध नरेन्द्रसेन को सहायता दी हो। इसने लगभग ४५५ ई० तक राज्य किया। घटोत्कच गुहा-लेख से प्रकट होता है कि इसके मन्त्री का नाम कीर्ति था।

देवसेन—इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका पुत्र देवसेन सिंहासनासीन हुआ। इसने लगभग ४५५ ई० से ४७५ ई० तक राज्य किया। इसका एक अपूर्ण ताम्रपत्र मिला है जो लन्दन के ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है। इसे अपने मन्त्री हस्तिभोज से बड़ी सहायता मिली। अजन्ता गुहा-लेख और घटोत्कच गुहा-लेख दोनों में इस मन्त्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

हरिषेण—लगभग ४७५ ई० में देवसेन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरिषेण सिंहासन पर बैठा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसके समय वाकाटकों की दोनों शाखायें एक में मिल गईं। हरिषेण वत्सगुल्म शाखा के अतिरिक्त वाकाटकों की प्रमुख शाखा का भी राजा बना।

हरिषेण बड़ा पराक्रमी राजा सिद्ध हुआ। अजन्ता लेख से प्रकट होता है कि इसके अधीन त्रैकूट, लाट, अवन्ती, कोसल, कलिंग, आन्ध्रदेश और कुन्तल के प्रदेश थे। लगभग ४९५ ई० में वरसेन के मरने के पश्चात् हरिषेण ने त्रैकूटक-राज्य के ऊपर अधिकार कर लिया होगा। अवन्ती (मालवा) में गुप्त-वंश की अधीनता

में वर्मन-वंश राज्य कर रहा था। गुप्त-वंश के निर्बल होने पर वर्मन-वंश ने हरिषेण की अधीनता स्वीकार कर ली होगी। दक्षिणी कोसल के नल-वंश ने भी हरिषेण को अपना अधिपति मान लिया होगा। डा० मिराशी के मतानुसार हरिषेण ने आन्ध्रदेश के शालकायन-वंश के हाथ से राज्य छीन कर विष्णु-कुण्डीवंश के गोविन्द-वर्मा को दे दिया था। गोविन्दवर्मा के पुत्र माधववर्मा ने सम्भवतः हरिषेण की पुत्री के साथ विवाह किया था। अजन्ता की सत्रहवीं गुहा लेख से प्रकट होता है कि ऋषिक (खानदेश) में हरिषेण का एक सामन्त शासक राज्य कर रहा था।

वराहदेव हरिषेण का मन्त्री था। अपने घटोत्कच गुहा-लेख में इसने अपना वंश-वृत्त दिया है।

हरिषेण वाकाटक-वंश का अन्तिम महत्त्वपूर्ण राजा था। इसकी मृत्यु ५१० ई० के आसपास हुई। उस समय तक वाकाटक-राज्य अत्यन्त विशाल हो गया था। इतने विशाल राज्य पर सम्राट प्रवरसेन ने भी शासन न किया था।[1]

पतन—वाकाटक-राज्य अनेक राजवंशों के उदय के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गया। मालवा में यशोधर्मा का उदय हुआ। इसके मन्दसोर-अभिलेख में लिखा हुआ है कि जिन राज्यों पर गुप्तों और हूणों का भी शासन नहीं था वे यशोधर्मा के अधिकार में थे। सम्भवतः ये प्रदेश वाकाटक-राज्य के कुछ भाग थे। छत्तीस-गढ़-प्रदेश में पाण्डव-वंशीय तिवरदेव का उदय हुआ। डॉ० मिराशी का मत है कि विदर्भ में कलचुरि-नरेश कृष्णराज ने अपनी सत्ता स्थापित की। कर्णाटक में कदम्बों और बस्तर में नलों ने अपना अधिकार स्थापित किया। परन्तु शीघ्र ही कर्णाटक में चालुक्य-वंश का उदय हुआ। इसने शीघ्र ही अपने सभी पड़ोसी प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर एक साम्राज्य की स्थापना की।

---

1 'Practically the whole of Hyderabad State, Bombay, Maharashtra, Berar and most of C.P. were under its direct administration, and northern Konkan, Gujarat, Malava, Chattisgarh and Andhra province were under its sphere of influence. The extent of the Vakataka empire at this time was thus even greater than what it was during the reign of Samrat Pravarasena I'

—Altekar

अध्याय १३
उत्तरकालीन गुप्त-वंश

गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष में अनेक नवीन राजवंशों का उदय हुआ। इनमें दो वंश विशेष उल्लेखनीय हैं—उत्तरकालीन गुप्त-वंश और मौखरी वंश। ये दोनों राजवंश समकालीन थे और हर्ष के उदय के पूर्व इन्होंने उत्तरी भारत के इतिहास में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

गुप्त-वंश—इस वंश के राजाओं के नामों के अन्त में 'गुप्त' लगा हुआ है। इसलिये यह वंश सुविधा के लिये गुप्त-वंश कहा जाता है। पूर्वकालीन प्रसिद्ध गुप्त-वंश (ImperialGuptas) से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये इस वंश को उत्तर-कालीन गुप्त-वंश (Later Guptas) की संज्ञा दी गई है।

इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इस वंश का उत्तरकालीन गुप्त-वंश से कोई रक्त-सम्बन्ध था। सम्भवतः दोनों नितान्त पृथक् राजवंश थे। अफसद-अभिलेख में इस वंश को केवल 'सद्वंश' कहा गया है।

आदि निवास-स्थान—उत्तरकालीन गुप्त-वंश के आदि निवास-स्थान के विषय में बड़ा मतभेद है—

मालवा—डॉ० रायचौधरी, डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, डॉ० डी० सी० गांगुली आदि विद्वानों का मत है कि इस वंश का उदय मालवा में हुआ। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(१) बाण अपने हर्षचरित में माधवगुप्त के पिता (उत्तरकालीन गुप्त-नरेश महासेनगुप्त) को 'मालवराज' कहता है।

(२) देव-बरनार्क-अभिलेख से प्रकट होता है कि मगध में मौखरी-नरेशों सर्व-वर्मा और अवन्तिवर्मा का राज्य था। अतः उसी समय वहाँ उत्तरकालीन गुप्तों का राज्य कैसे हो सकता था?

(३) यद्यपि महासेनगुप्त का पुत्र माधवगुप्त हर्ष का समकालीन था, तथापि ह्वेनसांग ने मगध में उसके राज्य का उल्लेख नहीं किया है। यही नहीं, जब ह्वेन-सांग मगध पहुँचा तो उसने वहाँ पूर्ववर्मा को राज्य करते हुए पाया।

(४) बराबर और नागार्जुनी गुहा-लेखों से प्रकट होता है कि प्रारम्भिक मौखरी-नरेशों का उदय गया जिले (मगध) में हुआ था। अतः उसी समय वहाँ उत्तरकालीन गुप्त-वंश का राज्य कैसे हो सकता था?

खण्डन—परन्तु ये समस्त तर्क निर्बल है—

(१) ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उत्तरकालीन गुप्त-वंश का आधिपत्य मगध में था। परन्तु इस वंश का राजा दामोदरगुप्त समकालीन मौखरी-नरेश सर्ववर्मा द्वारा पराजित हुआ और मारा गया। इस विनाश के पश्चात् सम्भवतः दामोदरगुप्त का पुत्र मगध छोड़कर मालवा चला गया और उसने वहाँ एक नवीन राज्य स्थापित किया। इसी से बाण के हर्षचरित में वह 'मालवराज' कहा गया है। परन्तु इससे मालवा उत्तरकालीन गुप्तों का आदि निवास-स्थान नहीं सिद्ध होता।

(२) देवबरनार्क अभिलेख में मौखरी नरेश सर्ववर्मा तथा अवन्तिवर्मा द्वारा मगध में दान में दिए गये एक ग्राम का उल्लेख है। इस ग्राम-दान से गुप्त-वंश का कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः देवबरनार्क-अभिलेख में इस वंश का उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु देवबरनार्क अभिलेख से यह सिद्ध नहीं होता कि सर्ववर्मा के पूर्व उस ग्राम अथवा उस प्रदेश में गुप्त-वंश का अधिकार नहीं था।

(३) सम्भव है कि ह्वेनसांग के समय उत्तरकालीन गुप्त-वंश मगध छोड़ कर मालवा चला गया हो। परन्तु ह्वेनसांग के पूर्व भी गुप्त-वंश का मगध पर अधिकार न था, यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती।

(४) यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बराबर और नागार्जुनी गुहा-लेखों में उल्लिखित मौखरियों का कन्नौज के मौखरियों के साथ कोई सम्बन्ध था अथवा नहीं। यह सम्भव है कि बराबर एवं नागार्जुनी गुहा-लेखों में उल्लिखित मौखरियों के पतन के पश्चात् उसी प्रदेश में उत्तरकालीन गुप्त-वंश का उदय हुआ हो।

इसके विरुद्ध फ्लीट, राखलदास बनर्जी, मजूमदार आदि विद्वानों ने मगध को गुप्त-वंश का मूलस्थान माना है। यह मत अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है—

(१) गुप्त-वंशीय जीवितगुप्त-प्रथम ने शीतल समुद्रतट और हिमालय-प्रदेश में रहने वाले शत्रुओं से मोर्चा लिया था। इस वर्णन से अनुमान किया जा सकता है कि जीवितगुप्त मगध का राजा होगा जहाँ से समुद्रतट और हिमालय प्रदेश दोनों निकटस्थ हैं। मालवा इस वर्णन के अनुकूल नहीं पड़ता।

(२) गुप्तवंशीय महासेनगुप्त ने लौहित्य नदी के तट पर कामरूप के राजा सुस्थितवर्मा से युद्ध किया था। इससे भी यह प्रकट होता है कि महासेनगुप्त कामरूप के समीपस्थ मगध का राजा था, मालवा का नहीं। मालवा और कामरूप के बीच स्वतन्त्र मौखरी राज्य के रहते मालवा-नरेश कामरूप में युद्ध करने न जा सकता था।

गुप्त-मौखरी-संघर्ष—ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में मौखरियों की भाँति परकालीन गुप्त भी पूर्वकालीन गुप्तों के सामन्त थे। अफसद-अभिलेख इस वंश के प्रथम राजा कृष्णगुप्त को एकमात्र 'नृप' तथा तृतीय राजा जीवितगुप्त-प्रथम को 'क्षितीशचूडामणि' कहा गया है। इन शब्दों से यही सिद्ध होता है कि ये प्रारम्भिक राजा सामन्त शासक थे। ऐसी ही स्थिति उत्तरकालीन गुप्तों के समकालीन

मौखरियों की थी। उनके भी प्रारम्भिक तीन राजा—हरिवर्मा, आदित्यवर्मा और ईश्वरवर्मा—सामन्त शासक थे, क्योंकि उनमें से किसी के लिये भी 'महाराजाधिराज' की उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया है। मौखरी-वंश भी पूर्वकालीन गुप्तों के अधीन था। इन दोनों समकालीन सामन्त-वंशों—उत्तरकालीन गुप्तों और मौखरियों मे प्रारम्भ में अच्छे सम्बन्ध थे। आदित्यवर्मा मौखरी ने उत्तरकालीन गुप्तवंशीया हर्षगुप्ता के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार ईश्वरवर्मा मौखरी ने परकालीन गुप्तवंशीया उपगुप्ता के साथ विवाह किया था।

यही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों सामन्त-वंशों—मौखरियों और उत्तरकालीनगुप्तों—ने अपने स्वामी गुप्त-वंश के साम्राज्य की रक्षा के लिये उसके शत्रुओं से पृथक-पृथक अथवा सम्मिलित रूप से युद्ध किये थे। अफसद अभिलेख से प्रकट होता है कि जीवितगुप्त-प्रथम ने समुद्रतटीय गौडों से युद्ध किया था। हरहा-अभिलेख से प्रकट होता है कि ईशानवर्मा मौखरी ने भी इन्हीं गौडो से युद्ध किया था। ये दोनो सामन्त शासक समकालीन थे। अतः अनुमान किया जा सकता है कि इनकी सैनिक कार्यवाही गुप्त-साम्राज्य की रक्षा के हेतु सम्मिलित रूप से की गई थी।

जैसे-जैसे गुप्त-साम्राज्य निर्बल होने लगा वैसे ही वैसे ये दोनो सामन्त वंश भी स्वतन्त्रता के स्वप्न देखने लगे। ५५४ ई० के हरहा-अभिलेख से प्रकट होता है कि इस तिथि के आस-पास मौखरी-वंश के चौथे राजा ईशानवर्मा का उदय हुआ। असीरगढ राजमुद्रा में इस राजा के लिये 'महाराजाधिराज' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। इससे अनुमान होता है कि इस राजा ने छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे गुप्त-वंश के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। उत्तरकालीन गुप्त-वंश ने मौखरियों की बढती हुई शक्ति को अपने लिये भी खतरा समझा। इस वंश के चौथे राजा कुमारगुप्त ने भी सम्भवत इसी समय अपनी स्वतन्त्रता घोषित की थी। वह चौथे मौखरी-नरेश ईशानवर्मा का समकालीन था। इस परिस्थिति मे दोनों मे युद्ध हुआ। इस प्रकार गुप्तों के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत मे प्रभुसत्ता स्थापित करने के प्रयत्न मे मौखरियो और उत्तरकालीन गुप्तों की शत्रुता प्रारम्भ हुई।[1]

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि गुप्तों के पतन के पश्चात् प्रारम्भ में कुछ समय तक मौखरी उत्तरकालीन गुप्तों के अधीन रहे अथवा उत्तरकालीन गुप्त मौखरियो के अधीन रहे। ये दोनो सम्भावनायें हो सकती हैं।

1 .The Maukharis, who had grown rich and prosperous by their possession of the ferile Doab, were also at this time bidding for supremacy in the north, and they had now to be reckoned with before the (Later) Guptas could reclaim the allegiance of the greater part of Northern India'

—Dr. R. S. Tripathi.

काल-निर्धारण—कतिपय साक्ष्यों की सहायता से उत्तरकालीन गुप्तों का काल-निर्धारण किया जा सकता है—

(१) मौखरी-नरेश ईशानवर्मा की ५५४ ई० की तिथि हरहा अभिलेख में ज्ञात होती है। यह नरेश उत्तरकालीन गुप्त-नरेश कुमारगुप्त का समकालीन था।

(२) अफसद अभिलेख से ज्ञात होता है कि उत्तरकालीन गुप्त-नरेश महासेन-गुप्त कामरूप-नरेश सुस्थितवर्मा का समकालीन था। सुस्थितवर्मा का पुत्र भास्कर-वर्मा हर्ष का समकालीन (७वी शताब्दी का प्रारम्भ) था। अत सुस्थितवर्मा और महासेनगुप्त दोनों को ६ठी शताब्दी के अन्तिम चरण में रक्खा जा सकता है।

(३) बाण के हर्षचरित विदित होता है कि महासेनगुप्त का पुत्र माधवगुप्त हर्ष का समकालीन था। इससे भी महासेनगुप्त ६ठी शताब्दी के अन्तिम चरण में रक्खा जा सकता है।

(४) गुप्त-नरेश आदित्यसेन की ६७२ ई० की तिथि शाहपुर अभिलेख से मिलती है।

(५) जीवितगुप्त द्वितीय अन्तिम उत्तरकालीन गुप्त-नरेश था। इसे कन्नौज-नरेश यशोवर्मा ने पराजित किया था। यशोवर्मा ८वी शताब्दी में हुआ। अत इसी शताब्दी में उत्तरकालीन गुप्त-वश का अन्त हुआ।

वंशावली—उत्तरकालीन गुप्तों की वशावली का ज्ञान प्रमुखतया हमे दो अभिलेखों से होता है—

(१)**अफसद अभिलेख**—इससे इस वश के (१) कृष्णगुप्त (२) हर्षगुप्त (३) जीवितगुप्त. प्रथम (४) कुमारगुप्त (५) दामोदरगुप्त (६) महासेनगुप्त (७) माधवगुप्त (८) आदित्यसेन।

(२) **देववरनार्क अभिलेख**—इससे इस वश के अन्तिम तीन राजाओं—(९) देवगुप्त (१०) विष्णगुप्त और (११) जीवितगुप्त द्वितीय के नाम ज्ञात होते हैं।

कृष्णगुप्त—यह उत्तरकालीन गुप्त-वश का सस्थापक था। इसका उल्लेख केवल अफसद अभिलेख में हुआ है। इस अभिलेख में इसे केवल 'नृप' कहा गया है। इससे अनुमान होता है कि यह सामन्त शासक था। यह गुप्त-वश के अधीन रहा होगा। यद्यपि अफसद अभिलेख मे इसके युद्धों और विजयों का वर्णन है तथापि उसके किसी भी शत्रु का नाम नहीं दिया गया है। डा० रायचौधरी का मत है कि उसके शत्रुओं में एक शत्रु मालवा का यशोधर्मा भी था।

हर्षगुप्त—यह कृष्णगुप्त का पुत्र था। सम्भवतः मौखरी-नरेश आदित्यवर्मा की रानी हर्षगुप्ता इसकी बहन थी। इससे प्रकट होता है कि इस समय तक उत्तर-कालीन गुप्तों और मौखरियो की मित्रता थी।

जीवितगुप्त प्रथम—यह हर्षगुप्त का पुत्र था। यह पराक्रमी राजा प्रतीत

होता है। अफसद अभिलेख में इसके अनेक सफल युद्धों का वर्णन है। सम्भवतः ये युद्ध उसने अपने स्वामि-वंश—गुप्त-वंश—के लिये किये होंगे। इस अभिलेख में इसे 'क्षितीश-चूड़ामणि' कहा गया है जिससे उसका सामन्त-पद सिद्ध होता है। अफसद अभिलेख में कहा गया है कि उसने अनेक शत्रुओं को पराजित किया। उसने अपने शत्रुओं में इतना घोर प्रतापज्वर उत्पन्न किया कि शीतल समुद्र तटों और हिमालय-प्रदेश में रहते हुए भी वे उसे शान्त नहीं कर सके।[1] समुद्रतटीय शत्रु गौड़ हो सकते हैं। हरहा-अभिलेख में कहा गया है कि समुद्रगुप्तटीय गौड़ों के विरुद्ध मौखरी-नरेश ईशानवर्मा ने भी युद्ध किया था। सम्भव है कि इन दोनों सामन्त राजाओं ने अपने अधिपति गुप्त-नरेश के लिये सम्मिलितरूप से बंगाल के गौड़ों के विरुद्ध युद्ध किया हो। हिमालय-प्रदेश से लिच्छवि-राज्य नेपाल का अर्थ हो सकता है। जीवितगुप्त प्रथम की यह सफलतायें मालवा के राजा यशोधर्मा के पूर्वी भारत के अभियान के पश्चात् ही मिली होंगी। अतः इनकी तिथि ५३२ ई० के पश्चात् ही रक्खी जानी चाहिए।

कुमारगुप्त—जीवितगुप्त, प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त सिंहासनासीन हुआ।

यह एक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। यह कन्नौज के मौखरी-नरेश ईशानवर्मा का समकालीन था। पहले कहा जा चुका है कि ईशानवर्मा ने गुप्त-वंश के विरुद्ध अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और अपनी प्रभु-सत्ता की सूचना देते हुए 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। उसके इस उत्कर्ष से उत्तरकालीन गुप्त-वंश के लिये भी संकट उत्पन्न हो गया होगा। ऐसी परिस्थिति में दोनों वंशों की पुरानी मित्रता समाप्त हो गई और उनमें एक दीर्घकालीन शत्रुता का सूत्रपात हुआ।[2]

अफसद-अभिलेख का कथन है कि कुमारगुप्त ने ईशानवर्मा के सेनारूपी समुद्र को मन्दर पर्वत की भाँति मथ डाला। इसी अभिलेख में आगे कहा गया है कि कुमारगुप्त प्रयाग में अग्नि में प्रविष्ट हुआ[3]। इससे यह प्रकट होता है कि इस युद्ध में यद्यपि कुमारगुप्त की विजय हुई, तथापि वह युद्धभूमि में ही मारा गया अथवा विजय प्राप्त करने के कुछ समय पश्चात् कुमारगुप्त की स्वाभाविकरूप में मृत्यु हो

1. आम्यद्गृतिकरावलून काण्डासु वेलास्वपि श्च्योतस्फारतुषार निर्झरपयः शीतेऽपि शैले स्थिता व्यस्योर्वैद्विषतो मुमोचन महाघोर प्रतापज्वरः।

2. भीमः श्रीशानवर्मक्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिन्धुर्लक्ष्मी संप्राप्ति हेतुः सपदिविमथितो मन्दरीभूय येन।

3. शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो घने अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः।

गई। जो भी हो, यह महत्वपूर्ण है कि उसका शरीर प्रयाग में भस्म हुआ। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुमारगुप्त ने ईशानवर्मा को पराजित कर उसके साम्राज्य के पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया था।

हरहा अभिलेख से ईशानवर्मा की तिथि ५५४ ई० प्राप्त होती है। इसी के आस-पास कुमारगुप्त भी रक्खा जा सकता है।

दामोदरगुप्त—कुमारगुप्त की मत्यु के पश्चात् उसका पुत्र दामोदरगुप्त सिंहासन पर बैठा। इसका समकालीन मौखरी-नरेश सर्ववर्मा था। अफसद अभिलेख में इन दोनों के युद्ध का भी वर्णन है।[1] इस वर्णन से निम्नलिखित तथ्य सम्मुख आते हैं–

(१) **मौखरी नरेश की गज-सेना** ने हूणों को पराजित किया था।
(२) उस मौखरी सेना को दामोदरगुप्त ने छिन्न-भिन्न कर दिया।
(३) वह स्वय युद्ध में सम्मूर्छित हो गया।
(४) उसने सुरवधुओं के कर-कमलों के सुखद स्पर्श से चेतना प्राप्त की।

डा० सरकार का मत है कि यहाँ मौखरी-नरेश का अर्थ ईशानवर्मा से है। ईशानवर्मा ने गुप्त-नरेश बालादित्य की ओर से हूणों से युद्ध किया और उन्हे पराजित किया था।[2]

ऐसी पराक्रमी मौखरी-सेना को दामोदरगुप्त ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

श्री क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय का यह मत स्वीकार नही किया जा सकता कि इस युद्ध में दामोदरगुप्त विजयी हुआ, परन्तु युद्ध-भूमि में उसे मूर्च्छा आ गई और थोडे समय पश्चात् उसे पुन चेतना आ गई[3]। डा० सरकार ने सस्कृत साहित्य से इसी प्रकार के अन्य उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया है कि वास्तव में युद्ध-भूमि में दामोदरगुप्त मारा गया और विजय मौखरी-नरेश सर्ववर्मा की हुई।[4] बात यह है कि अफसद अभिलेख उत्तरकालीन गुप्त-वश का है। अतः इसने अपने राजा की पराजय और मत्यु की घटना को दबाने का प्रयत्न किया है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि सुर-वधुओं का साहचर्य इहलोक मे नही वरन् परलोक में ही सम्भव था। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि युद्ध में दामोदरगुप्त मारा गया, यद्यपि मौखरी-नरेश की सेना की भी बडी क्षति हुई।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस विजय के परिणामस्वरूप सर्ववर्मा ने उत्तरकालीन गुप्त के मगध-राज्य का अधिकांश अपने अधिकार में कर लिया था। इस कथन की पुष्टि देवबरनार्क अभिलेख से होती है। इस प्रकार सर्ववर्मा ने अपने पिता ईशान-वर्मा की पराजय का प्रतिशोध किया।

---

1 यो मौखरेः समितिषूद्धत हूण सैन्या,
वल्गत्घटाविघटयन्नुरुवारणानाम्
सम्मूर्छितः सुरवधूर्वरयन्ममेति
तत्पाणिपंकज सुख स्पर्शाद्वि बुद्धः।

2 JRASBL, XI, p. 70, fn. 4

3 D. R. Bhandarkar Vol. p. 181 ff.

4 JRASBL, XI, p. 70 fn.

अफसद अभिलेख दामोदरगुप्त के दोनों का उल्लेख करता है। उसने ब्राह्मणों को भूमि-दान दिए थे और आर्थिक सहायता देकर ब्राह्मणकन्याओं के विवाह कराये थे।[1]

महासेनगुप्त—दामोदरगुप्त के पश्चात उसका पुत्र महासेनगुप्त राजा हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पिता दामोदरगुप्त की पराजय और मत्यु के पश्चात् महासेन-गुप्त के हाथ से मगध का राज्य जाता रहा और उसने भाग कर मालवा में शरण ली तथा वहाँ अपने राज्य की स्थापना की। बाण के हर्षचरित में उसे 'मालवराज' कहा गया है।

परन्तु महासेनगप्त के सकट का अन्त न हुआ। कदाचित् कुछ दिनों के पश्चात् उसके हाथ से मालवा भी जाता रहा। वहाँ 'देवगुप्त' नामक एक अन्य राजा का उदय हुआ। यह भी उत्तरकालीन गुप्तवशीय प्रतीत होता है। सम्भव है कि यह महासेनगुप्त का भाई अथवा सम्बन्धी हो और इसने महासेनगुप्त के विरुद्ध विद्रोह करके मालवा पर अधिकार कर लिया हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि महासेनगुप्त ने पुन: मगध पर अधिकार कर लिया। अफमद अभिलेख का कथन है कि इसने लौहित्य नदी (ब्रह्मपुत्र) के तट पर सुस्थितवर्मा को पराजित किया था[2]। फ्लीट, राधाकुमुद मुकर्जी और हेमचन्द्र रायचौधरी आदि विद्वानों का मत था कि यह सुस्थितवर्मा कन्नौज का मौखरी-नरेश था। उनके इस मत के दो प्रमुख आधार थे। प्रथमत उत्तरकालीन गुप्त राजाओं की मौखरी नरेशों से शत्रुता थी। कुमारगुप्त ने मौखरी-नरेशों ईशानवर्मा से युद्ध किया था। इसी प्रकार दामोदरगुप्त ने मौखरी-नरेश सर्ववर्मा से युद्ध किया था। अत जब महासेनगुप्त ने सुस्थितवर्मा से युद्ध किया तो यह अनुमान करना नितान्त स्वाभाविक प्रतीत हुआ कि सुस्थितवर्मा मौखरी था। द्वितीयतः मौखरी-नरेशों के नामो के अन्त में 'वर्मा' लगा हुआ है। सुस्थितवर्मा का नाम भी 'वर्मा' से अन्त होता है। अत वह भी मौखरी-प्रतीत हुआ।

परन्तु इस मत के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई गईं—

(१) यदि सुस्थितवर्मा मौखरी-नरेश था तो उसका नाम मौखरी-वंशावली में आना चाहिए था। परन्तु ऐसा नही है।

(२) मौखरी-नरेशों की मुद्राओं के साथ सुस्थितवर्मा की मुद्रायें नही मिलती।

(३) यदि सुस्थितवर्मा कन्नौज का मौखरी-नरेश था तो उसके साथ उत्तर-कालीन गुप्त-नरेश महासेनगुप्त का युद्ध ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर कैसे हुआ?

---

1 गुणवद्द्विज कन्याना नानालंकार यौवनवतीनां परिणोयितवान् सः नृपः निसृष्टा-प्रहाराणाम्।

2. श्रीमत्सुस्थितवर्मयुद्ध विजय श्लाघापदांकं मुहु-लौहित्यस्य तटेषु

(४) देवबरनार्क अभिलेख सर्ववर्मा का उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मा को बताता है, सुस्थितवर्मा को नहीं।

(५) निधनपुर ताम्रपत्रों में सुस्थितवर्मा को कामरूपनरेश भास्करवर्मा का पिता बताया गया है।

इन आधारों पर यह सिद्ध हो जाता है कि सुस्थितवर्मा कन्नौज का मौखरीराज न था वरन् कामरूप (असम) का राजा था। इसे महासेनगुप्त ने हराया था। यदि महासेनगुप्त मालवा का राजा होता तो वह कामरूप के राजा सुस्थितवर्मा से ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर युद्ध कैसे करता? इससे यही सकेत मिलता है कि महासेनगुप्त ने पुनः मगध पर अधिकार कर लिया था।

अभिलेखो से प्रकट होता है कि थानेश्वर के वर्धन-वश के महाराजा आदित्यवर्धन की रानी का नाम महासेनगुप्ता था। सम्भवत यह महासेन गुप्त की बहिन थी। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तरकालीन गुप्त-वश और वर्धन-वंश की मित्रता थी। यही कारण है कि बाण के अनुसार महासेनगुप्त के पुत्र माधवगुप्त और कुमारगुप्त थानेश्वर राज्य में रहते थे।

इस प्रकार अनेक आपत्तियो का सामना करते हुए महासेनगुप्त ने अपने पैतृक मगध-राज्य की रक्षा की। अफसद अभिलेख में उसकी वीरता का उल्लेख है।[1]

माधवगुप्त—महासेनगप्त की मत्यु के पश्चात् उसका पुत्र माधवगुप्त राजा हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह थानेश्वर की राजसभा में रहा था। यह हर्ष का समकालीन था।

अफसद अभिलेख मे माधवगप्त के अनेक गुणों की प्रशसा की गई है। उसने अपने शत्रुओ का विनाश किया था[2]। इसे 'विक्रमैकरस' कहा गया है। परन्तु अभिलेख इसके शत्रुओ के नाम नही बताता। कदाचित् इनमें कामरूप-नरेश भी रहा होगा।

पुनश्च, यह सौजन्य का निधान, लक्ष्मी, सत्य और सरस्वती का कुलगृह तथा धर्म का सेतु था[3]।

अफसद अभिलेख कहता है कि जब माधवगुप्त ने अपने सभी शत्रुओं का संहार कर दिया और यह समझा कि अब मेरे लिये कुछ भी करने को शेष नही है तो उसने हर्ष से मित्रता करने का प्रस्ताव किया था[4]।

---

1 श्रीमहासेनगुप्तोऽभूत्तस्माद्वीराग्रणी सुतः
[सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम्।

2 प्राप्ते विद्विषतां वधे।

3 सौजन्यस्य निधानम्... लक्ष्मी सत्य सरस्वती कुलगृहः धर्मस्य सेतुर्दृढः।

4 आजौ मया विनिहता बलिनो द्विषन्तः कृत्यं न मेऽरिस्त्यपरमित्यवधार्य वीरः
श्रीहर्षदेवनिज संगमवाञ्छया च।

चीनी साक्ष्यों में हर्ष को मगध का राजा बताया गया है, माधवगुप्त को नहीं। इसका विशेष कारण यही प्रतीत होता है कि वर्धन-वंश और उत्तरकालीन गुप्त-वंश की मित्रता थी। सम्भव है कि प्रभाकरवर्धन अथवा हर्ष ने माधवगुप्त को मगध का राज्य सभालने में सहायता दी हो। माधवगुप्त हर्ष के सम्बन्धी और मित्र की भाँति मगध में शासन कर रहा था। इसी से चीनी साक्ष्यों ने हर्ष को ही मगध का राजा मान लिया था।

आदित्यसेन—यह माधवगुप्त का पुत्र था। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् जब उत्तरी भारत में कोई एकच्छत्र राज्य न रहा तो इसने अपने भुजबल से पूर्वी भारत में सबसे विशाल और शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। इसके शासन की एकमात्र तिथि ६६ हर्ष सवत् (=६७२ ई०) शाहपुर अभिलेख से प्राप्त होती है। मन्दर पर्वत पर दो अभिलेख मिले हैं। इनमें आदित्यसेन को 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' कहा गया है। प्रसिद्ध अफसद अभिलेख भी इसी नरेश ने उत्कीर्ण कराया था। इसमें कहा गया है कि इसने शत्रुओं का नाश किया था।[1] इसने अनेक राजाओं को अपने अधीन कर लिया था[2]। इसकी कीर्ति समुद्र पार चली गई थी।[3] वैद्यनाथ मन्दिर-अभिलेख भी आदित्यसेन को समुद्रपर्यन्त वसुन्धरा का शासक बताता है।[4] यही लेख उसके अश्वमेध का भी उल्लेख करता है। इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि आदित्यसेन अपने वंश का सबसे अधिक पराक्रमी राजा था और उसने अनेक शत्रुओं को पराजित किया था।

अभाग्यवश हमे उसके शत्रुओं के नाम ज्ञात नहीं हैं। उसके राज्य में मगध, अंग और बंगाल के प्रदेश सम्मिलित थे।

अफसद अभिलेख में आदित्यसेन की माता का नाम महादेवी श्रीमती दिया हुआ है। इसने एक मठ का निर्माण कराया था। इसी अभिलेख में उसकी पत्नी का नाम श्रीकोणदेवी बताया गया है। श्रीकोणदेवी ने एक सर का निर्माण कराया था जिससे जनता को पीने के लिये पानी मिल सके।

आदित्यसेन वैष्णव धर्मावलम्बी था। देवबरनार्क अभिलेख में इसे 'परमभागवत' बताया गया है। वैद्यनाथ मन्दिर अभिलेख से प्रकट होता है कि इसने विष्णु के वराहरूप की मूर्ति बनवाई थी। अफसद अभिलेख से विदित होता है कि इसने विष्णु का एक मन्दिर बनवाया था।

देवगुप्त—देवबरनार्क अभिलेख से ज्ञात होता है कि आदित्यसेन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र देवगुप्त राजा हुआ। इसे 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर, कहा गया है। केण्डूर ताम्रपत्र के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत

1. मागतमरिध्वंसोत्थमाप्तं यशः।
सकलरिपुबलतथाध्वंस हेतुः...

2 श्वेतातपत्रस्थगित वसुमती मण्डलो
लोकपालः।

3 कीर्ति.....
याता सागरपारम्।

4 शास्ता समुद्रान्तवसुन्धरायाः...।

प्रतिपादित किया है कि चालुक्य-नरेश विनयादित्य (६८१-९६ ई०) ने देवगुप्त को पराजित किया था। इस मत का प्रमुख आधार यह है कि केण्डूर ताम्रपत्र में विनयादित्य को 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा गया है। देवबरनार्क अभिलेख देवगुप्त को 'माहेश्वर' बताता है।

विष्णुगुप्त—देवबरनार्क अभिलेख से विदित होता है कि यह देवगुप्त का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। इसने भी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि धारण की थी। यह भी अपने पिता की भाँति शव था।

जीवित गुप्त द्वितीय—यह विष्णगुप्ता का पुत्र था। देवबरनार्क का प्रसिद्ध अभिलेख इसी नरेश ने उत्कीर्ण, कराया था। इस लेख द्वारा जीवितगुप्त द्वितीय ने उस अग्रहार-दान की पुनः पुष्टि की थी जिसे गुप्त-नरेशों एव मौखरी सर्ववर्मा ने दिया था। यह अभिलेख जीवितगुप्त को 'परमहाकर महाराजाधिराज पर-परमेश्वर' कहता है।

वाक्पतिराज द्वारा लिखित 'गौडवहो' नामक काव्य का कथन है कि कान्य-कुब्ज-नरेश यशोवर्मा मगधनाथ को परजित किया था। अनेक विद्वान इस मगध-नाथ को जीवितगुप्त, द्वितीय मानते है, यदि यह समीकरण सत्य है तो उत्तर-कालीन गुप्त-राज्य का पतन आठवी शताब्दी में हो गया था।

अध्याय १४

मौखरी-वंश

साहित्यिक साक्ष्य—मौखरी-वश भारत का एक प्राचीनवश प्रतीत होता है। प्रसिद्ध वैयाकरण कैयट और वामन दोनो ने अपने लेखों में 'मौखर्या' शब्द का प्रयोग किया है। पतजलि ने अपने महाभाष्य मे 'मुखर' शब्द का प्रयोग किया है। इन आधारो पर विद्वानो का निष्कर्ष है कि मौखरी जाति निश्चित रूप से पतजलि के समय तक (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) एक महत्वपूर्ण जाति समझी जाती थी। पतजलि का महाभाष्य पाणिनि की अष्टाध्यायी पर टीका है। इस आधार पर कुछ विद्वान् यह भी अनुमान करते है कि सम्भवत मौखरी जाति से स्वय पाणिनि भी परिचित थे। पाणिनि का काल ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर ई० पू० चौथी शताब्दी के बीच में रक्खा जाता है।

अभिलेखिक साक्ष्य—इन साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त कुछ अभिलेखिक साक्ष्य भी मौखरियो की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं—

(१) गया राजमुद्रा—कनिघम महोदय ने गया मे एक राजमुद्रा प्राप्त की थी। इस पर 'मोखलिनम्' लिखा हुआ है। लिपि से अनुमान होता है कि यह राजमुद्रा मौयकालीन है। इस आधार पर मौखरी ई० पू० चौथी शताब्दी मे रक्खे जा सकते है।

(२) बडवा अभिलेख—डा० अल्तेकर ने भूतपूर्व कोटा राज्य के बडवा नामक स्थान पर एक अभिलेख प्राप्त किया था। इसमें मौखरी-वश के महासेनापति बल और उसके तीन पुत्रो का उल्लेख है। अभिलेख की तिथि २३९ ई० है।

(३) बराबर और नागार्जुनि गुहा-अभिलेख—इनसे मौखरी-वश के तीन राजाओं—यज्ञवर्मा, शार्दूलवर्मा और अनन्तवर्मा—के नाम ज्ञात होते हैं। लिपि के आधार पर ये लेख पाँचवी शताब्दी के अन्तिम भाग में रक्खे जाते हैं।

गया राजमुद्रा और बराबर एव नागार्जुनि गुहा-लेखो से सकेत मिलता है कि मौखरियो का उदय-स्थान बिहार में गया का समीपवर्ती प्रदेश था।

गया राजमुद्रा मे मौखरी-वश का उल्लेख बहुवचन (मोखलिनम्= मौखर्याणाम्) मे किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस राजवश की शासन पद्धति प्रारम्भ में गणतन्त्रात्मक थी।

आदि-पुरुष—जौनपुर अभिलेख मे इस वश का नाम 'मौखर' मिलता है। हरहा अभिलेख मे 'मौखरी' शब्द मिलता है। हर्षचरित मे 'मुखर' और 'मौखरी' दोनों रूप मिलते हैं।

कैयट, वामन और बाण के कथनों से प्रकट होता है कि मौखरियों का आदि पुरुष 'मुखर' था। परन्तु हरहा अभिलेख हमें यह सूचना देता है कि यह वंश वैवस्वत मनु के वंशज राजा अश्वपति से उत्पन्न हुआ था।

जाति—डा० जायसवाल के मतानुसार मौखरी वर्तमान गया जिले में बसी हुई मौहरी जाति के पूर्वज थे। आज मौहरी वैश्य जातीय हैं।

परन्तु हरहा अभिलेख के साक्ष्य से प्रकट होता है कि मौखरी क्षत्रिय थे, क्योंकि वैवस्वत मनु सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे। इस कथन की पुष्टि मौखरियों के 'वर्धन' से अन्त होने वाले नामों से भी की जाती है। प्राचीन भारत मे क्षत्रिय नामो के अन्त मे बहुधा 'वर्धन' जुड़ा रहता था।

गया के मौखरी—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बराबर और नागार्जुनी गुहा-लेखो मे तीन मौखरी-नरेशो के नाम मिलते हैं—(१) यज्ञवर्मा, (२) शार्दूलवर्मा (३) अनन्तवर्मा। इनमें शार्दूलवर्मा को 'सामन्त चूडामणि' कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह वंश स्वतन्त्र राजवंश न था। अभिलेखों की लिपि से स्पष्ट हो जाता है कि यह वंश पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा छठी शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में शासन कर रहा था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह वंश गुप्त-वंश के अधीन था। इस मौखरी-वंश के पतन के पश्चात् ही मगध मे उत्तर-कालीन गुप्त-वंश का उदय हुआ होगा।

यह स्पष्टरूप से ज्ञात नही है कि बडवा अभिलेख में मौखरी-वंश के साथ इस वंश का क्या सम्बन्ध था।

कान्यकुब्ज के मौखरी—असीरगढ़ राजमुद्रा से एक अन्य मौखरी-वंश का ज्ञान होता है। यह सबसे प्रमुख मौखरी-वंश था। इसमें निम्नलिखित राजा हुए—(१) महाराज हरिवर्मा (२) महाराज आदित्यवर्मा (३) महाराज ईश्वरवर्मा (४) महाराजाधिराज ईशानवर्मा (५) महाराजाधिराज सर्ववर्मा (६) महाराजाधिराज अवन्तिवर्मा (७) महाराजाधिराज ग्रहवर्मा।

इस बात का कोई प्रमाण नही है कि यह मौखरी वंश किसी भी प्रकार गया अथवा बड़वा के मौखरियो से सम्बन्धित था।

इस सूची में प्रथम तीन मौखरी राजाओ के लिये 'महाराज' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ये सामन्त शासक थे। इस वंश के समस्त अभिलेख और सिक्के उत्तर प्रदेश में प्राप्त हुए हैं[1]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस वंश का उदय उत्तर प्रदेश में ही हुआ था। इस वंश का उदय पाँचवी

---

1 'As all the inscriptions of the family, other than the small seals, and their coins have been found within the limits of U. P., we may regard it roughly as the seat of their power'.

—C A, p. 68

शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ।[1] अतः निश्चितरूप से यह वंश प्रारम्भ में गुप्त-वंश के अधीन शासन करता होगा।

हरिवर्मा—यह कान्यकुब्ज के मौखरी राजवंश का संस्थापक था। असीरगढ़ राजमुद्रा का कथन है कि इसने अपनी वीरता और प्रेम से अनेक राजाओं को अपने अधीन कर लिया था तथा इसकी कीर्ति चारो समुद्रो के पार चली गई थी। हरहा अभिलेख में इसे 'ज्वालामुख' कहा गया है। परन्तु ये सारे कथन विशेष महत्व नही रखते, क्योंकि हरिवर्मा सामन्त शासक ही था।

आदित्यवर्मा—इस राजा ने उत्तरकालीन गुप्त-वंश के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर अपने वश की स्थिति अधिक दृढ की। असीरगढ़ राजमुद्रा में इसकी पत्नी का नाम हर्षगुप्ता दिया गया है। यह उत्तरकालीन गुप्त-वंश के राजा हर्षगुप्त की बहिन प्रतीत होती है।[2] हरहा अभिलेख आदित्यवर्मा के यज्ञों का उल्लेख करता है। परन्तु 'महाराज' की उपाधि से सिद्ध होता है कि आदित्यवर्मा भी सामन्त शासक था।

ईश्वरवर्मा—इस मौखरी-नरेश ने भी उत्तरकालीन गुप्त-वंश के साथ मैत्री बनाये रखने के लिये विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया। असीरगढ राजमुद्रा से ज्ञात होता है कि इसने उपगुप्ता के साथ विवाह किया था। नाम से अनुमान किया जा सकता है कि यह भी उत्तरकालीन गुप्त-वश की राजकुमारी थी।

जौनपुर अभिलेख में ईश्वरवर्मा की सफलताओ का उल्लेख है। अभाग्यवश इस अभिलेख के अनेक भाग टूट गये हैं जिसके कारण उसके उल्लेख भलीभाँति समझ में नही आते। इस अभिलेख से निम्नलिखित तथ्यों का पता चलता है—

(१) क्रूर मनुष्यो के आगमन ने उसकी प्रजा के लिये संकट उत्पन्न कर दिया था। उसे दूर कर उसने प्रजा की रक्षा की। यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि ये क्रूर मनुष्य कौन थे। सम्भव है कि ये हूण हों और ईश्वरवर्मा ने अपने अधिपति गुप्त-सम्राट् की ओर से उनसे युद्ध किया हो।

(२) आन्ध्रपति ने सशकित होकर विन्ध्य पर्वत की गुफाओं में शरण ली।

(३) जौनपुर अभिलेख सौराष्ट्र में स्थित रैवतक पर्वत का भी उल्लेख करता है। परन्तु अभिलेख के टूटे होने के कारण सन्दर्भ समझ में नही आता।

---

1 '.....We feel justified in assuming that the Mankharis began their rule over Kanauj sometime about the close of the fifth century AD'.

—Tripathi, HK, p. 60

2 Harshagupta 'was probably the sister of the Later Gupta King, Harshagupta, as it was a common practice in those days for brothers and sister to bear Such identical names, of course with variations of gender in the ending to indicate the sex'

—Tripathi, HK., p. 37

(४) इस अभिलेख में उल्लिखित 'धारामार्ग-विनिर्गताग्निकणिका' शब्द बड़े विवादग्रस्त हैं। डा० फ्लीट का मत है कि यहाँ धारा नगरी का बोध होता है। डा० बसाक और डा० सरकार धारा का अर्थ तलवार की धार मानते हैं।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि जौनपुर अभिलेख से यह अर्थ निकलता है कि ईश्वरवर्मा ने धारा-नरेश, विन्ध्य-नरेश और रैवतक (सौराष्ट्र) प्रदेश से युद्ध किया था और उन सबको परास्त किया था। इन विजयों के फलस्वरूप वह बड़ा शक्तिशाली हो गया और उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। परन्तु डा० मुकर्जी के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आसीरगढ राजमुद्रा ईश्वरवर्मा के लिये एकमात्र 'महाराज' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मौखरी-नरेश गुप्त-सम्राटों के अधीन थे। अतः ईश्वरवर्मा ने गुप्त-सम्राट् के लिये ही ये युद्ध किये होंगे।

ईशानवर्मा—यह ईश्वरवर्मा और उपगुप्ता का पुत्र था। यह बडा पराक्रमी राजा सिद्ध हुआ। हरहा अभिलेख इसके शासक की अनेक घटनाओं पर प्रकाश डालता है। यह अभिलेख ईशानवर्मा के पुत्र सूर्यवर्मा द्वारा कराये गये एक शिव-मन्दिर के जीर्णोद्धार का वर्णन करता है।

(१) हरहा अभिलेख की तिथि ६११ है। सम्भवतः यह विक्रम सवत् की तिथि है। यह ५५४ ई० के बराबर है। ईशानवर्मा की एकमात्र यही तिथि ज्ञात है।

(२) इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि ईशानवर्मा के सिंहासन पर बैठने के समय पृथ्वी 'स्फुटितनौ' (टूटी नौका) के समान थी। ईशानवर्मा ने उसे अपने गुणों (रस्सियों) से बचाया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ईश्वरवर्मा के शासन के अन्तिम चरण में मौखरी-राज्य पर कुछ शत्रुओं ने आक्रमण किया था। शत्रुओं को पराजित करने के पूर्व ही ईश्वरवर्मा की मृत्यु हो गई और अन्त में उनका दमन उसके पुत्र ईशानवर्मा ने किया।

(३) हरहा अभिलेख का कथन है कि ईशानवर्मा ने आन्ध्रों, शूलिकों और समुद्रतटीय गौडों को परास्त किया था[1]।

डा० रायचौधरी और डा० सरकार का मत है कि ईशानवर्मा का समकालीन आन्ध्र-नरेश माधववर्मा प्रथम था। यह विष्णुकुण्डन वंश का था। इसने गोदावरी को पार कर पूर्व में अपने राज्य-विस्तार की चेष्टा की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मौखरी-वंश और आन्ध्रवंश की पुरानी शत्रुता थी। जौनपुर अभिलेख से प्रकट होता है कि ईश्वरवर्मा ने भी आन्ध्रों को पराजित किया था।

---

1 जित्वान्ध्राधिपतिं सहस्रगणित
मेधाक्षरद्वारणं
व्यावल्गन्नि युतातिसंख्यतुरगान्
अङ्क्त्वा रणे शूलिकाम्,
कृत्वा चायति मोचित स्थलभुवो
गौडान् समुद्राश्रया
नध्यासिष्टनतक्षितीशचरणः
सिंहासनं यो जिती।

शूलिकों के समीकरण के विषय में मतभेद है। फादर हेरास का मत है कि वे चोल थे। डा० रायचौधरी का मत है कि वे चालुक्य थे। डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने यह मत प्रतिपादित किया है कि वे हूण थे।

यह महत्वपूर्ण बात है कि अफसद अभिलेख के अनुसार उत्तरकालीन गुप्त-वंश के राजा जीवितगुप्त प्रथम ने भी समुद्रतटीय शत्रु से युद्ध किया था।[1] सम्भव है कि इसी शत्रु के विरुद्ध ईशानवर्मा ने भी युद्ध किया होगा। जीवितगुप्त प्रथम और ईशानवर्मा समकालीन थे। दोनो ही गुप्त-वश के अधीन सामन्त थे। अतः यह भी अनुमान किया जा सकता है कि अपने आधिपति की ओर से दोनो राजाओं ने सम्मिलित रूप से गौड-नरेश से युद्ध किया हो। फरीदपुर एव मल्लसरुल ताम्रपत्रो से प्रकट होता है कि बगाल में गोपचन्द्र, धर्मादित्य और समाचारदेव ने गुप्त-साम्राज्य के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। इन्होने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। इस स्वतन्त्र राजवश की स्थापना ५०७ ई० के पश्चात् हुई होगी। सम्भव है कि जीवितगुप्त प्रथम और ईशानवर्मा ने इसी विद्रोही राजवश को पुन गुप्त-साम्राज्य मे लाने के लिये इससे युद्ध किया हो।

स्वतन्त्रता की घोषणा—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रथम तीन मौखरी नरेश—हरिवर्मा, आदित्यवर्मा और ईश्वरवर्मा—सामन्त शासक थे। इन्हें एक मात्र 'महाराज' कहा गया है। सम्भवत ये गुप्त-सम्राटो के अधीन थे। धीरे-धीरे गुप्त-साम्राज्य निर्बल होता जा रहा था और मौखरी-वश की शक्ति बढती जा रही थी। ईश्वरवर्मा और ईशानवर्मा के सफल युद्धो ने मौखरी-वश की शक्ति और प्रतिष्ठा दोनों में वृद्धि की थी। अन्त में चौथे मौखरी-नरेश ईशानवर्मा ने गुप्त-साम्राज्य के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। इसमे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इसने अपने नाम से मुद्राये भी चलाई।

मौखरी-गुप्त-सघर्ष—मौखरी-वश की भाँति उत्तरकालीन गुप्त-वश भी गुप्तो के अधीन था। अभी तक मौखरियों और उत्तरकालीन गुप्तों में मित्रता थी। मौखरी-नरेशो आदित्यवर्मा और ईश्वरवर्मा ने क्रमश हर्षगुप्ता और उपगुप्ता के साथ विवाह किया था। ये उत्तरकालीन गुप्त-वश की राजकुमारियाँ थी।

परन्तु जब मौखरी-नरेश ईशानवर्मा ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करते हुए 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की तो उत्तरकालीन गुप्त-वश ने उसे अपनी सुरक्षा के लिये एक खतरा समझा। इसी समय से दोनों राजवशों में शत्रुता का सूत्रपात हुआ जो कई पीढियो तक चलता रहा।

ईशानवर्मा की पराजय—ईशानवर्मा का उत्तरकालीन गुप्त-नरेश कुमारगुप्त था। अफसद अभिलेख से विदित होता है कि इन दोनों में युद्ध हुआ और इसमें

---

१ आम्यद्दन्तिकरावलन कवलीकाण्डासु वेलास्वपि।

कुमारगुप्त ने ईशानवर्मा को पराजित कर दिया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस विजय के परिणामस्वरूप कुमारगुप्त ने मौखरी-राज्य के पूर्वी भाग पर अधिकार भी कर लिया। अफसद अभिलेख के कथनानुसार कुमारगुप्त का दाह-संस्कार प्रयाग में हुआ था।

सूर्यवर्मा—महाशिवगुप्त के सिरपुर अभिलेख में सूर्यवर्मा का उल्लेख है। यह वर्मन्-वशीय था और इसके वश का अधिकार मगध पर था। हरहा अभिलेख मे ईशानवर्मा के एकपुत्र—सूर्यवर्मा—का उल्लेख है। इसने एक शिव-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। सम्भव है कि दोनों सूर्यवर्मा एक ही व्यक्ति हो। इससे यह भी प्रकट होता है कि सम्भवतः ईशानवर्मा ने मगध पर भी अधिकार कर लिया था। मगध में ईशानवर्मा की कुछ मुहरें भी मिली हैं। परन्तु कुमारगुप्त ने उसे पराजित कर इस अधिकार का न केवल अन्त कर दिया वरन् मौखरी राज्य के पूर्वी भाग को भी छीन लिया।

सूर्यवर्मा का कोई अन्य लेख नही मिलता। अत· अनुमान किया जा सकता है कि उसकी मृत्यु अपने पिता के शासन-काल में ही हो गई थी।

सर्ववर्मा—ईशानवर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सर्ववर्मा सिंहासन पर बैठा। असीरगढ राजमुद्रा से ज्ञात होता है कि इसने भी 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी।

इसके समय में उत्तरकालीन गुप्त-वंश में दामोदरगुप्त शासन कर रहा था। अफसद अभिलेख से प्रकट होता है कि सववर्मा और दामोदर गुप्त का भी युद्ध हुआ। इस युद्ध मे दामोदरगुप्त पराजित हुआ और मारा गया। इस विजय के परिणामस्वरूप सर्ववर्मा ने मगध के बडे भूभाग पर अधिकार कर लिया। इस कथन की पुष्टि देवबरनार्क अभिलेख से होती है। यह मगध में पाया गया है। इसमें सर्ववर्मा के ग्राम-दान का उल्लेख है।

अपनी इस विजय के पूर्व सर्ववर्मा ने हूणो को भी पराजित किया था। अफसद अभिलेख में कहा गया है कि मौखरी (सर्ववर्मा) की गज-सेना ने युद्ध में हूण-सेना को नष्ट कर दिया था[2]। डा० रमाशकर त्रिपाठी का कथन है कि सर्ववर्मा का यह कार्य हूण-आक्रमण के विरुद्ध वर्धन-वश को सहायता देने के लिये किया गया था।[3]

---

1. भीमः श्रीशान वर्मक्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिन्धुलक्ष्मी सम्प्राप्ति हेतुः सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन।
2. यो मौखरें, समितिषूद्धतहूणसैन्य-बल्गत्घटा विघटयन्नुरुवारणानाम्।
3. 'Sarvavarman's undertakings against the Hunas were a sort of help given to the Vardhanas to repel their depredations and save northern India from another Huna upheaval' —HK. p. 47

अवन्तिवर्मा—नालन्दा राजमुद्रा से विदित होता है कि सर्ववर्मा के पश्चात् उसका पुत्र अवन्तिवर्मा मौखरी-सिंहासन पर बैठा। भिटौरा मुद्रा-भाण्ड में अवन्तिवर्मा, सर्ववर्मा और ईशानवर्मा की मुद्रायें साथ-साथ मिली हैं। बाण के हर्षचरित में भी अवन्तिवर्मा का उल्लेख हुआ है।[1]

कुछ विद्वानों के मतानुसार अवन्तिवर्मा संस्कृत के महान् नाटककार विशाखदत्त तथा बाण के गुरु भव (भत्तु) का आश्रयदाता था।

इस समय उत्तरकालीन गुप्त-वंश में महासेनगुप्त राज्य कर रहा था। हर्ष के मधुवन दानपत्र तथा सोनपत राजमुद्रा से ज्ञात होता है कि थानेश्वर के वर्धन-वंश के राजा प्रभाकरवर्धन की माता का नाम महासेनगुप्ता था। यह महासेनगुप्त की बहन प्रतीत होती है। सम्भव है कि मौखरी-वंश के भय से महासेनगुप्त ने वर्धन-वंश के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया हो। इस सन्धि का परिणाम अच्छा हुआ और महासेनगुप्त को अवन्तिवर्मा के विरुद्ध युद्ध नहीं करना पड़ा[2]।

ग्रहवर्मा—हर्षचरित से प्रकट होता है कि अवन्तिवर्मा के पश्चात् उसका ग्रहवर्मा राजा हुआ। इसी ग्रन्थ से प्रकट होता है कि ग्रहवर्मा ने थानेश्वर के वर्धन-नरेश प्रभाकरवर्धन के पास अपना दूत भेजकर उसकी पुत्री राज्यश्री के साथ विवाह करने का प्रस्ताव किया था। प्रभाकरवर्धन ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और थानेश्वर में दोनों का विवाह सम्पन्न हुआ। सम्पूर्ण वर्णन से प्रकट होता है कि विवाह के समय ग्रहवर्मा का पिता अवन्तिवर्मा जीवित न था।

इस विवाह-सम्बन्ध ने राजनीतिक क्षेत्र में बड़े महत्वपूर्ण प्रभाव उत्पन्न किये। इससे वर्धन और मौखरी-वंश मित्र बन गये। इस समय मालवा में देवगुप्त का राज्य था। इसका उल्लेख मधुवन और बाँसखेड़ा अभिलेखों में किया गया है। नाम से अनुमान किया जा सकता है कि यह उत्तरकालीन गुप्त-वंश का राजा था। सम्भव है कि यह महासेनगुप्त का पुत्र अथवा सम्बन्धी हो। महासेनगुप्त और उसके पुत्र माधवगुप्त एवं कुमारगुप्त के विरुद्ध इसने मालवा में अपना राज्य स्थापित किया था! सम्भवतः इसीलिये माधवगुप्त और कुमारगुप्त थानेश्वर की राजसभा में रहते थे। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि थानेश्वर-नरेश प्रभाकरवर्धन ने देवगुप्त के विरुद्ध इन राजकुमारों का पक्ष लिया था। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन को 'मालवलक्ष्मीलतापरशु.' (मालवों की लक्ष्मीरूपी लता के लिये

---

1 धरणीधराणां च मूर्ध्नि स्थितो माहेश्वरः पादन्यास इव सकलभुवन नमस्कृतो मौखरी वंशः।

2 ' . the Pushyabhuti alliance of Mahasenagupta was probably due to his fear of the rising power of the Mankharis. The policy was eminently successful, and during his reign we do not hear of any struggle worth that family'—PHAI, pp. 606-7

परशु के समान) कहा गया है। सारांशतः उत्तरकारलीन गुप्त-नरेश देवगुप्त वर्धनों और उनके मित्र मौखरियों दोनों के विरुद्ध था। आगामी घटनाओं के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मालवराज ने गौड-नरेश शशांक से मित्रता कर ली थी।

इस प्रकार ग्रहवर्मा के समय में उत्तरी भारत दो शिविरों में विभक्त हो गया था। एक शिविर मे ग्रहवर्मा और वर्धन-नरेश प्रभाकरवर्धन तथा उनके पुत्र थे। दूसरे शिविर में मालवराज देवगुप्त और गौड-नरेश शशाक थे। बाण के हर्षचरित से प्रकट होता है कि मालवराज ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण करके ग्रहवर्मा को मार डाला। इस प्रकार मौखरी-राजवश का अन्त हो गया।

साम्राज्य विस्तार—वर्तमान उत्तर प्रदेश निश्चितरूप से मौखरी-साम्राज्य मे था। मौखरी अभिलेख जौनपुर और हरहा (बाराबकी) में मिले हैं। उनकी मुद्रायें भी उत्तरप्रदेश के अनेक नगरों—भिटौरा, अयोध्या एव अहिच्छत्र में मिली हैं।

किसी समय मगध भी मौखरी-साम्राज्य का अग रहा। यहाँ देवबरनार्क अभिलेख मिला है। इससे विदित होता है कि सर्ववर्मा और अवन्तिवर्मा ने मगध मे ग्राम-दान किया था।

मौखरी-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा वर्धन-वश के थानेश्वर-राज्य को छूती थी।

पंजाब—अरवमूथन महोदय ने पजाब को भी मौखरी-साम्राज्य में माना है। उनके मत का आधार पूर्वी पजाब के काँगडा जिले में प्राप्त निर्मन्द अभिलेख है। इसमे एक महाराज सर्ववर्मा का उल्लेख है। अरवमूथन महोदय महाराज सर्ववर्मा को मौखरी-नरेश सर्ववर्मा मानते हैं।[1]

परन्तु यह समीकरण असगत है, क्योंकि निर्मन्द अभिलेख का सर्ववर्मा एक सामन्त शासक प्रतीत होता है, जबकि महाराजाधिराज सर्ववर्मा मौखरी एक प्रभुसत्ताधारी सम्राट् था।

पुन, पजाब और कान्यकुब्ज के मौखरी-राज्य के बीच थानेश्वर का स्वतन्त्र राज्य था। अतः मौखरी पजाब तक अपना राज्य-विस्तार कैसे कर सकते थे ?

मध्यप्रदेश—मध्यप्रदेश के असीरगढ़ में मौखरी-नरेश सर्ववर्मा की राजमुद्रा

---

1 Sarvavarman 'had been able to extend his dominions so far west in the course of his wars with the Hunas—Aravamuthan, the Kaveri, the Mankharis and the Sangam Age, p. 97

मिली है। इस आधार पर अखमूथन ने मध्यप्रदेश को भी मौखरी-साम्राज्य में माना है।[1] परन्तु एकमात्र एक राजमुद्रा के आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यह राजमुद्रा किसी यात्री अथवा व्यापारी के माध्यम से भी मध्यप्रदेश में पहुँच सकती थी।

राजधानी—बाण के हर्षचरित से स्पष्ट हो जाता है कि मौखरी-साम्राज्य की राजधानी कान्यकुब्ज थी। यही कारण है कि मालवराज ने ग्रहवर्मा को मार कर उसकी पत्नी राज्यश्री को कान्यकुब्ज की कारागार में बन्द कर रक्खा था। विन्ध्याचल से अपनी बहन को ढूढ कर उसके साथ हर्ष कान्यकुब्ज ही वापस आया था।

1 Asirgar was a, Mankhari outpost in the Deccan'
—Ibid

अध्याय १५

वर्धन-वंश

श्रीकण्ठ—बाण अपने हर्षचरित में श्रीकण्ठ नामक जनपद का वर्णन करता है। इसमें आधुनिक दिल्ली और हरयाणा प्रदेश सम्मिलित थे। यह जनपद बडा सुखी और समृद्ध था। परन्तु ह्वेनसांग यहाँ के निवासियों की निन्दा करता है। उसके कथनानुसार वे अन्धविश्वासी, संकीर्णबुद्धि और अनुदार थे। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकण्ठ जनपद में बौद्धेतर निवासी बहुसंख्यक थे। इन निवासियों के धार्मिक विश्वासों को ही ह्वेनसांग ने अन्धविश्वास, संकीर्णता तथा अनुदारता कहा है।

थानेश्वर—इसी श्रीकण्ठ जनपद मे थानेश्वर एक अन्तर्भुक्ति था। इसका समीकरण हरयाणा में स्थित थानेसर नगर के चतुर्दिक प्रदेश से किया जाता है। इसी प्रदेश मे वर्धन-वश का उदय हुआ। हर्षचरित से प्रकट होता है कि इस वश का सस्थापक पुष्पभूति था। यह शैव धर्मावलम्बी था।

वर्धन-वश के अभिलेखों[1] में पुष्पभूति का नाम नही मिलता। उनमें जो वंशावली मिलती है वह इस प्रकार है—

(१) नरवर्धन, (२) राजयवर्धन (प्रथम), (३) आदित्यवर्धन, (४) प्रभाकर वर्धन।

इनमे प्रथम तीन राजा 'महाराज' कहे गये है। इससे प्रकट होता है कि ये गुप्तों अथवा हूणों अथवा कभी गुप्तो और कभी हूणो के अधीन थे।[2] आदित्यवर्धन की पत्नी महासेनगुप्ता सम्भवत उत्तरकालीन गुप्त-वश के राजा महासेनगुप्त की बहन थी। इससे प्रतीत होता है कि वर्धनो और उत्तरकालीन गुप्तों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। प्रथम तीन राजाओं को ५०० ई० और ५८० ई० के बीच रक्खा जा सकता है।

जाति—वर्धन-वश वैश्यजातीय था। ह्वेनसांग ने इसे फीशो (वैश्य) कहा है। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प भी इसे वैश्य बताता है।

प्रभाकरवर्धन—वर्धनवश में सर्वप्रथम इसी राजा को 'महाराजाधिराज की उपाधि से पुकारा गया है। हर्षचरित इसे 'प्रतापशील' भी कहता है। भिटौरा मुद्रा-भाण्ड में 'प्रतापशील' की मुद्रायें भी मिली हैं।

---

1 बांसखेड़ा ताम्रपत्र (२२ हर्ष संवत्), मधुबन ताम्रपत्र (२५ हर्ष संवत्), सोनीपत राजमुद्रा, नालन्दा राजमुद्रा।

2 CA, p. 97

हर्षचरित प्रभाकरवर्धन का वर्णन इस प्रकार करता है—

(१) हूणहरिणकेसरी.—वह हूणरूपी हिरनों के लिये सिंह के समान था।

(२) सिन्धुराजज्वर.—सिन्धु-नरेश के लिये ज्वार के समान था।

(३) गुर्जरप्रजागरः—गुर्जरों की निद्रा को हरनेवाला था।

(४) गन्धाराधिपगन्धद्विपकूटपाकल.—गन्धार-नरेश-रूपी हाथी के लिये एक भयंकर महामारी के समान था।

(५) लाटपाटवपाटच्चरः—लाटों की कुशलता को लूटनेवाला।

(६) मालवलक्ष्मीलतापरशु.—मालवों की लक्ष्मीरूपी लता के लिये परशु के समान।

सी० वी० वैद्य और राधाकुमुद मुकर्जी ने यह मत प्रतिपादित किया था कि प्रभाकरवर्धन ने पश्चिमी पंजाब (हूण-राज्य), सिन्ध, राजस्थान का भाग (गुर्जर-प्रदेश), गन्धार, लाट (गुजरात का भाग) और मालवा पर अधिकार कर लिया था। परन्तु बाण का वर्णन काव्यात्मक है। इसे अक्षरशः सत्य नहीं माना जा सकता। इनमे से सिन्ध, गन्धार, लाट जैसे प्रदेशों पर तो उसके अधिक प्रतापी पुत्र हर्ष का भी राज्य न था। हाँ, यह सम्भव है कि प्रभाकरवर्धन की इन सभी राज्यों से शत्रुता हो।

हूण-आक्रमण—ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु नदी के पश्चिम मे जाबुल में हूण राज्य था जो अब भी भारत पर अधिकार करने की चेष्टा कर रहा था। हूणों और प्रभाकरवर्धन के बीच कभी युद्ध हुआ होगा। कम से कम दोनों में शत्रुता अवश्य थी। इसी से हर्षचरित मे प्रभाकरवर्धन को 'हूणहरिणकेसरी' कहा गया है। हर्षचरित से ज्ञात हो इन हूणों ने लगभग ६०४ ई० में भारत पर आक्रमण किया। प्रभाकरवर्धन ने उनका दमन करने के लिये अपने बड़े पुत्रों राज्यवर्धन और हर्षवर्धन को एक बड़ी सेना के साथ भेजा।[1] राज्यवर्धन और हूणो में बड़ा भयकर युद्ध हुआ। इसमें राज्यवर्धन के शरीर पर बाणो के अनेक घाव लगे।[2] अभी युद्ध चल ही रहा था कि थानेश्वर में प्रभाकरवर्धन बीमार पड गये और उनकी मृत्यु हो गई। इस कारण राज्यवर्धन को राजधानी वापस आना पडा।[3]

प्रभाकरवर्धन की मृत्यु

उत्तराधिका का प्रश्न—हर्षचरित का कथन है कि हूणो का सामना करने के लिये राज्यवर्धन आगे निकल गये थे और हर्षवर्धन आखेट करते हुए पीछे रह गये थे। इसलिये प्रभाकरवर्धन की गम्भीर बीमारी का समाचार पहले हर्ष को मिला। हर्ष तत्काल राजधानी वापस आ गये। प्रभाकरवर्धन की दशा बिगड़ती

1. अपरिमित बलानुयातम्।
2. हूणनिर्जयसमरशर व्रणबद्ध पट्टकै दीर्घधवलैः।
3. क्षितिरियं तवेति। ... स्वीक्रियतां कोशाः... आत्मीक्रियतां राजकमिति। ...उह्यतां राज्यभार....।अभयो भेयाः।

गई और उनके बचने की कोई आशा न रही। यह देख कर प्रभाकरवर्धन की पत्नी यशोमती सती हो गई।

अभी तक राज्यवर्धन राजधानी वापस नहीं आ पाये थे। अतः रोगशैय्या पर पड़े हुए प्रभाकरवर्धन ने छोटे राजकुमार हर्ष को बुलाकर इस प्रकार कहा—'यह पृथ्वी तुम्हारी है.. राजकोश अपने हाथ में करो।... राजसमूह को अपनाओ... राज्य-भार सँभाल।... शत्रुओं का दमन करो...।

डा० स्मिथ और डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रभाकरवधन अपने छोटे पुत्र हर्ष का राजा बनाना चाहते थे। इसी से उन्होंने मरते समय उसे इस प्रकार का सलाह दी।

परन्तु यह मत असगत है। प्रभाकरवर्धन ने यह सलाह हर्ष को इसलिये दी कि उस समय तक राज्यवर्धन राजधानी में वापस नहीं आ पाये थे। वस्तुतः प्रभाकरवर्धन का कथन दोनो भाइयो के लिये था। इस मत की पुष्टि हर्षचरित के अन्त.साक्ष्य से भी होती है। जिस समय हर्ष को यह ज्ञात हुआ कि राज्यवर्धन सन्यास लेना चाहते हैं और राज्य का भार उन पर (हर्ष पर) डालना चाहते हैं तो उन्होंने निम्नलिखित शब्दो मे इस प्रस्ताव का विरोध किया—

"मुझसे राज्य करने के लिय कहना वैसा ही है जैसा कि 'श्रोत्रिय को मदिरा-पान करने, सद्भृत्य को अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करने, सज्जन को अधम के साथ आचार-विचार करने अथवा सती को अपना सतीत्व त्यागने के लिये कहना।"

दो परस्पर-विरोधी शिविर—हर्षचरित से दो बातें प्रकट होती हैं—

(१) उत्तरकालीन गुप्त-वंशीय महासेनगुप्त मालवराज कहा गया हैं उसके पुत्र माधवगुप्त और कुमारगुप्त थानेश्वर की राजसभा में रहते थे।

(२) प्रभाकरवर्धन को 'मालवलक्ष्मीलतापरशुः' कहा गया है जिससे यह प्रकट होता है कि वह मालवराज का शत्रु था।

इन परस्पर-विरोधी बातों का समाधान इस प्रकार हो सकता है—

दामोदरगुप्त की पराजय के पश्चात् मगध राज्य पर मौखरी-वंश का अधिकार हो गया। अत. दामोदरगुप्त का पुत्र एव उत्तराधिकारी महासेनगुप्त मगध छोड़कर मालवा में आ गया और वहाँ उसने नवीन राज्य की स्थापना की। महासेनगुप्त की बहन महासेनगुप्ता थानेश्वर-नरेश प्रभाकर-वर्धन की माता थी। अतः महासेनगुप्त के दोनों पुत्रों का थानेश्वर में रहना आश्चर्यजनक नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मालवा में महासेनगुप्त का अधिकार अधिक समय तक नहीं रहा। वहाँ देवगुप्त नामक एक अन्य नरेश का उदय हुआ। इसका नाम बाँसखेडा ताम्रपत्र में मिलता है। यह भी उत्तरकालीन गुप्त-वंश का राजकुमार प्रतीत होता है। इसने सम्भवत. महासेनगुप्त से मालवा छीन लिया। प्रभाकर-वर्धन ने महासेनगुप्त और उसके पुत्रो का पक्ष लिया होगा। इसी से वह मालवा का शत्रु माना गया है।

इस स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है कि मालवानरेश देवगुप्त वर्धन-वंश का शत्रु था। वर्धन-वंश की राजकन्या राजश्री कान्यकुब्ज के मौखरी-नरेश ग्रहवर्मा की रानी थी। अतः देवगुप्त मौखरी-वंश का भी शत्रु था।

इस शत्रुता में देवगुप्त अकेला न था। उसके साथ गौड-नरेश शशांक था। डा० राखलदास बनर्जी का मत था कि शशांक उत्तरकालीन गुप्त-वंशीय था। यदि यह सत्य है तो दोनों उत्तरकालीन गुप्त-नरेशों—देवगुप्त और शशांक—में सन्धि होना स्वाभाविक था।

मौखरी-वंश का अन्त—थानेश्वर-राज्य के शत्रुओं ने उसकी विपदा का पूर्ण लाभ उठाया। इस राज्य की पश्चिमी सीमा पर हूण मँडरा रहे थे। प्रभाकर-वर्धन की मृत्यु हो चुकी थी। उसके दोनों राजकुमार अनुभवहीन युवक थे। थानेश्वर-राज्य का मित्र मौखरी-नरेश ग्रहवर्मा भी युवक था।

जिस समय थानेश्वर में राज्यवर्धन और हर्षवर्धन सिंहासन पर बैठने के लिये एक-दूसरे को मना रहे थे, उसी समय कान्यकुब्ज के एक दूत संवादक ने उन्हें सूचना दी कि 'जिस दिन राजा (प्रभाकरवर्धन) की मृत्यु का दुःखद समाचार मिला उसी दिन दुष्ट मालवराज ने महाराज ग्रहवर्मा की हत्या कर दी। राजपुत्री राज्यश्री को पैरों में बेड़ियाँ डालकर चोर की स्त्री की भाँति कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दिया गया है। ऐसा सुना जाता है कि वह दुष्ट यहाँ की सेना को सेनारहित समझकर इस राज्य पर भी आक्रमण करने का विचार कर रहा है।[1]

इस प्रकार मालवराज ने ग्रहवर्मा को मारकर कान्यकुब्ज के मौखरी-वंश का अन्त कर दिया।

मालवराज का समीकरण—बाण ने हर्षचरित में कहीं भी मालवराज का नाम नहीं बताया है। अत इसके समीकरण के प्रश्न पर मतभेद है—

(१) डा० डी० सी० गांगूली का मत है कि प्रारम्भ में महासेनगुप्त का राज्य था। उस पर कलचुरि-नरेश शकरगण ने आक्रमण किया और महासेनगुप्त को मार डाला। महासेनगुप्त के पुत्रों—कुमारगुप्त और माधवगुप्त—ने अपने सम्बन्धी प्रभाकरवर्धन के थानेश्वर राज्य में शरण ली। शकरगण के पश्चात् उसका पुत्र बुधराज मालवा का राजा हुआ। हर्षचरित में उल्लिखित मालवराज यही बुधराज था। इसी ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण करके ग्रहवर्मा की हत्या की थी।[2]

---

1 'यस्मिन्नहनि अवनिपतिरुपरत इति अभूत वार्ता तस्मिन्नेव देवो ग्रहवर्मा दुरात्मना मालवराजेन जीवलोकमात्मनः सुकृतेन सह। त्याजिता भर्तृदारिकापि राज्यश्रीः कालायसनिगडचुम्बितचरणा चौरांगनेव संयतकान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता। किंवदन्ती च ... एतामपि भुवमाजिगमिषतीति।'—हर्षचरित।

2 JBORS, XIX, pp. 399-400

परन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वर्धन-अभिलेखों में कहीं भी परोक्ष अथवा अपरोक्षरूप से बुधराज का नाम नहीं आया है।[1]

(२) मालवराज देवगुप्त प्रतीत होता है। इसका नाम मधुवन और बांसखेड़ा अभिलेखों में आया है। वहां कहा गया है कि राज्यवर्धन ने युद्ध में देवगुप्त आदि राजाओं को वश में किया।[2]

मालवराज की पराजय—हर्षचरित का कथन है कि ग्रहवर्मा की हत्या की सूचना पाते ही राज्यवर्धन ने संन्यास लेने का विचार छोड़ दिया। वे तत्काल सेनासहित मालवराज को दण्डित करने के लिये चल पड़े।

उसी ग्रन्थ का पुन: कथन है कि राज्यवर्धन ने बड़ी सरलता से मालव सेना को पराजित कर दिया।

राज्यवर्धन की हत्या—परन्तु गौड-नरेश उन्हें भुलावे में डालकर तथा विश्वास दिलाकर अपने घर ले गया। वहां जब वे अकेले और शस्त्रहीन थे तो गौड-नरेश ने उनकी हत्या कर दी।[3]

गौडाधिप का समीकरण—हर्षचरित में गौड-नरेश का भी नाम नहीं मिलता। बाण उसे गौडाधिप, गौडाधम, गौडभुजंग आदि नामों से पुकारते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि इस पापी का नाम लेने से ही मेरी जिह्वा पाप से लिप्त हो रही है।[4]

अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि गौड-नरेश शशांक था—

(१) ह्वेनसांग का कथन है कि हर्ष के पूर्वगामी राजा (राज्यवर्धन) को कर्णसुवर्ण के दुष्ट राजा शशांक ने मार डाला था।

(२) हर्षचरित की टीका करते हुए शंकरार्य ने लिखा है कि राज्यवर्धन की हत्या शशांक ने की थी।

---

1 "... it is rather surprising that a shadowy figure like Devagupta, and not Buddharaja, would be specially selected in the epigraphic records of the time of Harsha, for prominent notice among 'the kings who resembled wicked horses'." —PHAI, p. 607, fn. 3

2 राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादय:। कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखा: सर्वे समं संयता:।

3 तस्माच्च हेलानिर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचितविश्वासं मुक्तशस्त्रं एकाकिनं विश्रब्धं स्वभवने व्यापादितम्।

4 नामापि च गृह्णातोऽस्य पापकारिण: पातकलेप लिम्पत इवमे जिह्वा।

(३) बाण ने भी अप्रत्यक्षरूप से शशांक का नाम लिया है।[1]

(४) ब्यूलर महोदय ने हर्षचरित की एक प्रति में गौडाधिप का नाम नरेन्द्र-गुप्त पाया है।

(५) कुछ मुद्राओं पर भी 'नरेन्द्रविजित' लिखा मिलता है।

(६) बाण ने अप्रत्यक्षरूप से 'नरेन्द्र' का भी नाम लिया है।[2]

इन आधारों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यवर्धन का हत्यारा गौडाधिप शशांक था। सम्भवत इसका नाम नरेन्द्रगुप्त भी था। डा० राखलदास बनर्जी का मत है कि शशाक उत्तरकारीन गुप्त-वंशीय था।[3]

संघ—ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि देवगुप्त और शशांक की कार्य-वाही एक सम्मिलित योजना के अनुसार हुई थी। वे दोनों एक ही वंश के हों अथवा न हों, उनमें संघ की सम्भवना प्रतीत होती है। सम्भवत इस संघ में देवगुप्त और शशाक के अतिरिक्त कुछ अन्य राजा भी सम्मिलित थे। बाँसखेडा अभिलेख में देवगुप्त आदि राजाओं का उल्लेख है जिन्हें राज्यवर्धन ने संयत किया था। हर्ष के सेनापति सिंहनाद ने भी हर्ष को यह सम्मति दी थी कि एक शशांक ही क्या, आप तो ऐसा करें जिससे अन्य राजा भी इस प्रकार का आचरण न करें।[4]

राज्यवर्धन की हत्या कैसे हुई? ?—इस प्रश्न पर अनेक साक्ष्य प्रकाश डालते हैं—

(१) बाण का कथन है कि जब राज्यवर्धन ने बडी सरलतापूर्वक मालव-सेना को पराजित कर दिया तो गौडाधिप मिथ्याचार द्वारा विश्वास दिलाकर राज्यवर्धन को अपने घर ले गया और जब वे वहाँ अकेले और निःशस्त्र थे तो उन्हें मार डाला।[5]

(२) हर्षचरित के ऊपर टीका करते हुए शंकरार्य ने एक नवीन सूचना यह दी है कि शशाक ने दूत भेज कर राज्यवर्धन को यह वचन दिया कि वह अपनी कन्या का विवाह उनके साथ कर देगा। इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कर वह उन्हें अपने घर ले गया और जब वे भोजन कर रहे थे तो उसने उन्हें धोखे से मार डाला।[6]

(३) ह्वेनसांग का भी कथन है कि हर्ष का पूर्वगामी राजा (राज्यवर्धन) कर्णसुवर्ण के दुष्ट राजा शशांक द्वारा धोखे से मारा गया।

---

1 प्रकटकलंकमुदयमानं .... अकाशत आकाशे शशांकमण्डलम्।

2 महाशीविष इव दुर्नरेन्द्राभिभव शोषित...।

3 History of Orissa, Vol I. p. 129

4 किं गौडाधिपाधमेन तथा कुरु यथा नान्योऽपि किश्चदाचरत्येवं भूयः।

5 तस्माच्च हेलानिर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचित-विश्वासं मुक्तशस्त्रं एकाकिनं विश्रब्धं स्वभवने व्यापादितम्।

6 शशांकेन विश्वासार्थं दूतमुखेन कन्याप्रदानमुक्त्वाः प्रलोभितः राज्यवर्धनः स्वगेहे सानुचरो भुंजमानः एवं छद्मनः व्यापादितः।

(४) शशांक के विश्वासघात की पुष्टि बाँसखेड़ा अभिलेख से होती है। इसमें कहा गया है कि राज्यवर्धन ने सत्यानुरोध के कारण शत्रु के घर में अपने प्राण खोये।[1]

परन्तु डा० मजूमदार इस बात पर विश्वास करने के लिये तैयार नहीं हैं कि शशांक ने विश्वासघात से राज्यवर्धन की हत्या की थी। वे कहते हैं कि:(१) बाण और ह्वेनसाँग दोनों ही हर्ष के आश्रम में रहते थे। अतः वे विश्वसनीय नहीं हैं। रही शंकर की बात, तो वह १४वी शताब्दी में हुआ था। अतः उसका कथन भी असत्य हो सकता है। इसके अतिरिक्त सि-यु-कि (ह्वेनसाँग का विवरण) की एक प्रति में विश्वासघात की बात नही कह गई है।[2]

परन्तु डा० मजूमदार की आपत्तियाँ निर्बल हैं। बाण ने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख यथावत् किया है। ह्वेनसाँग ने पुलकेशिन् चालुक्य द्वारा हर्ष की पराजय का उल्लेख किया है। अत. इन दोनों पर मिथ्याचार का दोष लगाना अनुचित है। कालान्तर का लेखक होते हुए भी शकर ने अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को सुरक्षित रक्खा है। सि-यु-कि का वही कथन अधिक विश्वसनीय समझा जाना चाहिए जिसकी पुष्टि अन्य भारतीय साक्ष्यों द्वारा की जाय।

श्री आर० पी० चन्द का यह कथन नितान्त काल्पनिक है कि राज्यवर्धन युद्ध करते हुए अथवा आत्म-समर्पण करने के पश्चात् मारा गया था।

अत यही मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है कि अपने मित्र देवगुप्त की पराजय से गौड-नरेश शशांक घबड़ा गया। उसने राज्यवर्धन का युद्ध-भूमि में सामना न किया वरन् छलपूर्वक उसे मार डाला।[3]

हर्ष (६०६ ई०–६४७ ई०)

सिंहासनारोहण—राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् ६०६ ई० में हर्ष थानेश्वर के सहासन पर बैठा। इसी तिथि से हर्ष-सवत् प्रारम्भ हुआ।

कान्यकुब्ज—हर्षचरित का कथन है कि ग्रहवर्मा की हत्या होने पर उसके सारे सम्बन्धी कान्यकुब्ज छोडकर भाग गये। ग्रहवर्मा के कोई पुत्र न था। नालन्दा राजमद्रा से प्रकट होता है कि ग्रहवर्मा के एक भाई था जिसका नाम श्री सुव... था। इसका क्या हुआ, यह निश्चित रूप से ज्ञात नही है। ह्वेनसाँग का कथन

---

1 प्राणानुज्झितवानरातिभवनेसत्यानुरोधेन यः।

2 'Further details of this incident may be revealed someday by the discovery of fresh evidences but until then the modern historians might well suspend their judgment and at least refrain from accusing Sasanka of treachery, a charge not brought against him even by the brother of the murdered. —HB. p. 75

3 Gauda-raja-mata, pp. 8 ff

है कि बानि के नेतृत्व में कन्नौज के राजनीतिज्ञों ने हर्ष से प्रार्थना की कि वह कान्य-कुब्ज के राज्य को स्वीकार करे। हर्ष को सकोच हो रहा था। अतः उसने अवलो-कितेश्वर की सलाह ली। अवलोकितेश्वर ने कहा कि वह कान्यकुब्ज का शासन भार सँभाल ले, परन्तु न तो उसके सिंहासन पर बैठे और न 'महाराज' की उपाधि धारण करे। हर्ष ने यह सलाह मान ली और 'कुमार' की उपाधि से कान्यकुब्ज का शासन चलाने लगा।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष ने कान्यकुब्ज का राज्य अपनी बहन के सरक्षक (Regent) के रूप मे स्वीकार किया था। शे-किय-फेंग-चे का भी कथन है कि वह अपनी विधवा बहन की सहायता से कान्यकुब्ज का शासन चला रहा था।

शशाक—हर्ष को शशाक द्वारा विश्वासघात से राज्यवर्धन की हत्या का समाचार कुन्तलक नामक दूत से प्राप्त हुआ। हर्षचरित का कथन है कि उन्होने यह प्रतिज्ञा की कि यदि कुछ ही दिनो में मैं पृथ्वी को गौडों से हीन न कर दू तो प्रज्वलित अग्नि में पतग की भाति कूदकर अपने प्राण दे दूगा।[1]

इस प्रतिज्ञा के पश्चात् वे अभियान पर निकले। हर्षचरित का कथन है कि जब वे एक शिविर मे रुके हुए थे तब उनके पास कामरूप-नरेश भास्करवर्मा का एक दूत अपने स्वामी की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर आया। ऐसा प्रतीत होता है कि भास्करवर्मा भी अपने पडोसी-नरेश शशाक से आशकित था। हर्ष ने भास्कर-वर्मा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। हर्ष और भास्करवर्मा की सन्धि ने शशाक की स्थिति बडी सकटपूर्ण कर दी।

तत्पश्चात् सेनापति भण्डि ने आकर हर्ष को सूचना दी कि 'गुप्त' ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया है और राज्यश्री बन्धन-मुक्त होकर सपरिवार विन्ध्याचल के वनो मे चली गई है।

सम्भवत. ग्रहवर्मा, देवगुप्त और राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् शशाक ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया। हर्षचरित की कुछ प्रतियो में गुप्त'' के स्थान पर 'गौड' नाम मिलता है।[3] यहाँ गुप्त और गौड से शशांक का ही अर्थ है। हर्ष का ध्यान बटाने के लिये उसने राज्यश्री को कान्यकुब्ज की कारा से मुक्त कर

---

1 यदि परिगणितैरेव वासरैः निर्गौडां गां न करो।

2 देव, देवभूयं गते देवे राज्यवर्धने गुप्तनाम्ना च गृहीते कुशास्थले देवी राज्यश्रीः परिभ्रश्य बन्धनाद्विन्ध्याटवीं सपरि-वारा प्रविष्टा।

3 ...गौडेन हीते कुशस्थले..।

दिया।[1] हर्ष अपनी बहन की खोज में चल पड़ा और विन्ध्याचल में प्रज्वलित अग्नि में कूदने के लिये उद्यत उसकी प्राण-रक्षा की।

बाण अपने हर्षचरित में यह नही बताता कि हर्ष और शशांक का युद्ध हुआ अथवा नही। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष और भास्करवर्मा की सन्धि से शशाक की स्थिति भयावह हो गई और वह दूरस्थ कान्यकुब्ज को छोडकर अपने गौड़-राज्य में वापस चला गया। ६१९ ई० का गंजाम अभिलेख मिला है जिससे विदित होता है कि शैलोद्‌भव वंशीय माधववर्मन् महाराजाधिराज श्री शशाक के अधीन सामन्त के रूप में राज्य कर रहा था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस तिथि तक शशाक का विनाश नही हुआ था।

मिदनापुर में दो ताम्रपत्र मिले हैं। डा० मजूमदार का मत है कि इनमें एक की तिथि ६२९ ई० है। इसमें 'श्रीशशांकमही पाति चतुर्जलधिमेखलाम्' लेख है। यह महत्वपूर्ण बात है कि इस लेख में शशांक के लिये केवल 'श्री' का प्रयोग किया गया है, जबकि ६१९ ई० के गजाम ताम्रपत्र में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि ६१९ ई० और ६२९ ई० के बीच शशाक की स्वतन्त्रता जाती रही थी। सम्भवतः वह हर्ष द्वारा पराजित कर दिया गया था।

इस अनुमान की पुष्टि दो साक्ष्यो से होती है।

(१) आर्यमजुश्रीमूलकल्प का कथन है कि 'ह' से प्रारम्भ होने वाले नामधारी राजा (हर्ष) ने दुष्ट सोमनामधारी राजा (शशाक) को पराजित किया और उसे अपने राज्य से बाहर न निकलने के लिये विवश किया। इस कथन के अन्तिम भाग के अर्थ के विषय में मतभेद है। डा० बसाक 'म्लेच्छराज्यये मपूजित' पढते हैं और कहते है कि म्लेच्छराज्य (पूर्वी देश) ने हर्ष का स्वागत नही किया और उसे वापस आना पडा। डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय आर्यमजुश्रीमूलकल्प के तिब्बती रूपान्तर 'म्लेच्छराज्ये प्रपूजित' को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि शशाक

---

1 '... Kanauj, having lost its sovereign as well as the timely support of the former Kingdom (Thanesvara), passed under the occupation of the King of Gauda, who in order to divert the attention of Bhandi or his adversary's army, released Rajyasri, the widowed queen of Kanauj, from detention in that city.' —HK, p. 67

२ पराजयामास सोमाख्यं दुष्ट कर्मानुचारिणम्
ततो निषिद्धः सोमाख्यो स्वदेशेनावतिष्ठतः।
निवर्तयामास हकाराख्य म्लेच्छराज्येमपूजितः।
दुष्टकर्मा हकाराख्यो नृपः श्रेयसा धार्मिकः
स्वदेशे चैव प्रयातो यथेष्टगतिमापि वा॥

को पराजित करने के पश्चात् हर्ष का म्लेच्छराज्य (पूर्वी भारत) में स्वागत हुआ और वह अपने राज्य वापस आ गया। जो भी हो, इस ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष ने शशाक को पराजित किया था।

(२) शे-किम्र-फँग-चे का भी कथन है कि कुमारराज (भास्करवर्मा) के सहयोग से हर्ष ने विधर्मी राजा शशाक एवं उसकी सेना तथा अनयायियों को नष्ट कर दिया। इस कथन की पुष्टि निधनपुर अभिलेख से भी होती है। इससे प्रकट होता है कि भास्करवर्मा ने शशाक की राजधानी कर्णसुवर्ण पर अधिकार कर लिया था। सम्भवत. दोनो मित्रों—हर्ष और भास्करवर्मा—ने सम्मिलितरूप से शशांक पर आक्रमण किया था और उसे पराजित कर उसके राज्य को आपस में बाँट लिया था। ६३७ ई० मे ह्वेनसांग पूर्वी भारत गया था। उस समय उसने शशाक को निकट भूतकाल का राजा बताया है। इससे सिद्ध होता है कि शशाक ६३७ ई० तक मर चका था।

हर्ष की दिग्विजय—हर्षचरित का कथन है कि सेनापति सिहनाद ने हर्ष को यह सम्मति दी थी कि वह शशाक के अतिरिक्त अन्य राजाओं का भी दमन करे जिससे कोई भी भविष्य में शशाक की भाँति आचरण न करे।[1]

हर्ष की दिग्विजय की सूचना सि-यु-कि (ह्वेनसांग का विवरण) से भी मिलती है। इसका उल्लेख है कि—'जैसे ही शीलादित्य राजा हुए वैसे ही उन्होंने एक बडी सेना एकत्र की और वे अपने भाई के बध का प्रतिशोध लेने तथा पडोसी राज्यों को अपने अधीन करने के लिये चल पडे। पूर्व की ओर प्रस्थान करते हुए उन्होंने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होने उनकी अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था और वे निरन्तर उस समय तक युद्ध करते रहे जब तक कि ६ वर्षों में उन्होंने पच भारत को अपने अधीन नही कर लिया।[2] तत्पश्चात् अपने राज्य का विस्तार कर उन्होने अपनी सेना बढाई. . और ३० वर्ष तक बिना शस्त्र उठाये वे ३० वर्ष तक राज्य करते रहे।'

हर्ष ६०६ ई० में सिंहासन पर बैठा था। उसी समय से उसके युद्ध प्रारम्भ हो गये थे। ह्वेनसांग के उपर्युक्त कथन से प्रकट होगा कि उसके युद्ध ६ वर्ष तक चले और इस प्रकार उसकी दिग्विजय ६१२ ई० तक समाप्त हो गई होगी।

परन्तु यह कथन सत्य नही है, क्योंकि अनेक साक्ष्यो से प्रकट होता है कि हर्ष ने कई युद्ध ६१२ ई० के पश्चात् भी किये—

(१) चीनी लेखक मा-त्वान-लिन का कथन है कि ६१८ ई० और ६२७ ई० के बीच भारत में बडी अशान्ति रही। शीलादित्य ने एक बडी सेना का संगठन

---

1 किं गौडाधिपाधमेनैकेन तथा कुरु यथा नान्योऽपि कश्चिदा चरत्येवं भूयः।

2 एक पाठान्तर में कहा गया है कि 'जब तक ६ वर्षों में उन्होंने पंच भारत से युद्ध नहीं कर लिया।'

किया और अदम्य वीरता से युद्ध किया। मनुष्यों ने अपने कवच नहीं उतारे और न हाथियों ने अपने शरीरत्राण। उन्होंने भारत के चतुर्दिक राजाओं को दण्डित किया जिससे उन सबने उत्तरमुखी होकर उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

(२) हर्ष की जीवनी से ज्ञात होता है कि उन्होंने ६४३ ई० में काँगोद पर आक्रमण किया था।

हर्ष ने अपनी दिग्विजय किस क्रम से की, उसने किन-किन राजाओं को परास्त किया, इसका स्पष्ट ब्योरा हमें नहीं मिलता। परन्तु कुछ देशों के साथ हुए युद्धों के विषय में हमें अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान है।

वलभी युद्ध—वलभी पश्चिमी मालवा के अन्तर्गत था। जयभट तृतीय के ७०८ ई० के नौसारी दानपत्र से प्रकट होता है कि हर्षदेव ने वलभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित किया था और ध्रुवसेन ने गुर्जर-नरेश दद्द द्वितीय-प्रशान्तराग के राज्य में शरण ली थी।[1] दद्द द्वितीय के दो दानपत्र फैरा अथवा खेडा में मिले हैं। इनमें एक की तिथि ६२९ ई० है और दूसरे की ६३० ई० इससे स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष-वलभी-युद्ध ६२९ ई० के पूर्व नहीं हो सकता था।

इस समय जिस प्रकार उत्तरी भारत में हर्ष का शक्तिशाली साम्राज्य था उसी प्रकार दक्षिणी भारत में चालुक्य-नरेश पुलकेशी द्वितीय का। इन दोनों की सीमाओं पर लाटों, मालवों और गुर्जरों के राज्य थे। कीलहर्न महोदय का मत था कि सम्भवत ये राज्य पुलकेशी के प्रभाव-क्षेत्र में थे।[2] अपनी सीमा पर स्थित वलभी-राज्य को हर्ष भी अपने प्रभाव-क्षेत्र में लेना चाहता था। इसी से उसने वलभी पर आक्रमण किया। उधर, पुलकेशी द्वारा संरक्षित गुर्जर-नरेश दद्द ने वलभी का पक्ष लिया और उसे अपने राज्य में शरण दी। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष ने भी कूटनीति से काम लिया और प्रारम्भिक युद्ध के पश्चात् वलभी-नरेश से सन्धि कर ली तथा अपनी पुत्री का विवाह वलभी नरेश के साथ कर दिया। ह्वेनसाँग वलभी-नरेश को हर्ष का दामाद बताता है।

पुलकेशी से युद्ध—हर्ष ने नर्मदा नदी के दक्षिण में अपना राज्य-विस्तार करना चाहा। अतः दक्षिणी भारत के चालुक्य-नरेश पुलकेशी द्वितीय के साथ उसका युद्ध हुआ। इसके अनेक प्रमाण हैं—

(१) महाराष्ट्र का वर्णन करते हुए सि-यू-कि का कथन है कि 'इस समय शीलादित्य महाराज ने पूर्व से पश्चिम तक सभी राज्यों को जीत लिया है और

---

1 श्री हर्ष देवाभिभूतो श्रीवलभी-पतिपतित्राणोपजातः भ्रमदभ्र वि भ्रम-यशोवितानः श्रीदद्द।

2 '... impressed by the majesty and power of Pulakesin (these. states) had voluntarily submitted to to him or sought his protection'.

दूरस्थ प्रदेश तक आक्रमण किया है। केवल इसी राज्य के निवासियों ने उसके समक्ष आत्म-समर्पण नहीं किया है। उसने पंच भारत की सेनाओं को एकत्र किया है और राज्यों के सर्वोत्तम नायकों को बुलाया है, और इन निवासियों को दण्डित करने और अपने अधीन करने के लिये स्वयं सेना का संचालन किया है, परन्तु अभी तक उसने इनकी सेनाओं पर विजय नहीं पाई है।[1]

(२) ह्वेनसांग की जीवनी का कथन है कि शीलादित्य ने अपनी निपुणता और अपने सेनापतियों की निरन्तर सफलता पर अभिमान करते हुए तथा आत्म-विश्वास से पूर्ण होकर इस राजा (पुलकेशी) को चुनौती देने के लिये स्वयं सेना का नेतृत्व करते हुए प्रस्थान किया।[2]

(३) ६३४ ई० के एहोल अभिलेख से प्रकट होता है कि पुलकेशी ने हर्ष को पराजित कर दिया।[3]

इस युद्ध की तिथि के विषय में मतभेद है।

(१) डा० फ्लीट का मत था कि यह युद्ध ६१२ ई० में हुआ था। अपने मत के पक्ष में वे दो प्रमाण देते हैं—

(१) ह्वेनसांग का कथन है कि उसने ६ वर्ष तक लगातार युद्ध करने के पश्चात् पंचभारत पर अधिकार कर लिया।[4] हर्ष ६०६ ई० में सिंहासनासीन हुआ था और उसके युद्ध ६१२ ई० तक समाप्त हो गये होंगे।

(२) हैदराबाद दानपत्र का कथन है कि युद्धों में अनेक राजाओं को पराजित करने के पश्चात् पुलकेशी ने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की थी।[5]

---

1 'At present time Siladitya maharaja has conquered the nations from east to west, and carried his arms to remote districts, but the people of this country alone have not submitted to him. He has gathered troops from five Indes, and summoned the best leaders from all countries, and himself gone at the head of his army to punish and subdue these people, but he has not yet conquered their troops'.

2 Siladitya 'boasting of his skill and invariable success of his generals, filled with confidence, himself marched at the head of his troop to contend with this prince (Pulakesin).

3 अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येनाकारि हर्षः।

4 'Proceeding eastward he waged incessant warfare until in six years he brought the Five Indes under his control'.

5 समरशतसंसक्तपरनृपतिपराजयोपलब्धपरमेश्वरापरनामधेयः।

इन पराजित राजाओं में हर्ष को भी समझना चाहिये। इस दान-पत्र की तिथि ५३४ शक संवत् (=६१२ ई०) है। अतः हर्ष इस तिथि तक पराजित हो गया होगा।

परन्तु इन दोनों तर्कों का खण्डन किया जा सकता है—

(१) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हर्ष के समस्त युद्ध ६१२ ई० तक समाप्त नहीं हुए थे। इस विषय में ह्वेनसाँग का कथन भ्रामक है।

(२) हैदराबाद दानपत्र पराजित शत्रुओं में हर्ष का नाम नहीं लेता। इसमें सम्भवतः दक्षिणी भारत के छोटे-छोटे राजाओं की पराजय का ही संकेत है। हर्ष एक परम शक्तिशाली राजा था। यदि इस लेख के पूर्व वह पराजित हुआ होता तो इस लेख में उसकी पराजय का वर्णन विस्तारपूर्वक एवं गर्वपूर्वक किया जाता।

(२) डा० फ्लीट की अपेक्षा डा० अल्तेकर का मत अधिक मान्य प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि हर्ष ६३० ई० और ६३४ ई० के बीच में पराजित हुआ होगा। उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) वलभी-राज्य हर्ष और पुलकेशी की सीमाओं पर था। अतः कोई भी सेनानायक वलभी से निपटे बिना आगे बढ़ कर दक्षिण पर आक्रमण न करता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वलभी का युद्ध ६२९ ई० के पूर्व नहीं हो सकता था। अतः हर्ष-पुलकेशी-युद्ध इस तिथि के पश्चात् ही हुआ होगा।[1]

(२) ६३० ई० का लोनेरा अभिलेख पुलकेशी की सफलताओं का वर्णन करता है। परन्तु वह हर्ष की पराजय का उल्लेख नहीं करता। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस तिथि तक हर्ष-पुलकेशी-युद्ध नहीं हुआ था।

(३) ६३४ ई० का ऐहोल अभिलेख पुलकेशी की पराजय का उल्लेख करता है। अतः स्पष्ट है कि इस तिथि तक हर्ष पराजित हो चुका था।

सारांशतः हर्ष-पुलकेशी युद्ध ६३० ई० और ६३४ ई० के बीच में हुआ था।

कांगोद-विजय—हर्ष की जीवनी से प्रकट होता है कि हर्ष ने ६४३ ई० में कांगोद-अभियान किया था। ऐहोल अभिलेख से प्रकट होता है कि पुलकेशी का अधिकार कलिङ्ग और कोसल पर भी था। इससे स्पष्ट होता है कि कांगोद पुलकेशी के साम्राज्य में था और हर्ष ने ६४३ ई० में इस पर अधिकार करके पुलकेशी से अपनी पूर्व पराजय का प्रतिशोध किया।

हर्ष के समकालीन नरेश

विभिन्न साक्ष्यों से हर्ष के समकालीन राज्यों एवं नरेशों के नाम प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ हर्ष के शत्रु थे और कुछ मित्र। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं गौड़-

नरेश शशांक, कामरूप-नरेश भास्करवर्मा, वलभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय, गुर्जर-नरेश दद्द द्वितीय, चालुक्य-नरेश पुलकेशी द्वितीय आदि।

शशांक—हर्ष के समकालीन राज्यो मे शशाक का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। हर्षचरित इसे गौडाधिप, गौडभुजग आदि नामो से पुकारता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह गौड देश का राजा था। ह्वेनसांग काचे-चाङ (शशांक) को कर्णसुवर्ण का राजा बताता है। यह इसकी राजधानी थी।

इसके वश के विषय में विद्वानो मे मतभेद है।

(१) डा० राखलदास बनर्जी, श्री गौरीशकर चटर्जी आदि विद्वान् शशांक को उत्तरकालीन गुप्त-वश का राजा मानते हैं। ब्यूलर ने हर्षचरित की एक प्रति में शशाक का नाम नरेन्द्रगुप्त पाया है। अत. इस नाम के आधार पर भी इसे उत्तरकालीन गुप्तवशीय माना जा सकता है।

(२) डा० बसाक का मत है कि शशाक जयनाग का वशज था। जयनाग का वप्पघोष अभिलेख मे महाराजाधिराज और परमभागवत कहा गया है। यह अभिलेख ६ठी शताब्दी के अन्तिम चरण का है कुछमुद्राओ पर भी 'जय' लिखा मिलता है। इसका उल्लेख आर्यमजश्रीमूलकल्प में भी हुआ है। इस ग्रन्थ की तिब्बती प्रति में राजक्रम इस प्रकार बताया गया है—(१) जयनाग (२) केशरी (३) सोमाख्य (शशाक)।

डा० बसाक शशाक को जयनाग का वशज मानते है—

(३) डा० मजूमदार के अनुसार यह बगाल के एक स्वतन्त्र राजवश का सस्थापक था।

रोहतासगढ़ मे प्राप्त एक अभिलेख मे 'श्रीमहासामन्तशशांकदेवस्य' नाम आता है। यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि शशाक अपने प्रारम्भिक काल में सामन्त था अथवा हर्ष द्वारा पराजित होने के पश्चात् उसे यह सामन्तपद स्वीकार करना पड़ा। यदि यह माना जाय कि यह अभिलेख शशाक के प्रारम्भिक काल का है तो फिर अभिलेख के प्राप्ति-स्थान के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि शशाक का उदय मगध मे हुआ। मौखरियो ने मगध पर अधिकार कर लिया था। अत. सम्भव है कि शशाक प्रारम्भ मे मौखरी वश के अधीन राज्य करता हो। तत्पश्चात् ६०६ ई० तक शशाक स्वतन्त्र हो गया था और उसने बगाल भी जीत लिया होगा। तभी बाण उसे गौडाधिप के नाम से पुकारते हैं।

दूबी अभिलेख से प्रकट होता है कि किसी गौड-नरेश ने कामरूप पर आक्रमण किया था और सुप्रतिष्ठितवर्मा तथा भास्करवर्मा को पराजित करके अपने अधीन कर लिया था। डा० सरकार का अनुमान हैकि यह गौड-नरेश शशाक हो सकता है।[1]

कुछ विद्वानो के मतानुसार शशाक ने उड़ीसा के राजा शम्भूय को परास्त कर

---

1 IHQ, XXVI, p. 246

उसके राज्य को भी अपने अधीन कर लिया था। ३०० गु० स० (=६१९ ई०) का गंजाम अभिलेख मिला है। इसमें शशांक को 'महाराजाधिराज' कहा गया है और माधववर्मा को उसका 'महासामन्त' बताया गया है।

ब्यूलर ने हर्षचरित की एक प्रति में शशांक का नाम नरेन्द्रगुप्त पाया है।

यह अनुमान किया जा सकता है कि शशांक ने वर्धन-मौखरी-सन्धि के विरुद्ध मालवराज देवगुप्त से मिल कर एक प्रतिनिधि की स्थापना की। इसने बड़े महत्व-पूर्ण परिणाम उत्पन्न किये। मालवराज देवगुप्त ने कान्यकुब्ज के विरुद्ध प्रस्थान किया और ग्रहवर्मा को मार डाला। परन्तु जब राज्यवर्धन ने देवगुप्त को परास्त कर दिया तो गौडनरेश शशाक ने हस्तक्षेप किया, धोखा देकर राज्यवर्धन को मार डाला तथा कान्यकुब्ज पर भी अधिकार कर लिया। हर्ष को अपने विरुद्ध कार्य-वाही के लिये उद्यत देखकर उसने कान्यकुब्ज छोड़ दिया और अपने राज्य वापस चला गया।

हर्षचरित से ज्ञात होता है कि कामरूप-नरेश भास्करवर्मा ने हर्ष के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि का कारण दोनों की शशाक के प्रति शत्रुता थी। इस सन्धि से शशाक की स्थिति निर्बल हो गई।

हर्ष ने शशाक के विरुद्ध अभियान किया। इस अभियान का क्या परिणाम हुआ, इस विषय पर हर्षचरित मौन है। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, ग्रो-किग्र-फँग-चे और आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हर्ष ने शशाक को पराजित कर दिया था। यह महत्वपूर्ण बात है कि ६२९ ई० के मिदनापुर अभिलेख में शशाक के लिये एकमात्र 'श्री' शब्द का प्रयोग किया गया हो। सम्भवतः इस तिथि के पूर्व शशांक हर्ष द्वारा पराजित किया जा चुका था।

६३७ ई० में ह्वेनसाँग कर्णसुवर्ण गया तो उसने शशाक को निकट मृत का राजा बताया है। इससे प्रकट होता है कि शशाक इस तिथि तक मर चुका था।

शशाक शैव था। उसकी मुद्राओं पर शिव और नन्दी की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। ह्वेनसाँग के वर्णन से प्रकट होता है कि शशाक शैव और बौद्ध-द्रोही था। सि-यु-कि का कथन है कि पाटलिपुत्र के स्तूप के एक पाषाण-खण्ड पर महात्मा बुद्ध के पद-चिह्न अंकित थे। शशाक ने पहले तो उन पद-चिह्नों को मिटाने का प्रयत्न किया। जब वह इस कार्य में सफल न हुआ तो उसने उस पाषाण-खण्ड को गगा में फिकवा दिया। परन्तु वह पाषाण-खण्ड पुन. अपने स्थान पर आ गया।

इसी ग्रन्थ से प्रकट होता है कि शशाक ने बोधि-वक्ष को कटवाया और उसकी जड में आग लगवा दी उसने बोध-गया से महामार बुद्ध की मूर्त्ति हटा कर उसके स्थान पर शिव की मूर्ति स्थापित करने की असफल चेष्टा की।

इसमें सन्देह नही कि शशांक शैव था। परन्तु यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि वह बौद्ध-द्रोही भी था। उसके बौद्ध-द्रोह की चर्चा एकमात्र बौद्ध

साक्ष्य ही करते हैं। सम्भव है कि ये साक्ष्य द्वेषपूर्ण हों और इन्होंने शशांक के शैव-प्रेम को बौद्ध धर्म-द्रोह के रूप में समझा हो[1]।

शशाक को गौडाधिप कहा गया है। वह निश्चित रूप से उत्तरी और पश्चिमी बगाल का राजा था। मिन्‌-कि के वर्णन से प्रकट होता है कि उसके राज्य में बिहार भी सम्मिलित था। दूबी ताम्रपत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि उसने कम से कम कुछ समय के लिये असम परई भी अधिकार कर लिया था। मिदनापुर ताम्रपत्रो से अनुमान किया जा सकता है कि उडीसा भी उसके राज्य के अन्तर्गत था। ह्वेनसाँग के वर्णन से प्रकट होता है कि इस राज्य की राजधानी कर्णसुवर्ण थी।

भास्करवर्मा—कामरूप में वर्मन् वश का राज्य था। इसकी स्थापना चौथी शताब्दी में पुष्यवर्मन् ने की थी। इसी वश में उत्पन्न भास्करवर्मा हर्ष का समकालीन था। यह सुस्थितवर्मा का पुत्र था। पहले कहा जा चुका है कि मगध-नरेश महासेनगुप्त ने इसी सुस्थितवर्मा को लौहित्य-तट पर परास्त किया था।

भास्करवर्मा के एक अन्य भाई सुप्रतिष्ठितवर्मा भी था। दूबी ताम्रपत्रों से प्रकट होता है कि शशाक ने इन दोनो भाइयों को पराजित किया था और सम्भवतः अपने अधीन कर लिया था।

भास्करवर्मा को अपने पडोसी राजा शशाक से निरन्तर भय था। इसी से उसने ६०६ ई० में हर्ष से मित्रता कर ली।[2] शे-किआ-फँगेग-चे का कथन है कि हर्ष और भास्करवर्मा दोनो ने मिलकर शशाक को पराजित किया था। निधनपुर ताम्रपत्रों से प्रकट होता है कि शशाक की राजधानी कर्णसुवर्ण पर भास्करवर्मा का अधिकार हो गया था। यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि यह अधिकार शशाक के जीवन-काल में हुआ था अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात्। डा० बसाक का मत है कि कर्णसुवर्ण भास्करवर्मा के अधिकार मे न था। वास्तव में वह हर्ष के अधिकार में था। जब हर्ष बगाल-विजय के लिये आया था तो उसके साथ आये हुए उसके मित्र भास्करवर्मा ने कर्णसुवर्ण में अपना जयस्कन्धावार स्थापित किया था। तभी

1 'But how far the acts of oppression, charged by Hiuen-Tsang against Sasanka, can be regarded as historically true, it is difficult to say At present it rests upon the sole evidence of the Buddhist writers who cannot, by any means, be regarded as unbiased or unprejudiced at least in, any matter which either concerned Sasandka or adversely affected Buddhism' —R.C. Majumdar, HB, p. 67

2 अयमस्य च शैशवादारभ्य सकल्पः स्थेयाम् स्थाणुपदारविन्दद्वया वृतेनाहमन्यं नमस्कुर्यामिति। इंदश्च-यं मनोरथं प्रयाणामन्‌तमेन संपद्यते सकलभुवनं वजयेन वा मृत्युना वा यदि वा जगत्येकवीरेण देवोपमेन मित्रेण—हर्षचरित।

उसने कर्णसुवर्ण से निधनपुर ताम्रपत्र जारी किये थे।[1] परन्तु डा० बसाक के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई भी राज्य अन्य राजा के राज्य में जाकर अपने दानपत्र जारी नहीं करता। इस स्थिति में कर्णसुवर्ण पर भास्कर-वर्मा का ही अधिकार मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

हर्षचरित का कथन है कि भास्करवर्मा ने शिव के अतिरिक्त अन्य किसी के समक्ष शीश न झुकाने का निश्चय किया था। इससे प्रकट होता है कि वह शैव था। परन्तु ह्वेनसांग के विवरण से प्रकट होता है कि वह बौद्धों का भी सम्मान करता था।

ध्रुवसेन द्वितीय—वलभी पर मैत्रक-वंश का राज्य था। इस वंश में खरग्रह प्रथम नामक एक प्रतापी राजा हुआ। इसके दो पुत्रों ने क्रमश. राज्य किया—पहले ध्रुवसेन तृतीय ने और फिर ध्रुवसेन द्वितीय ने।

ध्रुवसेन द्वितीय हर्ष का समकालीन था। इसने बालादित्य की उपाधि धारण की थी। ह्वेनसांग इसे ध्रुवभट के नाम से पुकारता है और कहता है कि वह क्षत्रिय जाति का था। उसका स्वभाव उतावला था और उसके विचार सकीर्ण। वह बौद्ध धर्मावलम्बी था।

ध्रुवसेन के राज्य में मालवा, कच्छ और सौराष्ट्र सम्मिलित थे। उसकी राजधानी वलभी थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह ६२९ ई० में अवश्य राज्य कर रहा था। इसी तिथि के पूर्व हर्ष ने उसे पराजित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्पश्चात् हर्ष ने उससे मित्रता कर ली, क्योंकि ह्वेनसांग उसे हर्ष का दामाद बताता है।

दद्द द्वितीय—भड़ौच में गुर्जर-वंश का राज्य था। दो अभिलेख कैरा में और तीन अभिलेख सखेडा में प्राप्त हुए हैं। इनसे क्रमशः तीन गुर्जर राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं—सामन्त दद्द प्रथम, जयभट प्रथम वीतराग और दद्द द्वितीय प्रशान्त-राग। नौसारी दानपत्र से प्रकट होता है कि हर्ष द्वारा पराजित होने के पश्चात् वलभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय ने दद्द द्वितीय के राज्य में शरण ली थी। इस प्रकार दद्द द्वितीय हर्ष का समकालीन था। इसके दो कैरा दानपत्रों में इसकी दो तिथियाँ मिलती हैं—६२९ ई० और ६३४ ई०।

---

1 '... Kamasuvarna might not at any time have formed any part of the Kamarupa Kingdom at all, but Bhaskara might only have pitched his jayaskandhavara there, as an ally of Harsha during the latter's second campaign referred to above, when the emperor came to Bengal for conquests' —Basak, HNI, pp. 228-9

सि-यु-कि से पता चलता है कि ह्वेनसांग कु-लि-लो (गुर्जर-देश) गया था। उसने वहां के राजा को क्षत्रिय जातीय, नवयुवक, वीर, बुद्धिमान और बौद्ध धर्मावलम्बी तथा विद्वानों का आश्रयदाता बताया है।

पुलकेशी द्वितीय—दक्षिण-भारत में चालुक्यवश का राज्य था। हर्ष के समय यहां पुलकेशी द्वितीय का राज्य था। वह क्षत्रिय था। उसके पास एक शक्तिशाली सेना थी और उसके सामन्त स्वामिभक्त थे। ह्वेनसांग[1] और उसकी जीवनी का कथन है कि हर्ष और पुलकेशी का युद्ध हुआ था, परन्तु हर्ष को सफलता नहीं मिली थी। पुलकेशी एक शक्तिशाली राजा था। ६१२ ई० के हैदराबाद ताम्रपत्र में उसकी विजयों का वर्णन है। ६३४ ई० के ऐहोल अभिलेख से पता चलता है कि पुलकेशी ने कलिंग और कोशल पर भी अधिकार कर लिया था और लाट, मालव तथा गुर्जर भी उसकी प्रभुता स्वीकार करते थे। ह्वेनसांग की जीवनी से प्रकट होता है कि हर्ष ने ६४३ ई० में कांगोद-विजय की थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि हर्ष ने अपने शासन-काल के अन्तिम चरण में पुलकेशी से कलिंग और कोसल छीन लिये थे।

हर्ष का साम्राज्य

बाण ने अपने हर्षचरित में हर्ष को 'सर्वचक्रवर्तिना धौरेय' और 'चतु. समुद्राधिपति' कहा है। चालुक्य-अभिलेख उसे 'सकलोत्तरापथनाथ' कहते हैं।

इन कथनों के आधार पर अनेक विद्वान् हर्ष को सम्पूर्ण उत्तरी भारत का सम्राट् बताते हैं—

पाणिकर का कथन है कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना अधिकार कर लिया था।'[2]

एतींघासें का मत है कि 'उसके युद्धों ने उसे सम्पूर्ण उत्तरी भारत की प्रभुता प्रदान की।'[3]

---

1 'The king was a Kshatriya by birth and his name was Pa-lo-ki-sha. The benevolent sway of this king reached far and wide, and his vassals served him with perfect loyalty. The great king Sitaditya at this time was invading east and west, and countries far and near were giving allegiance to him, but Mo-ha-la-cha refused to become subject to him.'

2 'Harsha seems to have brought the whole of Northern India under his control.' —Pannikar, Sri Harsha of Kanauj, pp. 22

3 'His warfare assured him the sovereignty of the whole of Northern India'—Etinghausen.

इसी प्रकार डा० राधाकुमुद का कथन है कि 'इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत के प्रभसत्ताधारी सम्राट् का गौरवमय पद प्राप्त किया था।[1]

परन्तु ये कथन न्यायसंगत नहीं हैं। सारे साक्ष्यों की समीक्षा करने के पश्चात् यही सिद्ध होता है कि उसके साम्राज्य में उत्तरी भारत के समस्त प्रदेश न थे।[2] हम प्रदेश-क्रम से इस समस्या पर विचार करेंगे—

थानेश्वर—हर्षचरित से स्पष्ट हो जाता है कि थानेश्वर का राज्य हर्ष ने अपने पिता प्रभाकरवर्धन से पाया था। कनघम के मतानुसार इसके अन्तर्गत भूतपूर्व दक्षिणी पंजाब और वर्तमान पूर्वी राजस्थान सम्मिलित थे।

वर्तमान हरयाना में कर्नाल जिले का अभिलेखों में हर्ष सवत् का प्रयोग मिलता है, इसके पश्चिम में नही। अतः हर्ष के साम्राज्य में हरयाणा प्रदेश सम्मिलित था।

जालन्धर—ह्वेनसांग ने जालन्धर का वर्णन करते हुए लिखा है कि जालन्धर का राजा बौद्ध था और मध्य भारत (Mid India) के राजा ने इसे अपने देश में बौद्ध धर्म का सरक्षक बनाया था। कुछ विद्वानों ने मध्य भारत के राजा का समीकरण हर्ष के साथ किया है और जालन्धर-नरेश को उसके अधीन माना है।

परन्तु यह निष्कर्ष उचित प्रतीत नही होता। यदि ह्वेनसांग का तात्पर्य हर्ष से होता तो वह उसे 'मध्य भारत का राजा' न कहता। इसके अतिरिक्त ह्वेनसांग की जीवनी जालन्धर-नरेश को 'उत्तरी भारत' का राजा बताती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह एक स्वतन्त्र एव शक्तिशाली राजा था।

शतद्रु तथा श्रुघ्न—ह्वेनसांग ने इन दोनों स्थानों की राजनीतिक स्थिति का वर्णन नही किया है। इससे अनुमान होता है कि ये स्वतन्त्र राज्य नहीं थे। सम्भवत. ये हर्ष के अधीन थे। शतद्रु की भौगोलिक स्थिति के विषय में हमें निश्चित ज्ञान नही है। परन्तु यह सतलज नदी के पूर्व में था। श्रुघ्न वर्तमान हरयाणा का सुघ था।

कश्मीर—डा० राधाकुमुद मुकर्जी आदि कुछ विद्वानों का मत है कि कश्मीर हर्ष के अधीन था। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(१) ह्वेनसांग की जीवनी से प्रकट होता है कि कश्मीर-नरेश के पास महात्मा बुद्ध के दाँत के अवशेष थे। हर्ष ने उसके दर्शन की इच्छा प्रकट की। कश्मीर का बौद्ध सघ हर्ष को इस कार्य के लिये अनुमति नहीं देना चाहता था। उसने उस

---

1 '...... it cannot be doubted that Harsha achieved the proud position of being the paramount sovereign of whole of Northern India'
—R.K. Mookerjee, Harsha, pp. 43

2 '...it is known beyond doubt that his dominions did not comprise the whole of Northern India'
—R.S. Tripathi, HK. p. 121

दन्त-अवशेष को कहीं छिपा कर रख दिया। परन्तु कश्मीर-नरेश ने हस्तक्षेप कर हर्ष को दाँत के दर्शन करा दिये। दर्शन करते समय हर्ष इतना अधिक भावुक हो उठा कि वह बलपूर्वक उस दाँत को अपने साथ ले गया। इस घटना से डा० मुकर्जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कश्मीर-नरेश हर्ष के अधीन था।

(२) राजतरगिणी का कथन है कि कश्मीर कुछ काल तक हर्ष आदि राजाओ के अधीन रहा[1]।

(३) हर्षचरित मे एक स्थान पर कथन है कि 'अत्र परमेश्वरेण तुषारशैल-भुवो दुर्गाया. गृहीत कर ।' इस कथन से कुछ विद्वान् यह अर्थ लगाते हैं कि दुर्गम पार्वतीय प्रदेश कश्मीर से कर लिया था। अत वह उसके अधीन रहा होगा।

परन्तु ये तर्क त्रुटिपूर्ण हैं—

(१) जीवनी के साक्ष्य से कश्मीर पर हर्ष का आधिपत्य सिद्ध नही होता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि हर्ष की अपेक्षा निर्बल होने के कारण कश्मीर-नरेश ने दाँत की घटना पर हर्ष से युद्ध नही किया और शान्त होकर बैठ गया।

(२) राजतरगिणी में उल्लिखित हर्ष कान्यकुब्ज के हर्ष से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होता है। कश्मीर-नरेश हर्ष के एक पुत्र था जबकि कान्यकुब्ज-नरेश हर्ष के कोई पुत्र न था।

(३) हर्षचरित में उल्लिखित पार्वतीय प्रदेश काश्मीर के अतिरिक्त कोई अन्य प्रदेश भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त उस पक्ति का यह भी आशय हो सकता है कि हर्ष (परमेश्वर) ने किसी पार्वतीय प्रदेश (तुषारशैलभुवो) की राज कुमारी (दुर्गा) से विवाह किया था (ग्रहीत कर)।

इन तथ्यो के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कश्मीर हर्ष के साम्राज्य से बाहर था।

सिन्ध—एतीघासे आदि विद्वानो ने सिन्ध को हर्ष के अधीन माना है। इस मत के पक्ष में हर्षचरित का एक वाक्य उद्धृत किया जाता है—

अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराज्य प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मी कृता।

इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि हर्ष ने सिन्धुराज को पराजित कर उसकी सम्पत्ति छीन ली। परन्तु यह वाक्य काव्यात्मक है और इसको अक्षरश सत्य नहीं मानना चाहिए। ह्वेनसांग ने सिन्ध का वर्णन एक स्वतन्त्र राज्य की भाँति किया है। वह कहता है कि उस समय वहाँ एक शूद्रजातीय राजा का शासन था और वह बौद्ध धर्मावलम्बी था।

उत्तर प्रदेश—अनेक साक्ष्यो से सिद्ध होता है कि वर्तमान उत्तर प्रदेश हर्ष के अधीन था। ह्वेनसांग ने यहाँ स्थित अनेक नगरो के राजाओं के नाम नहीं दिये

---

१ इदं स्वभेदविधुरं हर्षादीनां धराभुजां कंचित् कालं अभूत भोज्यं ततः प्रभृति मण्डलम्।

हैं। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ये नगर हर्ष के अधीन थे। इनमें से कुछ निम्नलिखित थे—मथुरा, गोविशान (काशीपुर, रामपुर और पीलीभीत), अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाराणसी।

उत्तर प्रदेश के कुछ नगरों—बाँसखेड़ा, मधुवन—में हर्ष के अभिलेख मिले हैं। इनसे भी उसका उत्तर प्रदेश पर अधिकार सिद्ध होता है।

पहले कहा जा चुका है कि वर्तमान उत्तर-प्रदेश मौखरी-वंश के अधीन था। अन्तिम मौखरी-नरेश ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् कान्यकुब्ज-राज्य (उत्तर प्रदेश) हर्ष के अधिकार में आ गया था।

नेपाल—भगवानलाल इन्द्रजी, ब्यूलर, स्मिथ, फ्लीट आदि विद्वानों का मत है कि नेपाल पर हर्ष का अधिकार था। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) हर्षचरित का उल्लेख है कि 'अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया ग्रहीत. करः।' यहाँ कुछ विद्वान् पार्वतीय प्रदेश (तुषारशैलभुवो) का तात्पर्य नेपाल समझते हैं।

(२) नेपाली वंशावलियों का कथन है कि विक्रमादित्य नेपाल गया था और उसने वहाँ अपना संवत् चलाया था। कुछ विद्वानों ने विक्रमादित्य का समीकरण हर्ष से किया है।

(३) नेपाल में अनेक अभिलेख मिले हैं जिनमें तिथियाँ दी गई हैं। इनसे एक राजा अंशुवर्मा का पता लगता है। इन्द्रजी, ब्यूलर और फ्लीट का मत है कि इस राजा ने अपने अभिलेखों में हर्ष संवत् का प्रयोग किया है। अत. वह हर्ष के अधीन होगा।

परन्तु ये तर्क न्यायसंगत नहीं हैं—

(१) हर्षचरित का कथन बड़ा सन्देहपूर्ण है। उसमें एकमात्र एक पार्वतीय प्रदेश का उल्लेख है। अत. यह आवश्यक नहीं है कि वह नेपाल ही हो। पुनः, जैसा कि पहले कश्मीर के सन्दर्भ में कहा जा चुका है, हर्षचरित के इस वाक्य से हर्ष का किसी पार्वतीय राजकुमारी के साथ विवाह का भी आशय लगाया जा सकता है।

(२) भगवानलाल इन्द्रजी ने सिद्ध किया है कि नेपाली वंशावलियों का ऐतिहासिक महत्व कम है। उनमें उल्लिखित बहुसंख्यक राजा एकमात्र पौराणिक हैं। उनके लम्बे-लम्बे शासन-कालों पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता।[1] पुन. हर्ष की उपाधि शीलादित्य थी विक्रमादित्य नहीं।

(३) नेपाल के अभिलेखों में जो तिथियाँ दी गई हैं वे किस संवत् की हैं यह स्पष्ट नहीं होता। उपर्युक्त विद्वानों ने अंशुवर्मा की कुछ तिथियों को हर्ष संवत् की माना है। परन्तु यह सम्भव नहीं है। ह्वेनसांग जब उत्तरी भारत में आया

1 IA XIII, pp. 411-28

तब तक अंशुवर्मा मर चुका था। अंशुवर्मा के अभिलेखों में उसकी अन्तिम तिथि ४५ है। यदि यह हर्ष संवत् की तिथि मानी जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि अंशुवर्मा ६०६+४५=६५१ ई० में जीवित था। परन्तु ह्वेनसांग इस तिथि के पूर्व ही भारत से वापस जा चुका था और उसी की सूचना के अनुसार अंशुवर्मा इस तिथि के पूर्व ही मर चुका था।

लेवी का मत है कि नेपाल-नरेश हर्ष के अधीन नहीं वरन् तिब्बती नरेश स्रांग-सांग-गाम-पो के अधीन था।

मगध—मा-त्वान-लिन का कथन है कि शीलादित्य (हर्ष) ने 'मगधराज' की उपाधि धारण की थी। ह्वेनसांग ने रामग्राम, चम्पा और वैशाली के राजाओं का उल्लेख नहीं किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये हर्ष के अधीन थे।

कामरूप—निहाररंजन राय और राधाकुमुद मुकर्जी ने कामरूप को हर्ष के साम्राज्य में माना है। इस मत के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(१) कामरूप-नरेश भास्करवर्मा हर्ष की कान्यकुब्ज सभा और प्रयाग के दानोत्सव में सम्मिलित होने के लिये आया था। सम्भवतः वह हर्ष के अधीन था।

(२) हर्षचरित में कहा गया है कि हर्ष ने 'कुमार' का अभिषेक किया।[१] इससे अनमान किया जा सकता है कि कुमार (भास्करवर्मा) हर्ष के अधीन था।

(३) सि-यु-कि ने कामरूप-नरेश का वर्णन इस प्रकार किया है—तत्कालीन राजा ब्राह्मण था। वह नारायणदेव का वंशज था। उसका एक नाम भास्करवर्मा और दूसरा नाम 'कुमार' था।' डा० निहाररंजनराय का मत है कि 'कुमार' नाम से प्रकट होता है कि वह हर्ष के अधीन सामन्त था।

(४) जीवनी का कथन है कि ह्वेनसांग कामरूप-नरेश की राजसभा में था। हर्ष ने उसे अपनी सभा में बुलवाना चाहा। भास्करवर्मा ने कहला भेजा कि हर्ष मेरा शीश ले सकते हैं, परन्तु मैं ह्वेनसांग को नहीं भेज सकता। इस उत्तर से हर्ष क्रुद्ध हो गया और उसने भास्करवर्मा के पास सूचना भेजी कि अपना शीश भेज दो। भास्करवर्मा इस सूचना को पाकर भयभीत हो गया और वह तत्काल ह्वेनसांग को अपने साथ लिये हर्ष से मिलने पहुँचा। इस घटना के आधार पर कुछ विद्वान् भास्करवर्मा को हर्ष के अधीन मानते हैं।

(५) भास्करवर्मा ने अपना दूत भेजकर स्वयं हर्ष से मित्रता करने का प्रस्ताव किया था। हर्ष ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तभी से भास्करवर्मा हर्ष का अधीनस्थ मित्र (Subordinate ally) था।

परन्तु ये सभी तर्क बड़े भ्रमपूर्ण हैं—

---

१ अत्र देवेन अभिषिक्तः कुमारः।

(१) हर्ष की सभाओं में सम्मिलित होने के लिये उसके सामन्तों के साथ-साथ मित्र भी आये थे।

(२) हर्षचरित का कथन अस्पष्ट है। उससे भास्करवर्मा की अधीनता सिद्ध नहीं होती।

(३) 'कुमार' नाम से सामन्त-पद सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा हो तो फिर गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त का भी सामन्त शासक मानना पड़ेगा।[1]

(४) जीवनी में उल्लिखित घटना से अधिक से अधिक यही सिद्ध होता है कि छोटी सी बात को लेकर भास्करवर्मा हर्ष की शत्रुता मोल लेना नहीं चाहता था।

(५) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शशांक, भास्करवर्मा और हर्ष दोनों का शत्रु था। उभयनिष्ठ शत्रु के विरुद्ध उनकी परस्पर-मित्रता किसी की अधीनता सूचित नहीं करती।

अतः कामरूप को स्वतन्त्र राज्य मानना ही उपयुक्त है।

बंगाल—बंगाल के ऊपर शशांक का अधिकार था। ह्वेनसांग ६३७ ई० में पूर्वी भारत आया था। उस समय तक शशांक मर चुका था। डा० त्रिपाठी का मत है कि शशांक की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण बंगाल हर्ष के अधिकार में आ गया।[2] शे-किम्र-फैंग -चे से प्रकट होता है कि हर्ष और भास्करवर्मा ने सम्मिलित रूप से शशांक को परास्त किया था। निधानपुर ताम्रपत्रों से प्रकट होता है कि कर्ण-सुवर्ण पर भास्करवर्मा का अधिकार था। इन तथ्यों के आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि शशांक की मृत्यु के पश्चात् हर्ष और भास्करवर्मा ने बंगाल को आपस में बाँट लिया था।

उड़ीसा—उड़ीसा और कांगोद की राजनीतिक स्थिति के विषय में ह्वेनसांग ने कुछ भी नहीं लिखा है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि ये प्रदेश हर्ष के अधीन थे।

जीवनी का कथन है कि हर्ष ने एक बौद्ध विद्वान् जयसेन को उड़ीसा में ८० ग्राम दान देने का प्रस्ताव किया था, परन्तु जयसेन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया था। इस घटना से स्पष्ट हो जाता है कि उड़ीसा हर्ष के अधीन था।

जीवनी से यह भी प्रकट होता है कि हर्ष ने ६४३ ई० में कांगोद-विजय की थी।

वलभी—कुछ विद्वान् वलभी को भी हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत मानते हैं। उनके तर्क इस प्रकार हैं—

---

1 '... the great king Kumaragupta of the Gupta Dynasty has also to be regarded as a dependent King.' —R.C. Majumdar, IHQ, V, p. 232

2 HK, p. 119

(१) वलभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय हर्ष की कन्नौज की धार्मिक सभा में सम्मिलित हुआ था।

(२) वह हर्ष का दामाद था।

परन्तु इन दोनों में से कोई भी तर्क वलभी की अधीनता सूचित नहीं करते।

दक्षिणी भारत—श्रीकण्ठ शास्त्री आदि कुछ विद्वानों के मतानुसार दक्षिणी भारत के कुछ भाग पर भी हर्ष का अधिकार था। इस मत के पक्ष में दो तर्क दिये जाते हैं—

(१) मयूर का साक्ष्य—मयूर सम्भवत. बाण के श्वशुर थे। इनका एक श्लोक प्राप्त हुआ है जिसमें इन्होंने अपने स्वामी की कुन्तल, चोल, मध्यदेश और कांची की विजय का उल्लेख किया है[1]।

(२) शिमोगा जिले में गद्देमने नामक स्थान पर एक अभिलेख मिला है। इसमें शीलादित्य के सेनापति पंदृणि सत्याक का उल्लेख है। सत्याक महेन्द्र की सेना के विरुद्ध युद्ध करते हुए मारा गया था।

शास्त्री जी का मत है कि शीलादित्य हर्ष थे और महेन्द्र पल्लव-नरेश महेन्द्र-वर्मा प्रथम थे।

परन्तु ये दोनों साक्ष्य बडे विवादग्रस्त हैं। प्रथमत यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि उपर्युक्त श्लोक मयूर का ही है। द्वितीयत डा० मजूमदार के मता-नुसार गद्देमने अभिलेख का शीलादित्य चालुक्य युवराज साश्रय शीलादित्य था और महेन्द्रवर्मा पल्लव-नरेश महेन्द्रवर्मा द्वितीय था। अत इस साक्ष्य से चालुक्य-पल्लव-संघर्ष सिद्ध होता है, हर्ष का दक्षिणी भारत मे अभियान नही।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि हर्ष के साम्राज्य मे (१) हरयाना, (२) उत्तर प्रदेश, (३) बिहार, (४) बगाल, और (५) उडीसा के प्रदेश सम्मिलित थे। ह्वेनसाँग ने सम्भवत. इन्ही को 'पचभारत' के नाम से पुकारा है।

चीन के साथ सम्बन्ध—इस विषय में मा-त्वान-लिन का वर्णन महत्वपूर्ण है। वह कहता है कि 'शीलादित्य ने मगधराज की उपाधि धारण की और एक पत्र के साथ अपना एक दूत (चीनी) सम्राट् के पास भेजा। बदले मे सम्राट् ने लिअग-होऐ-किग नामक अपना दूत इस आशय के आमंत्रण-पत्र के साथ भेजा कि शीला-दित्य (चीन की) अधीनता स्वीकार कर लें। मा-त्वान-लिन आगे कहता है कि हर्ष ने चीन-सम्राट् को अपना अधिपति मान लिया।

---

1 भूपालाः शशिभास्कराभुवः के नाम नासादिताः
भर्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वां देव मन्यामहे।
येनांगं परिमृज्य कुन्तलमथाकृष्य व्युदस्यायतं
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना कांच्यां करः पातितः।

परन्तु मा-त्वान-लिन के कथन पर अक्षरशः विश्वास नहीं किया जा सकता। इससे अधिक से अधिक यही सिद्ध होता है कि हर्ष और चीन-सम्राट् ने एक-दूसरे की सभा में दूत भेजे थे।

६४३ ई० में एक अन्य चीनी दूत-मण्डल भारत आया था। इसका नेता लि-चि-पाओ था।

६४७ ई० में वाँग-ह्वेन-सी के नेतृत्व मे एक अन्य चोनी दूत-मण्डल ने भारत के लिये प्रस्थान किया। परन्तु उसके भारत पहुँचने के पूर्व हो हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी।

हर्ष का धर्म—अनेक साक्ष्यों से अनुमान किया जा सकता है कि हर्ष कम से कम अपने जीवन के अन्तिम चरण मे बौद्ध धर्म के प्रति विशेष आकृष्ट था—

(१) हर्ष ने अपनी राजधानी कान्यकुब्ज में एक महासम्मेलन किया था। इसका उद्देश्य अन्य धर्मों के विरुद्ध महायान धर्म को महत्ता स्थापित करना था। इस सम्मेलन में ह्वेनसाँग विशेषरूप से आमन्त्रित किया गया था। उसके अतिरिक्त इसम १८ देशों के राजा, बौद्धधर्म का महायान तथा हीनयान शाखाओं के ३,००० भिक्षु, ३०० ब्राह्मण और जैन आचार्य और नालन्दा विहार के १,००० भिक्षु आये थे।

महासम्मेलन के प्रारम्भ में जो जुलूस निकाला गया, उसमें महात्मा बुद्ध की मूर्ति सबसे आगे थी। उनके दोनों ओर ब्रह्मा के रूप धारण किये हुए भास्करवर्मा और शक्र का रूप धारण किये हुए हर्ष अनुचर की भाँति चल रहे थे।

अधिवेशन में ह्वेनसाँग ने घोषणा की थी कि जो व्यक्ति मुझे वाद-विवाद में पराजित करेगा उसे अपना शीश भी दे दूगा।

परन्तु हर्ष ने स्वतन्त्ररूप म वाद-विवाद नही होने दिया। उसने सम्मेलन में घोषणा को कि जो कोई धर्माचार्य (ह्वेनसाँग) को छुएगा या चोट पहुँचायेगा उसे मृत्यु-दण्ड दिया जायगा और जो कोई उसके विरुद्ध कोई बात कहेगा उसकी जिह्वा काट ली जायेगी।

इसका अर्थ यह था कि सम्मेलन मे ह्वेनसाँग के मत के विरुद्ध बोलने की स्वतन्त्रता नही दी गई। यह महायान धर्म के प्रति पक्षपात था।

हर्ष प्रयाग में पंचवर्षीय सम्मेलन करता था। वहाँ वह प्रथम दिन महात्मा बुद्ध की पूजा करता था और दूसरे तथा तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव की। ब्राह्मणो एवं अन्यान्य धर्मावलम्बियों की अपेक्षा बौद्धों को दान का अधिकांश भाग दिया जाता था।

(३) उड़ीसा में महायान धर्म का प्रचार करने के लिये हर्ष ने नालन्दा महाविहार के चार प्रचारकों को भेजा था।

(४) हर्ष ने बलपूर्वक कश्मीर-नरेश से महात्मा बुद्ध के दाँत के अवशेष हस्तगत किये थे।

(५) हर्ष ने सकड़ों स्तूपों का निर्माण किया था।

परन्तु बौद्ध धर्म के प्रति हर्ष का विशेषानुराग प्रदर्शित करने वाले सभी साक्ष्य बौद्ध हैं। ये एकपक्षीय एवं अतिरंजित हैं। इनके अतिरिक्त अनेक साक्ष्य ऐसे भी हैं जो उसे शैव प्रदर्शित करते हैं—

(१) बाँसखेड़ा ताम्रपत्र तथा नालन्दा एवं सोनीपत राजमुद्राओं पर हर्ष को 'परममाहेश्वर' कहा गया है।

(२) हर्षचरित से प्रकट होता है कि शशांक के विरुद्ध प्रस्थान करने के पूर्व हर्ष ने नीललोहित (शिव) की पूजा की थी।

(३) प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने फर्रुखाबाद में हर्ष की एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त की है। उस पर नन्दी पर आसीन शिव और पार्वती के चित्र उत्कीर्ण हैं।

विद्यानुराग—हर्ष के विद्यानुराग के सम्बन्ध में अनेक साक्ष्य मिलते हैं—

(१) बाण के अनुसार हर्ष अपनी काव्य-कथाओं में अमृत-वर्षा करते थे।[1]

(२) ११वीं शती के विद्वान् सोड्ढल ने अपने ग्रन्थ 'अवन्ति सुन्दरीकथा' में हर्ष को 'कवीन्द्र' कहा है।

(३) १२वीं शती के कवि जयदेव ने अपने 'प्रसन्नराघव' में हर्ष को काव्य का हर्ष कहा है।[2]

(४) ७वीं शती के चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि शीलादित्य साहित्य-प्रेमी थे और उन्होंने जीमूतवाहन की कथा (नागानन्द नाटक) को पद्य में लिखा था।

(५) नागानन्द नाटक के अतिरिक्त हर्ष ने 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' नामक नाटकों की भी रचना की थी।

(६) हर्ष ने बाण को अपना राजकवि बनाया था। बाण की कृतियाँ—हर्षचरित और कादम्बरी—संस्कृत साहित्य की अमर निधि हैं।

(७) मतंग नामक दूसरा कवि भी हर्ष की राजसभा में रहता था। इसने 'सूर्यशतक' की रचना की।

---

1 काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमंतम्

2 हर्षो हर्षो हृदयवसतिः।

अध्याय १६

यशोवर्मा

यशोवर्मा—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् लगभग १५ वर्षों तक उत्तरी भारत में अराजकता रही। तत्पश्चात् कन्नौज में पुनः एक शक्तिशाली राजा का उदय हुआ। इसका नाम यशोवर्मा था। इसने अपने पराक्रम का परिचय देते हुए दिग्विजय की और एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया। डा० रमाशंकर त्रिपाठी के मतानुसार यशोवर्मा ने १२५ ई० से १५२ ई० तक राज्य किया।

नालन्दा अभिलेख—नालन्दा में एक अभिलेख मिला है जिसमें यशोवर्म देव नामक एक राजा का उल्लेख है। इसने अनेक शत्रुओं को पराजित किया था। अभिलेख इसे 'लोकपाल' कहता है। इसके मन्त्री मार्गपति के पुत्र मालद ने नालन्दा के एक बौद्ध विहार को दान दिया था। अधिकांश विद्वान् इस यशोवर्म देव का समीकरण यशोवर्मा के साथ करते हैं।

दिग्विजय—यशोवर्मा के राजकवि वाकपति ने अपने प्राकृत काव्य 'गौडवहो' में यशोवर्मा की दिग्विजय का वर्णन किया है। इसके अनुसार यशोवर्मा दक्षिणी पूर्वी मार्ग से होता हुआ विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में पहुँचा। तत्पश्चात् उसने मगध पर आक्रमण करके उसके राजा को मार डाला। पुनः वंग को जीतते हुए व पूर्वी समुद्र-तट पर गया। उसने दक्षिणापथ के राजा को परास्त किया और मलय पर्वत को पार करता हुआ दक्षिणी समुद्र तक पहुँच गया जहाँ बालि रावण को अपनी बगल में दबाये घूमता था।[1] उसने पारसीकों से युद्ध किया और पश्चिमी घाट के राज्यों से कर लिया। अब वह नर्मदा नदी के तट पर पहुँचा। तदनन्तर व मरुदेश (राजस्थान) से होता हुआ श्रीकण्ठ आया। फिर वह अयोध्या आया और वहां से मन्दर पर्वत तक गया।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी दिग्विजय के इस वर्णन को सत्य नही मानते, क्योंकि इसमें किसी भी पराजित राजा का नाम नही दिया गया है। परन्तु डा० स्मिथ इस वर्णन को ऐतिहासिक मानते हैं[2]। यशोवर्मा की इस दिग्विजय की पुष्टि पूर्वोल्लिखित नालन्दा अभिलेख से भी होती है जिसमें उसके द्वारा पराजित शत्रुओं का उल्लेख है[3]।

---

1 तंपि वसकन्धरं हरिसुएण कवसन्त-रम्मि काऊण
अम्मि समुद्दुद्देसे भमिअं मन्तो पहू तम्मि।

2 I see no reason to doubt the substantial truth of this contemporary testimony.'

3. सर्वेषां मूर्ध्नि न्यस्ता पवनचलितभूताम्...।

मगध विजय—गौडवहो में उल्लिखित यशोवर्मा की मगध-विजय की पुष्टि दो बातो से होती है—

(१) उसका नालन्दा अभिलेख मगध में है।

(२) गौडवहो के अनुसार उसने अपनी दिग्विजय के पश्चात् मगध में एक नगर की स्थापना की थी। कनघम का मत है कि यह नगर वर्तमान बिहार नगर के स्थान पर था। कीलहर्न के मतानुसार यह वर्तमान घोसावा के स्थान पर था।

इस समय मगध और गौड एक ही राज्य के अन्तर्गत थे। वहाँ का राजा कौन था, इस विषय म भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किय गये हैं। डा० बसाक के मतानुसार यह खड्ग-वशीय राजराजभट्ट था। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार इसे बंगाल का एक अज्ञात राजा बतात ह जिसने मगध को भी अपने अधिकार में कर लिया था। परन्तु अधिक सम्भावना इस बात का है कि यह उत्तरकालीन गुप्त-वश का जीवित-गुप्त द्वितीय था। दवबनाक अभिलख मे इसे 'परमभक्तारक महाराजाधिराज परमश्वर' कहा गया ह। कान्यकुब्ज-नरेश यशावमा जावितगुप्त द्वितीय से यद्ध किय बिना उत्तरी भारत का दिग्विजय नहीं कर सकता था।

दक्षिणी भारत—यशोधर्मा ने दक्षिणी भारत की भी विजय की। परन्तु यह निश्चित रूप स नही कहा जा सकता कि इस समय दक्षिणी भारत का राजा कौन था। कुछ लोग इस चालुक्य-नरेश विनयादित्य (६८१-६९६ ई०) मानते है। नेरूर ताम्रपत्रा स विदित होता है कि विनयादित्य के पुत्र विजयादित्य ने सकलोत्तरायथनाय' से युद्ध किया था और बन्दी बना लिया गया था। सम्भवत. यह 'सकलात्तरापथनाथ' यशोवर्मा था।

पारसीका का पराजय—सम्भवत. गौडवहो मे उल्लिखित पारसीको से मुसलमानो का अर्थ है। इस समय पश्चिमी भारत में मुसलमानो के आक्रमण हो रह थे। कदाचित् यशोवमा ने उन्हे पराजित किया था[1]।

मध्य भारत—चीनी साक्ष्यो से मगध प्रदेश के एक राजा यि-शा-फु-मो का ज्ञान हाता है। बागची महोदय के मतानुसार यह यशोवर्मा था[2]।

पश्चिमोत्तर प्रदेश—गौडवहो के कथनानुसार यशोवर्मा ने मरुदेश और श्रीकण्ठ की विजय की थी। मनिक्याल् में यशोवर्मा की मुद्राये मिली हैं। नालन्दा अभिलेख म उसके एक मन्त्री को 'उदीचीपति' कहा गया है। इन साक्ष्यो के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि यशोवर्मा का अधिकारपश्चिमोत्तर प्रदेश पर था।

कश्मीर-नरेश ललितादित्य मुक्तापीड—इस समय कश्मीर में कर्कोटक-वंश[3]

---

1 इय से जयपेरन्तो पुहईवइ रागे परिवक्ख-लयपहाणो
तुमुला महाहवो आसि चिरयरं पारसीयाहं।

2 Sino—Indian Studies, 1, p. 71

3 Arch. Survey Reports, 11, p. 159.

का परम प्रतापी राजा ललितादित्य मुक्तापीड पर राज्य कर रहा था। यशोवर्मा की भाँति वह भी समस्त उत्तरी भारत को अपने आधिपत्य में रखना चाहता था। अतः दोनों में युद्ध अवश्यम्भावी था। राजतरंगिणी का कथन है कि यमना से लेकर कालिका (काली नदी) तक कान्यकुब्ज-प्रदेश ललितादित्य के अधिकार में उसी प्रकार था जिस प्रकार उसका गृह-प्रांगण।[1] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि ललितादित्य ने यशोवर्मा को परास्त किया था। सम्भवतः अपनी पराजय के पश्चात् यशोवर्मा ने लालितादित्य की अधीनता स्वीकार कर ली थी, क्योंकि राजतरंगिणी का कथन है कि पराजित होने के पश्चात् यशोवर्मा ललितादित्य का गण-गान करता था।[2] आउ-कांग नामक चीनी यात्री के विवरण से ज्ञात होता है कि मग-टी ने मध्य भारत के राजा के साथ सान्धि कर ली थी। यहाँ मंग-टी का अर्थ मक्ता-पीड है और मध्य भारत का राजा यशोवर्मा। ललितादित्य की कुछ मद्रायें उत्तर प्रदेश में बाँदा जिले में प्राप्त हुई हैं। परन्तु इनसे यह अनमान करना ठीक नहीं है कि उत्तर प्रदेश को ललितादित्य ने यशोवर्मा से जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था।

विद्यानुराग—राजतरंगिणी से प्रकट होता है कि वाक्पति और भवभूति यशोवर्मा की राजसभा में रहते थे। वाक्पति ने प्राकृत-काव्य गौडवहो लिखा और भवभूति ने सस्कृत के प्रसिद्ध नाटक उत्तररामचरित, मालतीमाधव और महावीर-चरित लिखे।[1]

धर्म—यशोवर्मा शैव धर्मावलम्बी था

---

1 किमन्यत्कान्यकुब्जोर्वी यमुनापार-तोऽस्य सा
अभूदाकालिकातीरं गृहप्राङ्गणवद्वशे।

2 कविर्वाक्पति राजश्रीभवभूत्यादि-सेवितः
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुति-बन्दिताम्।

अध्याय १७

राजपूतों की उत्पत्ति

राजपूतकाल—भारतीय इतिहास में ७०० ई० से लेकर १२०० ई० तक का काल 'राजपूत-काल' कहलाता है। इस काल में देश के विभिन्न भागों में राजपूत-राज्यों का उदय तथा पतन हुआ। इस काल की प्रतिहार, गाहड़वाल, चाहमान, चालुक्य, परमार आदि जातियाँ राजपूत थी।

राजपूत अनार्य थे—स्मिथ, त्रुक, भण्डारकर आदि अनेक विद्वानों ने राजपूतों को भारतीय आर्यों की सन्तान नहीं माना है। इनके मतानुसार वे भारतीयकृत विदेशियों तथा अनार्यों की सन्तान थे। इस मत के पक्ष मे अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(१) राजपूत-काल के पूर्व भारतीय साहित्य अथवा अभिलेखो में कही भी 'राजपूत' शब्द का प्रयोग नही मिलता।

(२) यदि राजपूत भारतीय क्षत्रिय होते तो 'अमरकोश' मे 'राजपूत' शब्द क्षत्रिय का पर्यायवाची बताया जाता।

(३) पराशरस्मृति में राजपूत को वैश्य पुरुष और अम्बष्ट स्त्री से उन्पन्न बताया गया है। अत वह शूद्र सिद्ध होता है।

(४) पृथ्वीराजरासो मे कहा गया है कि जब म्लेच्छो के अनाचार से चारो ओर त्राहि-त्राहि मच गई तो वसिष्ठ मुनि ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ किया और अग्नि-कुण्ड से चार-योद्धा—प्रतिहार, चालुक्य, चाहमान और परमार— उत्पन्न किये। ये अग्निवशी राजपूत कहलाये। वास्तव में इस ,अग्निकुवश की गाथा से यही आशय है कि कुछ पविदेशो अग्नि-सस्कार-द्वारा भारतीय क्षत्रिय बनाये गये थे।
(५) राजपूत मदिरा-पान करते थ, अश्व-पूजा करते थे, युद्धप्रिय थे। उनमें अनेक प्रकार के अन्ध विश्वास प्रचलित थे। उनके समाज में स्त्रियों की विशेष प्रतिष्ठा थी। ये समस्त विशेषताये विदेशी समाज की है।

(६) डा० भण्डारकर के मतानुसार गुर्जर विदेशी थे। वे विदेशी खिजरो की सन्तान थे। राजपूत गुर्जरो की सन्तान होने के कारण विदेशी थे।

(७) पुराणो में हैहय राजपूतो का उल्लेख शको और यवनों के साथ-साथ किया गया है। अतः वह भी विदेशी था।

(८) प्रतिहार राजपूत भी गुर्जर थे, क्योंकि उन्हें गुर्जर-प्रतिहार कहा जाता था।

(९) चालुक्य राजपूत भी गुर्जर थे। यही कारण है कि जब उन्होंने लाट पर अधिकार कर लिया तो वह प्रदेश उनके गुर्जर होने के कारण गुजरात कहलाने लगा'।

(१०) 'पृथ्वीराज-विजय' के अनुसार चाहमान-वंश का संस्थापक वासुदेव था। डा० भण्डारकर महोदय का मत है कि खिजरजातीय वासुदेव का कुछ मुद्रायें मिली है। इन पर 'श्रीवासुदेव चाहमान' लिखा हुआ है। इससे प्रकट होता है कि चाहमान-वंश खिजरो की सन्तान था।

खण्डन—परन्तु समीक्षा करने पर ये समस्त तर्क नितान्त भ्रामक सिद्ध होते है। सा० वा० वैद्य तथा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानो ने राजपूतों को भारतीय आर्यो का सन्तान माना है—

(१) 'राजपूत' शब्द संस्कृत के राजपुत्र" शब्द का रूपान्तर है। 'राजपुत्र' शब्द संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में द्रौपदी को 'राजपुत्री' कहा है।

बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण जाति-व्यवस्था टूटने लगी। भारतवर्ष के क्षत्रियो ने भी वर्णाश्रम-धर्म के पालन करने में शिथलता दिखाई। चारो ओर अन्तर्जातीय विवाह होने लगे। ऐसी परिस्थिति में राजस्थान के क्षत्रियो ने अपनी रक्त-शुद्धता सुरक्षित रखने के लिये केवल राजस्थान के क्षत्रिय-वंशो मे ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने प्रारम्भ किये। इस प्रकार शेष भारत के अन्य क्षत्रियो के प्रतिकूल राजस्थान के क्षत्रियो का एक विशिष्ट इकाई बन गई। यही क्षत्रिय शासक-वर्ग के होने के कारण राजपूत कहलाने लगे। परन्तु इनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नही है।

(२) यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि 'अमरकोश' में सभी शब्दों के सभी पर्यायवाची शब्द मिलते है। पुनः 'राजपूत' शब्द का एक विशिष्ट क्षत्रिय वर्ग के अर्थ में प्रयोग 'अमरकोश' की रचना के पश्चात् हुआ।

(३) पराशर का पूर्वोल्लिखित कथन स्पष्ट रूप से प्रक्षेप है।

(४) 'पृथ्वीराजरासो' में अनेकानेक अनैतिकहासिक एवं काल्पनिक बातें लिखी गई हैं। पुनश्च, इस ग्रन्थ में विदेशीयो के अग्नि द्वारा शुद्धीकरण की बात कही भी नही कही गई है।

(५) राजपूतो में प्रचलित उपयक्त कोई भी ऐसी प्रथा नही जो आर्यों में न पाई जाती हो।

(६) इस बात का निश्चित प्रमाण नही कि गुर्जर विदेशी अथवा खिजरों की सन्तान थे।पुनः यदि यह मान भी लिया जाय कि गुर्जर विदेशी थे तो इस बात का कोई प्रमाण नही कि सभी राजपूत गूर्जरों की सन्तान थे।

(७) पुराण हैहय जाति को चन्द्रवंशी क्षत्रिय बताते है, विदेशी नहीं।

(८) यह सत्य है कि अरबों और राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों को गुर्जर कहा है। परन्तु इसका कारण यह है कि प्रतिहारों की मूल शाखा गुर्जरत्रा (राजस्थान) में रहती थी। साहित्य और अभिलेख प्रतिहारों को सूर्यवंशी लक्ष्मण की सन्तान मानते हैं।

(९) लाट का नाम गुजरात इसलिये पड़ा, क्योंकि उसकी भाषा गुजराती थी, न कि उसके शासक चालुक्य गुर्जर थे। ह्वेनसाँग चालुक्य पुलकेशी द्वितीय को क्षत्रिय बताता है।

(१०) उपर्युक्त मुद्राओं पर 'श्रीवासुदेव बाहमन लिखा है, 'श्रीवासुदेव चाहमान' नहीं। पुन इस वासुदेव को कनघम महोदय हूण और रैप्सन महोदय ससेनिअन मानते हैं, खिजर नहीं। ऐसी अवस्था में इन मुद्राओं के वासुदेव को चाहमान-वंश का संस्थापक वासुदेव बताना कोई कल्पना है।

हम्मीर महाकाव्य चाहमानों को सूर्य की सन्तान बताता है।

अध्याय १८

त्रिवंशीय संघर्ष

(प्रतिहार, पाल और राष्ट्रकूट वंश)

प्रतिहार-वंश—इस वंश की स्थापना आठवीं शताब्दी में अवन्ती में हुई थी। हरिवंश के एक शासक वत्सराज को अवन्तिभूभृत (अवन्ती का राजा) कहता है। राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष के संजन ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि दन्तिदुर्ग ने एक महादान किया था। उस अवसर पर उसने गुर्जर-प्रतिहार-नरेश को उज्जैन (अवन्ती) में प्रतिहार (द्वारपाल) बनाया था। इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिहार-वंश का उदय अवन्ती में हुआ था।

यह वश क्षत्रिय जातीय था। ग्वालियर अभिलेख में प्रतिहार-नरेशों वत्सराज[1] और नागभट द्वितीय[2] को क्षत्रिय कहा गया है।[3] यही अभिलेख प्रतिहार-वश को सौमित्र (लक्ष्मण) से उत्पन्न बताता है। राजशेखर प्रतिहार-नरेशों महेन्द्रपाल तथा महीपाल प्रथम को क्रमश 'रघुकुलतिलक[3]' और 'रघुवंशमुकुटमणि'[4] कहता है।

इस वंश का संस्थापक नागभट प्रथम (७३०-७६० ई०) था। तत्पश्चात् देवराज (७६०-७८०), और वत्सराज (७८०-८०५) ने क्रमशः राज्य किया। ये सभी अवन्ती (उज्जैन) के राजा थे।

चौथा राजा नागभट द्वितीय (८०५-८३३) एक प्रतापी राजा था। उसने कन्नौज की विजय की और उसे अपनी राजधानी बनाया। तभी से कन्नौज प्रतिहार-सत्ता का केन्द्र बन गया।

पाल-वंश—इस वंश की स्थापना गोपाल नामक एक व्यक्ति ने की थी। दीर्घकालीन अराजकता का अन्त करने के लिये बंगाल की जनता ने इसे अपना राजा चुना। राजा बनने के पूर्व गोपाल एक सेनापति था।

गोपाल ने ७५० ई० से ७७० ई० तक राज्य किया। इसके पश्चात् धर्मपाल और देवपाल नामक दो राजा हुए। इनके समय से पाल-वंश भारत के प्रमुख राजवंशों में गिना जाने लगा।

राष्ट्रकूट-वंश—यह वंश प्रतिहार और पाल-वंशों का समकालीन था। अशोक के अभिलेखों में रठिकों का उल्लेख हुआ है। नागानिका के नानाघाट अभिलेख में

---

1 एकः क्षत्रियपुंगवेषु
2 यः क्षत्रधामविधिबद्धबलिप्रबन्धः
3 विद्धशालभंजिका
4 बालभारत

महारठियों का उल्लेख है। डा० अल्तेकर का मत है कि राष्ट्रकूट इन्ही रठिकों की सन्तान थे।

अभिलेखों में राष्ट्रकूटो को 'लट्टलूरपुरवराधीश' कहा गया है। अतः वे लट्टलूर के मूलनिवासी प्रतीत होते हैं। लट्टलूर सम्भवत भूतपूर्व हैदराबाद राज्य के बेदर जिले का लाटूर था।

निर्बल कान्यकुब्ज-राज्य—जिस समय भारतवर्ष में उपयुक्त तीनो वश अपना-अपना राज्य बढाने की योजनायें बना रहे थे, उसी समय कान्यकुब्ज में निर्बल आयुध-वश का राज्य था। इस वश का उदय यशोवर्मा की मृत्यु के पश्चात् हुआ था। इसमे तीन राजा हुए—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध। इन्होने लगभग ७७० ई० से लेकर ८१० ई० तक शासन किया। इस वश की निर्बलता से प्रोत्साहित होकर प्रतिहार और पाल दोनो वशो ने कान्यकुब्ज-राज्य को अपने अधिकार में करने की चेष्टा की। अवसर पाकर दक्षिणी भारत के राष्ट्रकूट-वश ने भी उत्तरी भारत की राजनीति मे भाग लिया। परिणामत इन तीनो वशो के बीच दीर्घ-कालीन सघर्ष का सूत्रपात हुआ। इसी सघर्ष को त्रिवशीय सघर्ष कहते हैं।

त्रिवशीय सघर्ष

प्रतिहार-अवन्ती के प्रतिहार-वश का सर्वप्रतापी राजा वत्सराज था। इसने ७८० ई० से ८०५ ई० तक शासन किया। ७८३ ई० के लगभग इसने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा इन्द्रायुध को अपने प्रभाव मे रहने के लिये विवश किया।

इस समय बगाल मे पाल-वश के प्रतापी राजा धर्मपाल का राज्य था। वह प्रतिहार-वश की बढती हुई शक्ति के प्रति उदासीन नही रह सकता था। अत. उसने वत्सराज को चुनौती दी। दोनो मे युद्ध हुआ। इसमे वत्सराज विजयी हुआ। इस युद्ध के निम्नलिखित प्रमाण मिलते हैं—

(१) राधनपुर दानपत्र से प्रकट होता है कि वत्सराज ने बगाल के राजा के दो छत्रों और यश को हर लिया था।[1] धर्मपाल गौड और वग दोनो प्रदेशो का राजा था। इसी से उसके दो छत्रो का उल्लेख किया गया है।

(२) वनी-डिण्डोरी लेख से विदित होता है कि वत्सराज ने सरलता से धर्मराज को हरा दिया था।[2]

(३) पृथ्वीराज विजय नामक ग्रन्थ का कथन है कि चाहमान-नरेश दुर्लभ-राज ने गौड-नरेश के विरुद्ध युद्ध किया था और अपनी तलवार को गगा और समुद्र के सगम मे स्नान कराया था। दुर्लभराज वत्सराज का सामन्त था। उसने अपने स्वामी के लिये ही धर्मपाल के विरुद्ध युद्ध किया था।

---

1 गौडीयं शरदिन्दुपादधवलं छत्र-द्वयं केवल तस्मान्नाहृततद्यशोऽपि।

2 हेलास्वीकृत गौडराजकमला-मत्तम्... वत्सराजम्।

डा० मजूमदार के कथनानुसार वत्सराज और धर्मपाल का युद्ध गंगा-यमुना के दोआब में हुआ था। परन्तु यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पृथ्वीराज-विजय से विदित होता है कि यह युद्ध बंगाल में हुआ था।

राष्ट्रकूट-आक्रमण—इसी समय राष्ट्रकूट-नरेश ध्रुव ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया और वत्सराज को पराजित किया। राधनपुर और वनी-डिण्डोरी अभिलेखो से विदित होता है कि अपनी इस पराजय के पश्चात् वत्सराज को मरु-स्थल में शरण लेनी पड़ी।

अब पाल नरेश धर्मपाल की बारी आई। संजन[1] और सूरत[2] अभिलेखों से प्रकट होता है कि ध्रुव ने धर्मपाल को गगा-यमुना के दोआब मे पराजित किया था। बड़ौदा अभिलेख से प्रकट होता है कि उसने गगा-यमुना के दोआब पर अपना अधिकार कर लिया था[3]।

धर्मपाल का प्रभुत्व—परन्तु उत्तरी भारत की विजय के पश्चात् राष्ट्रकूट-नरेश ध्रुव वापस चला गया। उसके जाने के पश्चात् धर्मपाल ने पुन. अपनी शक्ति का सगठन किया और कान्यकुब्ज पर आक्रमण करके उसके राजा इन्द्रायुध को सिंहासन से उतार दिया तथा अपने पक्षपाती चक्रायुध को कान्यकुब्ज का राजा बनाया[4]।

तत्पश्चात् उसने कान्यकुब्ज मे एक विशाल दरबार किया। भागलपुर ताम्रपत्र और खलीमपुर ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि इस दरबार में भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु,यवन, अवन्ती, गन्धार और कीर के राजाओ को आमन्त्रित किया गया था। यहाँ अवन्ती-नरेश से वत्सराज का तात्पर्य है। डा० मजूमदार का मत है कि ये समस्त राज्य धर्मपाल के अधीन थे।[5] इस प्रकार धर्मपाल कुछ समय के लिये उत्तरी भारत का सर्वशक्तिशाली सम्राट् बन गया। गुजराती लेखक सोड्ढल अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' में धर्मपाल को 'उत्तरापथस्वामिन्' कहता है।

नागभट द्वितीय और गोविन्द तृतीय—८०५ ई० में वत्सराज की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र नागभट द्वितीय सिंहासन पर बैठा। इसने ८०५ ई० से ८३३ ई०

---

1 गंगायमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः लक्ष्मी लीलारविन्दानि श्वेतछत्राणि योऽहरत्

2 गंगौघसन्ततिनिरोधविवृद्धकीर्तिः

3 यो गंगायमुने तरंग सुभगे गृह्णन्परेभ्यः समम्।
साक्षाच्चिह्नविभेन कोत्तमपदं तत्प्राप्तवानीश्वरम्।

4 जित्वेन्द्रराजप्रभृतीन् अरातीन् उपार्जिता येन महोदय श्रीः दत्ता पुनः सा बलिनार्थयित्वा चक्रायुधायानाति वामने।
—भागलपुर अभिलेख

5 'These states were not annexed by Dharmapala but their rulers acknowledged his suzerainty and were evidently left undisturbed so long as they paid homage and fulfilled the other conditions imposed on them.'

तक शासन किया। इस समय दक्षिण में राष्ट्रकूट-नरेश गोविन्द तृतीय (७९३ ई०-८१४ ई०) का शासन था। इसने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया और प्रतिहार-नरेश नागभट, द्वितीय को पराजित किया। उसकी इस सफलता का वर्णन अनेक अभिलेखों में हुआ है—

(१) संजन ताम्रपत्र—इसके अनुसार गोविन्द, तृतीय ने नागभट और चन्द्रगुप्त दोनों के यश को नष्ट कर दिया था।[1]

(२) पठारी स्तम्भ-लेख—इसका कथन है कि कर्कराज ने नागावलोक को युद्ध में पराजित किया था। कर्कराज गोविन्द, तृतीय का सामन्त था और नागावलोक नागभट द्वितीय था।

(३) राधनपुर ताम्रपत्र—इसका कथन है कि गोविन्द, तृतीय के भय से नागभट विलुप्त हो गया जिससे उसे स्वप्न में भी युद्ध न दिखाई पड़े।[2]

धर्मपाल और गोविन्द तृतीय—संजन ताम्रपत्र से विदित होता है कि बंगाल-नरेश धर्मपाल तथा उसके द्वारा संरक्षित कन्नौज-नरेश चक्रायुध ने स्वयं ही गोविन्द, तृतीय की अधीनता स्वीकार कर ली थी।[3]

इस प्रकार गोविन्द, तृतीय के नेतृत्व में एक बार फिर राष्ट्रकूट-वंश ने उत्तरी भारत को पदाक्रान्त कर डाला। परन्तु ध्रुव की भाँति उसने भी उत्तरी भारत को अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया। अपनी विजयों के पश्चात् वह अपने राज्य लौट गया।

नागभट की कन्नौज-विजय—गोविन्द तृतीय की अनुपस्थिति से नागभट द्वितीय ने पूरा लाभ उठाया। उसने कन्नौज पर आक्रमण किया और चक्रायुध को पराजित करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया।[4] तत्पश्चात् कन्नौज प्रतिहार-राज्य की राजधानी बन गया।

धर्मपाल की पराजय—चक्रायुध की पराजय का समाचार पाकर धर्मपाल ने नागभट के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु ग्वालियर अभिलेख नागभट ने उसे भी परास्त कर दिया।[5]

---

१ स नागभटचन्द्रगुप्तनृपयोर्यः शौर्यं रणेष्वहार्यमपहार्य धैर्यं विकलानथोन्मीलयत्
यशोर्जनपरो नृपान् स्वभुवि शालिसस्यानिव पुनः पुनरतिष्ठिपत्स्वपद एव चान्यानपि

२ गूर्जरो मङ्क्षु क्वापि भयात्तथा न समरं स्वप्नेऽपि पश्येत् यथा।

3 स्वयमेवोपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ हिमवान्कीर्तिसरूपतामुपगतस्तत्कीर्तिनारायणः

4 जित्वा पराश्रयकृतस्फुटनीचभावं चक्रायुधं विनयनम्रवपुर्व्यराजत्।

5 निर्जित्य वंगपतिमाविरभूद्विवस्वानुद्यन्निव त्रिजगदेकविकासको यः।

धर्मपाल की पराजय का साक्ष्य बड़ोदा अभिलेख से भी प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि गुर्जर-नरेश (नागभट द्वितीय) गौड़-वंग-नरेश के ऊपर विजय प्राप्त करने के कारण अभिमानी हो गया था।[1]

इसी प्रकार जोधपुर अभिलेख से प्रकट होता है कि नागभट द्वितीय के सामन्त कक्क ने मुद्‌गगिरि (मुंगेर) में गौड़ों से युद्ध करते हुए यश प्राप्त किया था। इस कथन से स्पष्ट है कि कक्क नागभट द्वितीय की ओर से धर्मपाल से लड़ा था और यह युद्ध मुंगेर में हुआ था।

इस प्रकार त्रिवंशीय संघर्ष में अन्ततोगत्वा प्रतिहार-नरेश नागभट द्वितीय को सर्वाधिक लाभ हुआ और वह उत्तरी भारत का सर्वशक्तिशाली सम्राट् बन गया।[2]

मिहिरभोज—नागभट द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र रामभद्र सिंहासनासीन हुआ। इसने ८३३ से ८३६ तक शासन किया। यह एक निर्बल राजा था। परन्तु यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि इसका पालों अथवा राष्ट्रकूटों के साथ युद्ध हुआ था।

रामभद्र के पश्चात् मिहिरभोज प्रथम प्रतिहार-वंश का राजा हुआ। इसने ८३६ से ८८५ तक राज्य किया। यह अपने समय का महान् प्रतापी राजा सिद्ध हुआ।

राष्ट्रकूटों से युद्ध—इस समय राष्ट्रकूट-वंश में अमोघवर्ष का निर्बल शासन था। सिंहासन पर बैठने के समय उसकी आयु ११-१२ वर्ष की थी। उसने ८१४ ई० से ८७८ ई० तक शासन किया।

मिहिरभोज ने राष्ट्रकूट-राज्य के उज्जैन-प्रदेश पर आक्रमण किया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु उज्जैन पर प्रतिहारों का अधिकार अधिक समय तक न रहा। बगुम्रा दान-पत्र से विदित होता है कि गुजरात शाखा के राष्ट्रकूट ध्रुव ने मिहिरभोज को परास्त कर दिया था।

अमोघवर्ष के पश्चात् उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय (८७८ ई०-९१४ ई०) राष्ट्रकूट-नरेश हुआ। इसके समय में भी प्रतिहार-वंश के साथ शत्रुता चलती रही। इस शत्रुता का विशेष कारण मालवा था। दोनों ही वंश इस पर अपना-अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनसे यह निश्चितरूप से विदित नहीं होता कि विजय किसकी हुई थी, क्योंकि अभिलेख अपने-अपने वंश की विजय का दावा करते हैं। इस परिस्थिति में यह अनुमान किया जा सकता है कि युद्ध पूर्णरूप से निर्णयात्मक नहीं हुआ—

---

1 गौडेन्द्रवंगपतिनिर्जयदुर्विदग्धः।

2 'Nagabhata thus emerged out triumphant in this triangular struggle. —Dr. Puri

3 गुर्जरबलमिति बलवत् समुद्यतं युद्धितं च कुल्येन
एकाकिनैव विहितं पुरामुखं लीलया येन।

(१) बर्तून संग्रहालय (भवनगर) अभिलेख से प्रकट होता है कि मिहिरभोज ने कृष्ण द्वितीय की सेना को भगा दिया था।

(२) परन्तु बगुम्रा ताम्रपत्र का कथन है कि राष्ट्रकूटों ने उज्जैन में भोज को पराजित किया।

पालों से युद्ध—इस समय पाल-वंश में देवपाल (८१०-५०) पराक्रमी नरेश राज्य कर रहा था। इसके शासन-काल में भी प्रतिहार-पाल-संघर्ष चलता रहा।

(१) ग्वालियर अभिलेख से प्रकट होता है कि मिहिरभोज ने धर्मपाल के पुत्र देवपाल को पराजित किया।[1]

(२) कहला अभिलेख भी पाल-नरेश के विरुद्ध मिहिरभोज की विजय का उल्लेख करता है। मिहिरभोज के सामन्त गुणाम्बोधिदेव ने गौड-लक्ष्मी का अपहरण कर लिया था।[2]

(३) परन्तु बदल अभिलेख का कथन है कि पाल-नरेश देवपाल ने गुर्जरनाथ (मिहिरभोज) का दर्प नष्ट कर दिया।[3]

इन परस्पर-विरोधी उल्लेखों से अनुमान लगाया जा सकता है कि पालों और प्रतिहारो का युद्ध भी अनिर्णीत रहा था।

सुलेमान का उल्लेख—अरब यात्री सुलेमान इस काल में भारत आया था। उसके वर्णन से भी प्रकट होता है कि रुहमी (पाल-नरेश) की बल्लहरा (राष्ट्रकूट) और गुज (गुर्जर-प्रतिहार) से शत्रुता थी। राष्ट्रकूट-सेना और प्रतिहार-सेना की अपेक्षा पाल-सेना बहुसंख्यक थी।

महेन्द्रपाल, प्रथम और पाल—मिहिरभोज के पश्चात् उसके पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम ने ८८५ ई० से ९१० ई० तक शासन किया। पाल-वंश का राजा नारायणपाल (८५४-९०८) इसका समकालीन था।

मिहिरभोज के अभिलेख उत्तर प्रदेश के पूर्व में प्राप्त नही होते, परन्तु महेन्द्रपाल प्रथम के तीन अभिलेख बिहार में और एक अभिलेख बंगाल में प्राप्त हुआ है। इनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि महेद्रपाल ने नेपाल-नरेश नारायणपाल को पराजित कर बगाल के कुछ भाग और बिहार पर अधिकार कर लिया था। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मगध में नारायणपाल का कोई भी अभिलेख उसके शासन के १७ वें वर्ष से लेकर ३७ वें वर्ष तक

---

1. यस्याभूत् कुलभूमिभृत्प्रमथनव्यस्तान्यसैन्याम्बुधेः
व्यूढां च स्फुटितारिलाजनिवहान्हुत्वा प्रतापानले।
गुप्ता वृद्धगुणैरनन्यपतिभिः शान्तैस्सुधोवभासिभि-
र्धर्मापत्ययशः प्रभूतिरपरा लक्ष्मीः पुनर्भुन्नया।

2. असिप्रकटपृथुपथेनहृता गौडलक्ष्मीः।

3 उत्कीलितोत्कलकुलं हृतहूणगर्वं खर्वीकृत द्रविडगुर्जरनाथ दर्पम्।

नहीं मिला है। परन्तु ९०८ ई० में उसका एक लेख मगध (उद्दण्डपुर) में मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसने मगध पर पुन: अधिकार कर लिया था।

पाल और राष्ट्रकूट—सिरुर अभिलेख का कथन है कि अंग, बंग,मगध तथा बेंगी के राजा राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष (८१४-७८) के के अधीन थे। इस आधार पर डा० मजूमदार का मत है कि अमोघवर्ष ने पाल-नरेश नारायणपाल को पराजित किया था। परन्तु इस मत के पक्ष में कोई अन्य प्रमाण नहीं है।

नारायणपाल अमोघवर्ष के पुत्र तथा उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय (८७८-९१४) का भी समकालीन था। उत्तरपुराण के परिशिष्ट से प्रकट होता है कि कृष्ण, द्वितीय के हाथियो ने गंगा नदी का पानी पिया था[1]। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि कृष्ण द्वितीय ने बंगाल पर आक्रमण किया था और उसके राजा नारायणपाल को परास्त किया था। परन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव में यह मत भी सन्दिग्ध है।

भोज द्वितीय—महेन्द्रपाल के पश्चात् उसके पुत्र भोज द्वितीय ने ९१० ई० से ९१३ ई० तक राज्य किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे उसके भाई महीपाल प्रथम ने पराजित कर दिया और सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

महीपाल प्रथम—इसे विनायकपाल और हेरम्बपाल भी कहते हैं। इसने ९१३ से ९४५ तक शासन किया। यह प्रतिहार-वंश का एक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ।

राष्ट्रकूटों से युद्ध—इस समय राष्ट्रकूट-वंश में इन्द्र तृतीय (९१४-९२२) का राज्य था। काम्बे दानपत्र से प्रकट होता है कि इन्द्र ने मालवा पर आक्रमण किया। उसके गजों ने अपने दाँतों के घातों से भगवान् कालप्रिय के मन्दिर के प्रांगण को विषम बना दिया। तत्पश्चात् यमुना को पार करके शत्रु-नगर महोदय (कान्यकुब्ज) पर आक्रमण किया और उसे नष्ट कर दिया।[2] महीपाल भाग खडा हुआ। इन्द्र के सेनापति नरसिंह चालुक्य ने उसका प्रयाग तक पीछा किया और अपने घोड़ो को गगा और यमुना के सगम में नहलाया[3]।

---

1 यस्योत्तुंगमतंगजा निजमदस्रोतस्विनी संगमात
गांगं वारि कलंकितं पटु मुहुः पीत्वाप्य-गच्छेत्तृषाम्।

2 यस्यात्यमत् द्विपदन्तघातविषमं कालप्रियप्रांगणम्
तीर्णयत् तुरगैरगाध यमुना सिन्धु-प्रतिस्पर्धिनी
येनेदं महोदयारिनगरं निर्मूल-मुन्मूलितं
नाम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमिति ख्यातिं परं नीयते।

3 कर्णाटकशब्दानुशासन

पालों से सम्बन्ध—पाल-वंश के दो राजा—राज्यपाल और गोपाल द्वितीय—प्रतिहार-नरेश महीपाल के समकालीन थे। अभिलेखों से प्रकट होता है कि इन दोनो के अधीन बंगाल और मगध थे। इसके साथ-साथ इस बात का भी कोई प्रमाण नही है कि इन्हें प्रतिहारो से युद्ध करना पड़ा हो। सारांशतः इस काल में प्रतिहारो और पालो के बीच शान्ति रही।

राष्ट्रकूटों से पुनः युद्ध—इन्द्र तृतीय के पश्चात् उसका पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय (९२२-२३) सिंहासनासीन हुआ। इसे सिंहासन से उतार कर अथवा मार कर इसका भाई गोविन्द चतुर्थ राष्ट्रकूट-वश का राजा हुआ। इसने ९२३ से ९३६ तक शासन किया। यह अत्यन्त विलासी व्यक्ति था। इसके शासन-काल में राष्ट्रकूट-राज्य की शक्ति का ह्रास होने लगा। गोविन्द चतुर्थ को सिंहासन से उतार कर उसके चाचा अमोघवर्ष तृतीय को ९३६ मे राजा बनाया। इसने ९३६ से ९३९ तक शासन किया। इस प्रकार इन्द्र तृतीय, अमोघवर्ष द्वितीय गोविन्द, चतुर्थ और अमोघवर्ष तृतीय सभी प्रतिहार-नरेश महीपाल के समकालीन थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि महीपाल ने राष्ट्रकूट-वश की निर्बलता से पूरा लाभ उठाया। उसने कन्नौज पर पुन. अधिकार कर लिया। क्षेमीश्वर के नाटक चण्ड-कौशिकम् में महीपाल की कर्नाट्-विजय का उल्लेख है।[1] डा० मजूमदार का मत है कि कर्नाटो से राष्ट्रकूटो का आशय है। देवली और कर्हाद अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष, तृतीय के युवराज कृष्ण (तृतीय) ने गुर्जर को पराजित कर उससे कालजर और चित्रकूट छीन लिये।[2] सम्भवतः यह गुर्जर महीपाल, प्रथम था।

अरब यात्री अलमसूदी भी लिखता है कि प्रतिहार-नरेश बऊर (महीपाल प्रथम) और बल्हर (राष्ट्रकूट-नरेश) में शत्रुता थी और बऊर ने राष्ट्रकूटो से अपनी रक्षा के लिये दक्षिण मे एक पृथक् सेना रक्खी थी।

महीपाल, प्रथम के उत्तराधिकारी—महीपाल प्रथम के पश्चात् प्रतिहार-वंश में अनेक निर्बल राजा हुआ। ये तत्कालीन सकटमय और संघर्षपूर्ण स्थिति में अपने राज्य की रक्षा न कर सके और धीरे-धीरे उसका विलोप हो गया।

नारायण पाल के पश्चात् पाल-वश भी पतनोन्मुख था। अतः यह वंश भी

---

1 यः संश्रित्य प्रकृतिग मामार्यचाणक्य-
नीतिं
जित्वा नन्दान् कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो
जिगाय
कर्नाटत्वं ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तुं
दोर्दर्पाढ्यः स पुनरभवच्छ्रीमहीपाल-
देवः।

2 दक्षिणदिग्दुर्गविजयमाकर्ण्य
गलिता गूर्जरहृदयात्कालंजर चित्र-
कूटाशा।

प्रतिहारों की निर्बलता का लाभ उठाकर उत्तरी भारत में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिये नितान्त असक्त था।

९३९ ई० में अमोघवर्ष, तृतीय की मृत्यु के पश्चात् कृष्ण, तृतीय राष्ट्रकूट-वंश का राजा हुआ। इसने ९३९ ई० से ९६८ ई० तक शासन किया। यह परम पराक्रमी नरेश था। परन्तु इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि इसने उत्तरी भारत में अपना साम्राज्य-विस्तार किया।

कृष्ण तृतीय के पश्चात् राष्ट्रकूट-राज्य की भी अवनति होने लगी और शनैः-शनैः वह भी छिन्न-भिन्न हो गया।

इस प्रकार तीनों-वंशों—प्रतिहार, पाल और राष्ट्रकूट के पतन के साथ-साथ दीर्घकालीन त्रिवंशीय संघर्ष का अन्त हुआ।

अध्याय १९

गाहडवाल-वंश

गाहडवाल कौन थे ?—चार गाहडवाल अभिलेखो में यह नाम मिलता है। परन्तु वे अथवा अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य 'गाहडवाल' शब्द की व्युत्पत्ति पर कोई प्रकाश नही डालते। कुछ विद्वानो का मत है कि यह शब्द 'ग्रहवार' से बना है। ग्रहवार का अर्थ है 'ग्रह का विजेता'। ययाति के पुत्र देवदास ने शनि ग्रह पर विजय प्राप्त की थी। अत. उन्हें 'ग्रहवार' कहा गया। प्रारम्भ मे यह वंश कलचुरि-वंश के अधीन था।

यशोविग्रह—चन्द्रावती अभिलेख से प्रकट होता है कि इस वंश का सर्वप्रथम राजा यशोविग्रह था। इसने कुछ युद्धों में विजय प्राप्त की। परन्तु फिर भी यह एकमात्र मामन्त शासक ही था, क्योकि इसके नाम के साथ कोई भी राजोचित विरुद नही मिलता।[1]

महीचन्द्र—यशोविग्रह के पश्चात् उसका पुत्र महीपाल राजा हुआ इसके नाम महीतल और महीयल भी मिलते हैं। रहन दानपत्र का कथन है कि इसने अनेक शत्रुओ को परास्त किया था।[2] चन्द्रावती अभिलेख का कथन है कि उसकी कीर्ति समुद्र पार चली गई थी।[3] परन्तु इसकी लघु उपाधि 'नृप' से अनुमान किया जा सकता है कि यह एकमात्र मामन्त शासक ही था।[4]

चन्द्रदेव (१०९०-११०३)—यह महीचन्द्र का पुत्र था। इसे चन्द्रादित्य कहते है। प्रतिहार-वश का पतन तो पहले ही हो चुका था। इस समय कलचुरि-वश भी पतनोन्मुख था। बहसि अभिलेख से प्रकट होता है कि भोज (प्रतिहार-नरेश) और कर्ण कलचुरी नरेश के पश्चात् पृथ्वी पर अत्याचार होने लगे। चन्द्रदेव ने इन अत्याचारो से पृथ्वी की रक्षा की। सम्भव है कि इन अत्याचारो का कारण मुसलमानो के आक्रमण हो। हबीब अस्सियर से प्रकट होता है कि गजनी के सुल्तान इब्राहीम ने भारत पर अनेक बार आक्रमण किये थे। चन्द्रदेव ने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित करते हुए कलचुरि यश कर्ण से उत्तर प्रदेश का बडा भाग छीन

---

1 तस्मिन्वंशे समुत्पन्नो यशोविग्रह- संज्ञकः
विग्रह मेदिनी नये दण्डप्रणयिनी हृता।

2 अमून्नृपः गाहडवालवंशे महीतल- नामा जितारिचक्रः।

3 तत्सुतोऽभून्महीचन्द्रश्चन्द्रधामनि-भनि भं येनापारमकूपारपार व्यापारितं यशः।

4 याते श्रीभोजभूपे विबुधवरवधूनेत्र सीमातिथित्वं श्रीकर्णे कीर्ति शेषं गतवति च नृपेक्ष्मात्य ये भर्तरि धरित्रोनिर्धिविम प्रीतियोगादुपेत त्राता विश्वासपूर्वं समभवदिह स क्ष्मापतिश्चन्द्रदेवः।

लिया। चन्द्रावती अभिलेख से प्रकट होता है कि उसने काशी, कान्यकुब्ज, उत्तर कोसल और दिल्ली-प्रदेश पर अधिकार कर लिया था।[1] इस प्रकार उसका राज्य काशी से लेकर दिल्ली तक विस्तृत हो गया। कान्यकुब्ज के ऐतिहासिक नगर पर अधिकार ने उसे और उसके वंश को अपूर्व प्रतिष्ठा प्रदान की।[2]

मुस्लिम लेखकों का कथन है कि महमूद ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया था और उसने वहाँ चाँदराय को अपने अस्तबल का अधिकारी बनाया था। जब महमूद चला गया तो चाँदराय ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया। डा० गाँगुली चाँदराय का समीकरण चन्द्रदेव के साथ करते हैं।[3]

एच. सी. रे और रोमा नियोगी इस कथन पर विश्वास नहीं करते कि इस समय से गाहडवालों की राजधानी कान्यकुब्ज बन गई। इनके तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) मुसलमान लेखक गाहडवालों को काशी-नरेश कहते हैं।

(२) गाहडवालो के अधिकांश अभिलेख काशी से प्राप्त हुए हैं।

(३) चन्देल-अभिलेखभी गाहडवालों को काशी-नरेश कहते हैं।

(४) चन्दराय के समय कान्यकुब्ज पर राष्ट्रकूट-नरेशों गोपाल और मदनपाल का अधिकार था।

कान्यकुब्ज अपने महत्व के कारण ही गाहडवालों की राजधानी कहलाता था,

---

1 काशीकुशिकोत्तरकोशलेन्द्रस्थानीयकानि परिपालयताभिगम्य।

2 'This conquest, which is evidently referred to in the copper plates as his greatest exploit, raised Chandradeva to imperial dignity.... and inaugurated in Kannauj another era of peace and stable goverment until the kingdom received its death blow from the victorious arms of Islam.' —Dr. R. S. Tripathi, HK, p. 301

3 'Sometime between A.D. 1086 and 1090 Prince Mahmud, the governor of the Pnjab, plundered Kannauj and Kalanjara and invaded Ujjain. On that occasion he found an ally in Kannauj, named Chand Rai, who may be identified with Chandradeva. During the troublesome period that followed the departure of Mahmud from Northen India. Chandradeva seized the throne of Kannauj from the Rastrakuta ruler Gopala....' The Struggle for Empire, pp. 52

उसकी वास्तविक राजधानी वाराणसी थी।[1] जो भी हो, इतना निश्चित है कि कान्यकुब्ज उसके अधिकार में था। अभिलेखों में उसके लिये 'निजभुजोपराजित श्री कान्यकुब्जाधिपत्यम्' का प्रयोग मिलता है।

चन्दराय और चन्द्रदेव का समीकरण भी सन्देहपूर्ण है, क्योंकि मुसलमान लेखक चन्दराय के पिता को एक साधारण व्यक्ति बताते हैं जबकि चन्द्रदेव का पिता नृप था।

चन्द्रदेव ने अनेक राजाओं को पराजित किया जैसा कि उसके लिये अभिलेखों में प्रयुक्त 'क्षान्तद्विषन्मण्डल.' विरुद से प्रकट होता है।

अभिलेखों में चन्द्रदेव की प्रथम तिथि ११४८ विक्रम सवत् (=१०९० ई०) और अन्तिम तिथि ११५६ विक्रम सवत् (=११०३ ई०) है। इनसे प्रकट होता है कि उसने १०९० ई० से ११०३ ई० तक राज्य किया।

मदनपाल (११०३-१३)—यह चन्द्रदेव का पुत्र और उत्तराधिकारी था। इस काल-खण्ड में मुसलमान पजाब से आगे बढ़कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। मदनपाल के समय गजनी के सुल्तान मसूद तृतीय का भारत पर आक्रमण हुआ। इसके निम्नलिखित साक्ष्य मिलते हैं—

(१) मिनहाज-उस-सिराज का कथन है कि 'इस राजा के शासन-काल में हाजिब महान् की मृत्यु हो गई, परन्तु हाजिब तुगतिगीन ने गगा नदी पार की और हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। वह विजय करता हुआ इतनी दूर तक पहुँच गया जितनी दूर तक सुल्तान महमूद के पश्चात् कोई भी सेना नहीं पहुँची थी।'

(२) मसूद तृतीय के राजकवि मसूद-इब्न-साद-इब्न-सलमन का कथन है कि मसूद ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और मल्ही को बन्दी बना लिया। कन्नौज हिन्दुस्तान की राजधानी थी। यहाँ सम्पूर्ण देश की धनराशि उसी प्रकार आती थी जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में गिरती हैं।

डी० सी० गाँगुली, रमाशकर त्रिपाठी और रोमा नियोगी के मतानुसार मल्ही गाहड़वाल-नरेश मदनपाल था। यह मसूद द्वारा पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया था। परन्तु बाद को इस आक्रमणकारी को धन देकर पुन: स्वतन्त्रता प्राप्त

1 'It is, therefore, likely that, though, by reason of its importance Kannauj was regarded as one of the capitals of the Gahadavalas, they habitually resided in some other city.'
—H. C. Ray, Dynastic History of Northern India, Vol I, p. 507.

Also 'This evidence signifies that though the dominion of the Gahadavalas included the city of Kanyakubja, the seat of their power was Varanasi'.
—Roma Niyogi History of the Gahadavala Dynasty.

की[1]। परन्तु एच० सी० रे[2] और मोतीचन्द्र[3] के मतानुसार मल्ही कन्नौज का स्थानीय शासक राष्ट्रकूट मदनपाल था।

परन्तु रहन अभिलेख से पता चलता है कि शीघ्र ही मदनपाल के पुत्र 'महाराज-पुत्र' गोविन्दचन्द्र ने हम्मीर को पराजित करके अपने पिता के पराभव का बदला लिया।[4] गोविन्दचन्द्र की महारानी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख का कथन है कि गोविन्दचन्द्र हरि के अवतार थे और तुरुष्कों से वाराणसी की रक्षा के लिये स्वयं हर ने उसे नियुक्त किया था।[5] इससे अनुमान किया जा सकता है कि जिस समय मुस्लिम आक्रमणकारी कन्नौज की विजय करके वाराणसी की ओर बढ़े उस समय युवराज गोविन्दचन्द्र ने उन्हें पराजित किया।

पालों की पराजय—इस समय पाल-वंश का राजा रामपाल था। निम्न-लिखित साक्ष्यों से प्रकट होता है कि इसे युवराज गोविन्दचन्द्र ने पराजित किया था—

(१) लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु का कथन है कि गोविन्दचन्द्र ने खेल ही में गौडों की हाथियों की सेना को भयभीत कर दिया।[6]

(२) रहन अभिलेख से इस कथन की पुष्टि होती है। इसमें भी यही कहा गया है कि गोविन्दचन्द्र ने गौडों की हाथियों की सेना को नष्ट कर दिया था।[7]

इस प्रकार मदनचन्द्र अपने समय का एक पराक्रमी राजा सिद्ध हुआ। इसे अपने शासन-काल में अपने पुत्र गोविन्दचन्द्र से बड़ी सहायता मिली।

गोविन्दचन्द्र (१११३-५४)—अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् गोविन्दचन्द्र राजा हुआ। इसने अनेक समकालीन राजवंशों को पराजित करके उत्तरी भारत में गाहड़वालों को सर्वशक्तिशाली राजवंश बना दिया।

---

1 'Malhi or Malhira is a corrupted form of the name Madanachandra or Madanapala' who 'suffered serious reverses' for we are told that he was even compelled to ranso n his person by a large 'sum of money. . . '
—Dr. R. S. Tripathi, H. K., p. 308-9

2 H. C. Ray, Dynastic History of Northern India, Vol. I. p. 515.

3 Motichandra, Kasi Ka Itihasa, p. 121.

4 हम्मीरं न्यस्ते वैरं यो विघत्ते।

5 वाराणसीं भुवनरक्षणदक्ष एको दुष्टात्तुरुष्कसुभटादवितुं हरेण
उक्तो हरिः स पुनरत्र बभूव गोविन्दचन्द्र इति प्रतिथोभिमानः।

6 क्रीडार्तजितगौडगर्जितभयस्तम्भीभवत्-पार्थिवः।

7 दुर्वारस्फारगौडद्विरदवरघटाकुम्भनिर्भेदभीमः।

कलचुरि-वंश की पराजय—गाहडवालों में सर्वप्रथम गोविन्दचन्द्र ने 'अश्वपति-गजपतिनरपतिराजत्रयाधिपति' की उपाधि धारण की। यह उपाधि कलचुरियों की थी। प्रो० मिराशी के मतानुसार इस उपाधि से यह प्रकट होता है कि कलचुरियों ने प्रतिहारों, कलिंग के गंगों और बंगाल के पालों को पराजित किया था, क्योंकि प्रतिहार अपनी अश्वसेना के लिये और कलिंग अपनी गज-सेना के लिये प्रसिद्ध थे। पूर्वी भारत के नरेशों की उपाधि 'नरपति' होती थी।[1]

अब इसी उपाधि को गोविन्दचन्द्र ने धारण किया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसने कलचुरि-वंश को परास्त किया था। इस अनुमान की पुष्टि एक अन्य साक्ष्य से भी होता है। कलचुरि-नरेश यश.कर्ण ने अन्तरालपत्तला (गंगा-यमुना का दोआब) में दो ग्राम दान में दिए थे। ११२२ में गोविन्दचन्द्र ने उन्हीं ग्रामों का पुन दान किया।[2]

पालों से युद्ध—सम्भवत. गोविन्दचन्द्र ने पालों को पराजित करके उनके मगध प्रदेश के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। उसका एक अभिलेख मानेर (बिहार) में मिला है। लार-अभिलेख से पता चलता है कि उसने मुद्गगिरि (बिहार) में एक दान दिया था।

पराजित पाल-नरेश मदनपाल था। परन्तु तदुपरान्त मगध में पुन. मदनपाल के अभिलेख मिलते हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि मदनपाल ने कुछ ही समय पश्चात् पुन. सम्पूर्ण मगध पर अधिकार कर लिया। यह भी सम्भव है कि गोविन्दचन्द्र ने पालों से मित्रता कर ली हो, क्योंकि उसकी पत्नी कुमारदेवी पाल-वंश की राजकुमारी थी।

चन्देलों से युद्ध—इसी प्रकार गोविन्दचन्द्र ने चन्देल वंश से भी युद्ध किया। चन्देल-वंश का समकालीन राजा जयवर्मा (१११५-२०) था। कानपुर के समीप छत्तरपुर चन्देलों के अधीन था। परन्तु ११२० के छत्तरपुर अभिलेख से प्रकट होता है कि गोविन्दचन्द्र ने इस पर अधिकार कर लिया था। ११४७ के छत्तरपुर के दूसरे अभिलेख से सिद्ध होता है कि इस पर चन्देलों ने पुनः अधिकार कर लिया था।

दशार्ण पर अधिकार—पूर्वी मालवा को दशार्ण कहते थे। इस पर इस समय परमार-नरेश यशोवमन् का राज्य था। रम्भामंजरी नाटक का कथन है कि गोविन्दचन्द्र ने दशार्ण यशोवमन् से छीन लिया था। विजय-दिवस पर ही गोविन्दचन्द्र के पौत्र उत्पन्न हुआ। अत. उसका नाम जयचन्द्र रक्खा गया।

---

1 '. . . . it signified Karna's suzerainty over the Gurjara-Pratiharas of Kanauj, the Gangas of Kalinga and the Palas of Bengal'—Mirashi, CII, Vol. IV, Introduction, pp. C-Cl.

2 JASB, Vol XXXI, p. 123

परन्तु दशार्ण पर विजय करने के लिये गोविन्दचन्द्र को चन्देल-राज्य से होकर जाना पड़ा होगा। सम्भव है कि प्रारम्भिक युद्ध के पश्चात् गोविन्दचन्द्र ने चन्देलों से मित्रता कर ली हो और चन्देलों ने दशार्ण-विजय में उसकी सहायता की हो।

चोल-वंश से मित्रता—डा० एच० सी० रे का मत है कि गोविन्दचन्द्र चोलो का मित्र था। इस मत का आधार गगैंकोडचोलपुरम् का एक अभिलेख है। इसमें यशोविग्रह, महीचन्द्र और चन्द्रदेव नामक गाहडवालो के नाम हैं। डा० रे का मत है कि यह लेख गोविन्दचन्द्र के समय उस अवसर पर लिखाया गया था जब वह चोल-राज्य गया था।

चालुक्यों से मित्रता—प्रबन्ध चिन्तामणि से विदित होता है कि चालुक्य-वंश के राजा सिद्धराज ने काशी-नरेश जयचन्द्र की राजसभा में अपना दूत भेजा था। परन्तु जयसिंह सिद्धराज का समकालीन तो गोविन्दचन्द्र था। अतः अनुमान किया जा सकता है कि चालुक्य नरेश का दूत गोविन्दचन्द्र की राजसभा मे आया होगा।

कश्मीर-नरेश से मित्रता—राजतरंगिणी से विदित होता है कि कश्मीर-नरेश जयसिंह की कान्य-कुब्ज-नरेश के साथ मित्रता थी।

साम्राज्य-विस्तार—गोविन्दचन्द्र ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। महेत अभिलेख से प्रकट होता है कि उत्तर मे इसका साम्राज्य उत्तर प्रदेश के गोंडा जिले तक विस्तृत था। पूर्व में इसके अभिलेख लार, गगहा और पाली मे प्राप्त हुए है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूर्व में कुछ समय तक बिहार का कुछ भाग भी गोविन्दचन्द्र के अधीन रहा था। पश्चिम मे उसका साम्राज्य दिल्ली तक विस्तृत था। यहाँ का तोमर-वंश उसकी अधीनता में शासन करता था। दक्षिण-पश्चिम मे दशार्ण (पूर्वी मालवा) उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। दक्षिण में उसका साम्राज्य यमुना नदी के दक्षिण तक विस्तृत था। इस विशाल साम्राज्य की स्थापना के कारण उसका विरुद 'समस्तराजचक्रसेवितचरण' न्यायोचित था।

सामन्त—उसके अधीन राजवंशो में तीन वंश विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—(१) दिल्ली का तोमर-वंश, (२) बदायू का राष्ट्रकूट-वंश और कान्यकुब्ज का गाधिपुराधिपति गोपाल-वंश।

विजयचन्द्र (११५५-६९)—गोविन्दचन्द्र के पश्चात् उसका पुत्र विजयचन्द्र राजा बना।

मुसलमानों की पराजय—अपने पिता की भाँति विजयचन्द्र को भी मुसलमानों से युद्ध करना पड़ा। ये निरन्तर पंजाब से आगे पूर्व में अपने राज्य-विस्तार की चेष्टा कर रहे थे। विजयचन्द्र ने इनकी चेष्टा को विफल कर दिया। एक अभिलेख मे कहा गया है कि उसने संसार का दलन करने वाले म्मीर (अमीर) की स्त्रियों के नेत्रो से निकली हुई अश्रु-धारा से भूलोक के ताप को धो दिया।[1] यह अमीर

---

१ भुवनदलनहेलाहर्म्यं हम्मीरनारीनयन-जलदधाराधौतभूलोकतापः।

लाहौर का मुस्लिम शासक खसरो शाह (११५०-६०) अथवा खुसरो मलिक (११६०-८६) रहा होगा।

सेनवंश से युद्ध—एक अभिलेख से प्रकट होता होता है कि सेनवंश के राजा लक्ष्मणसेन ने काशी के राजा को परास्त किया था।[1] इसकी पुष्टि एक अन्य लेख से भी होती है जिसमें कहा गया है कि लक्ष्मणसेन ने प्रयाग और वाराणसी में अपने विजयस्तम्भ स्थापित किये थे। विजयचन्द्र लक्ष्मणसेन का समकालीन था। अतः उसी को काशीराज समझना चाहिए।

परन्तु लक्ष्मणसेन की विजय अस्थायी सिद्ध हुई, क्योंकि विजयचन्द्र ने अपने पूर्वी प्रदेशो पर पुन अधिकार कर लिया। कमौली अभिलेख युवराज जयचन्द्र का है। इससे सिद्ध होता है कि काशी-प्रदेश गाहडवाल साम्राज्य में था।

चाहमान-वंश से युद्ध—चाहमान-वंश का राजा विग्रहराज चतुर्थ (वीसलदेव) विजयचन्द्र का समकालीन था।) ११६४ ई० के दिल्ली-शिवाविक-स्तम्भ-लेख का कथन है कि विग्रहराज ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया था। इस कथन की पुष्टि दिल्ली-संग्रहालय अभिलेख और पालम बओली अभिलेख से होती है। इनके अनुसार हरियाणा-प्रदेश में स्थित ढिल्लिका-नगरी (दिल्ली) पर पहले तोमरों ने राज्य किया और फिर चाहमानों ने। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली को विजयचन्द्र के अधीन शासन करने वाले तोमर-वंश से छीना था।

दक्षिणी-पूर्वी-प्रदेश की विजय—ताराचण्डी अभिलेख से विदित होता है कि विजयचन्द्र ने दक्षिणी-पूर्वी प्रदेश को जीतकर अपना साम्राज्य सोन नदी तक विस्तृत कर लिया था।

इस प्रकार विजयचन्द्र के समय गाहडवाल-साम्राज्य बडा शक्तिशाली था। उसके पुत्र जयचन्द्र के एक अभिलेख में उसकी तुलना त्रिविक्रम के साथ की गई है।[2] वह पराक्रमी होने के साथ-साथ 'विविधविद्याविचारवाचस्पति' भी था।

जयचन्द्र (११७०-९४)—विजयचन्द्र के पश्चात उसका पुत्र जयचन्द्र सिंहासनासीन हुआ। इसकी शक्ति का उल्लेख अनेक साक्ष्यों में हुआ है। पृथ्वीराजरासो से प्रकट होता है कि उसके पास एक विशाल सेना था। सूर्यप्रकाश के अनुसार इस सेना में ३ लाख पैदल, २ लाख धनर्धारी, ८० हजार कवचधारी ३० हजार अश्वारोही और बहुसंख्यक गजारोही थे। कामिल-उत-तवारीख उसके हाथियों की संख्या ७०० बताता है जबकि फरिश्ता के अनुसार वह ३०० थी। ताज-उल-म' असिर का कथन है कि उसकी सेना सैनिको की संख्या बालुका-कणों के समान असंख्य थी। यद्यपि इन कथनो को अक्षरश सत्य नही माना जा सकता तो भी यह निश्चित है

1 येनासौ काशीराजसमरभुजविजितः।

2 लोकत्रयाक्रमणकेलिविमें खलानि. ...यस्य त्रिविक्रमपदक्रमभांजिभान्ति-प्रोज्जृम्भयन्ति बलिराजभयं यशांसि।

कि जयचन्द्र के पास एक अत्यन्त शक्तिशाली सेना थी। फरिश्ता के अनुसार वह भारतवर्ष का सबसे शक्तिशाली राजा था।

चन्देल-वंश—जेजाकभुक्ति के चन्देल-वंश का राजा परमार्दि जयचन्द्र का समकालीन था। पृथ्वीराजरासो का कथन है कि जयचन्द्र और परमार्दि की मित्रता थी। जिस समय चाहमान-नरेश पृथ्वीराज तृतीय ने परमार्दि पर आक्रमण किया तो जयचन्द्र ने परमार्दि की सहायता की।

चाहमान-वंश—इस समय दिल्ली में चाहमान-वंश का राज्य था। उसका शासक पृथ्वीराज, तृतीय अपने समय का एक प्रतापी राजा था। ताजुल-म' आसिर का कथन है कि पृथ्वीराज दिग्विजय करना चाहता था। अत: कन्नौज के परम शक्तिशाली जयचन्द्र से उसकी शत्रुता अवश्यम्भावी थी।

संयोगिता—पृथ्वीराजरासो से प्रकट होता है कि कन्नौज-नरेश जयचन्द्र ने दिग्विजय करने के पश्चात् राजसूय यज्ञ किया था। इसी समय उसने अपनी पुत्री सयोगिता का स्वयंवर भी किया। इसमें उसने अनेक राजाओ को आमंत्रित किया, परन्तु शत्रुता के कारण पृथ्वीराज चौहान को आमन्त्रित न किया। पृथ्वीराज ने स्वयंवर भूमि से सयोगिता का अपहरण किया। पृथ्वीराजरासो का कथन है कि स्वय सयोगिता भी पृथ्वीराज का ही वरण करना चाहती थी। इस घटना ने जयचन्द्र और पृथ्वीराज के बीच अत्यधिक शत्रुता उत्पन्न कर दी।

अनेक विद्वान् सयोगिता-हरण को ऐतिहासिक नही मानते। वे अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते है—

(१) सयोगिता-वृत्त पृथ्वीराज-प्रबन्ध, प्रबन्ध-चिन्तामणि और प्रबन्धकोश में नही मिलता।

(२) रम्भामजरी नाटक जयचन्द्र के शासन-काल की अन्य घटनाओं का वर्णन करता है। परन्तु यह सयोगिता-वृत्त का उल्लेख नही करता।

(३) हम्मीरमहाकाव्य हम्मीर चौहान और उसके पूर्वजो का वर्णन करता है, परन्तु वह सयोगिता-हरण का वर्णन नही करता।

(४) पृथ्वीराज और सयोगिता के सम्बन्ध में अनेक ऐसी बातें कहीं गई हैं जिन पर विश्वास नही किया जा सकता। वास्तव में उनकी प्रणय-गाथा काल्पनिक है।

परन्तु इन आपत्तियों का उत्तर दिया जा सकता है। उपर्युक्त कोई भी ग्रन्थ तत्कालीन सभी घटनाओं का उल्लेख नही करते। वे अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में भी मौन हैं। उदाहरण के लिये, हम्मीरमहाकाव्य में पृथ्वीराज नागार्जुन, परमार्दि चन्देल और भीमदेव, द्वितीय चौलुक्य के साथ हर युद्धो के भी उल्लेख नही मिलते। इसमें पृथ्वीराज के बहु-विवाहों का भी उल्लेख नही है।

अत: किस घटना के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थ का मौन उस घटना की अनैतिहासिकता सिद्ध नहीं करता। रही रम्भामजरी की बात, तो वह पूर्णरूपेण विश्वसनीय नहीं है, क्योकि उसमें अनेक अनैतिकहासिकता बातें भी लिखी हैं। यह ग्रन्थ चन्देल-नरेश मदनवर्मन् को जयचन्द्र का समकालीन बताता है, जबकि मदनवर्मन् की मृत्यु जयचन्द्र के पूर्व ११६५ ई० में हो चुकी थी। इस ग्रन्थ के अनुसार जयचन्द्र के पिता का नाम मल्लदव था। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जयचन्द्र का पिता विजयचन्द्र था।

सयोगिता-स्वयवर और उसके अपहरण का विवरण अस्वाभाविक नहीं है पृथ्वीराज और जयचन्द्र दोनों महत्वाकाक्षी और शक्तिशाली राजा थे। दोनो ही दिग्विजय द्वारा सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधीन करना चाहते थे। अत. दोनो म शत्रुता नितान्त स्वाभाविक थी। इस परिस्थिति मे यदि जयचन्द्र ने सयोगिता के स्वयवर म पृथ्वीराज का आमन्त्रित न किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। प्राचीन भारत मे कभी-कभी नरेश अपने शत्रु अथवा उसकी मूर्ति द्वार पर स्थापित करके उसे अपमानित करते थे। राष्ट्रकूट-नरेश दन्तिदुर्ग ने उज्जैन मे अपने हिरण्य-गर्भमहादान के समय प्रतिहार-नरेश को द्वारपाल बनाया था। प्राचीन ग्रन्थो मे राक्षस विवाह का उल्लेख है। इसके अन्तर्गत विवाह के लिये बलपूर्वक कन्या का अपहरण किया जाता था। महाभारत में इस विवाह-प्रणाली के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अर्जुन न सुभद्रा का अपहरण करके विवाह किया था। यह प्रणाली क्षत्रियो के लिये उपयुक्त बताई गई है। अत इस प्रणाली को क्षात्रविवाह-प्रणाली भी बताया गया है। ऐतिहासिक काल मे भी यत्र-तत्र इस विवाह-प्रणाली के उदाहरण मिलत है। राष्ट्रकूट-नरेश इन्द्र ने चालुक्य राजकन्या भवनागा का अपहरण करके उसके साथ विवाह किया था। सयोगिता के सम्बन्ध मे तो यह भी कहा जा सकता है कि वह स्वय पृथ्वीराज से विवाह करना चाहती थी।

यहा नहीं, सयोगिता के अपहरण का विवरण एकमात्र पृथ्वीराजरासो में ही नहा, वरन् अन्य ग्रन्थो मे भी मिलता है, यद्यपि उन विवरणो का रूप कुछ भिन्न है। पृथ्वीराज विजय मे पृथ्वीराज और अप्सरा तिलोत्तमा के विवाह का विवरण है इस विवरण और पृथ्वीराज-सयोगिता के विवरण मे बड़ा साम्य है। सुर्जनचरित म सयोगिता-स्वयवर का विवरण मिलता है। अन्तर यही है कि इसमे नायिका का नाम सयोगिता न होकर कान्तिमती है। अबुल फजल ने अपनी आईन-ए-अकबरी में सयोगिता-स्वयवर का वैसा ही विवरण दिया है जैसा पृथ्वीराजरासो में मिलता है। इन आधारो को सयोगिता-वृत्त को अनैतिहासिक नही माना जा सकता।

मुहम्मद गोरी––इस समय मुहम्मद गोरी भारत-विजय की योजना बना रहा था। उसने ११७८ में चालुक्य-राज्य की राजधानी अन्हिलपट्टन पर आक्रमण किया परन्तु भीमदेव चालुक्य ने उसे पराजित कर दिया।

इस पराजय के पश्चात् मुहम्मद गोरी ने फिर से तैयारी की। ११८१ में उसने स्यालकोट में एक दुर्ग बनवाया। ११८६ में उसने लाहौर के गजनवी-शासक खुसरो मलिक को बन्दी बना लिया।

मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज—लाहौर पर अधिकार करने के पश्चात् मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के साम्राज्य पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। भारतीय ग्रन्थों का कथन है कि अपनी पराजय के पूर्व पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी को सात बार पराजित कर चुका था। इन कथनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मुसलमान सेना ने पृथ्वीराज की सीमा पर अनेक छोटे-मोटे आक्रमण किये थे, परन्तु पृथ्वीराज की सेना ने उन्हें विफल कर दिया था।

११९०-१ में मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के साम्राज्य में स्थित तबरहिन्द पर अधिकार कर लिया। जैसे ही पृथ्वीराज की यह सूचना मिली वैसे ही वह मुहम्मद गोरी का सामना करने के लिये आ पहुँचा। ११९१ में करनाल जिले में स्थित तराइन के मैदान मे दोनो सेनाओ का युद्ध हुआ। पृथ्वीराज के आक्रमण के सम्मुख मुस्लिम सेना अस्त-व्यस्त हो गई। परन्तु मुहम्मद गोरी फिर भी युद्ध करता रहा। उसने अपने भाले से दिल्ली के राजा गोविन्दराज पर आक्रमण किया और उसके दो दाँत तोड़ गिराये। गोविन्दराज ने भी मुहम्मद गोरी पर अपने भाले से प्रत्याक्रमण किया और उसे बुरी तरह घायल कर दिया। मुहम्मद गोरी अपने घोडे से गिरने ही वाला था कि उसके एक खिलजी सैनिक ने उसके घोड़े पर कूद कर उसे सहारा दिया और किसी प्रकार उसे युद्ध-भूमि से भगा ले गया।

इस प्रकार तराइन के प्रथम युद्ध में पृथ्वीराज की विजय हुई। परन्तु उसने पराजित मुस्लिम सेना का पीछा न करके बड़ी भारी भूल की। मुस्लिम सेना बच निकली और वह फिर सुरक्षित स्थान पर जा मिली।

तराइन के प्रथम युद्ध के पश्चात् ही पृथ्वीराज ने संयोगिता का अपहरण किया और इस प्रकार अत्यन्त सकटमय काल में कन्नौज के शक्तिशाली राजा जयचन्द्र को अपना मित्र बनाने के बजाय अपना घोर शत्रु बना लिया। इस विजय के पश्चात् वह निश्चिन्त-सा हो गया और अपनी नव-विवाहिता पत्नी के आमोद-प्रमोद मे अपने दिन बिताने लगा।

उधर मुहम्मद गोरी अपनी पराजय के पश्चात् ही पुनः युद्ध की तैयारी करना प्रारम्भ कर दिया। ११९२ में उसने पृथ्वीराज पर पुनः आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज भी अपनी सेना के साथ तराइन के मैदान में आ डटा। मुहम्मद गोरी ने छलपूर्वक पृथ्वीराज से सन्धि की वार्ता चलाई और उससे कहा कि वह वापस जाने के लिये अपने भाई की अनुमति प्राप्त करने के लिये पत्र लिख रहा है। पृथ्वीराज इस धोखे में आ गया और असावधान हो गया।

ऐसी स्थिति में ही एक दिन उषाकाल में मुहम्मद गोरी ने चाहमान-सेना पर

धावा बोल दिया। पृथ्वीराज अभी सो रहा था। राजपूत सैनिकों ने अभी नित्य कर्म भी न किया था। फिर भी उन सबने अस्त्र-शस्त्र उठा लिये। वे बड़ी वीरता से लड़े। मुसलमानों ने फिर धोखे से काम लिया। वे जान-बूझ कर पीछे हटने लगे। राजपूतों ने समझा कि वे भाग रहे हैं। अत उन्होंने बिना किसी निश्चित योजना और संगठन के उनका पीछा किया। तभी मुस्लिम सेना ने पीछे मुड़ कर राजपूतों पर भीषण आक्रमण कर दिया। राजपूत इसे न रोक सके और वे पराजित हुए। दिल्ली का राजा गोविन्दराज युद्ध करते हुए मारा गया। पृथ्वीराज ने भागने की चेष्टा की, परन्तु वह सरस्वती नदी के किनारे सिरसा के पास पकड़ लिया गया और कालान्तर में मुहम्मद गोरी ने उसकी हत्या करवा दी। इस प्रकार तराइन का द्वितीय युद्ध चाहमान-राज्य और भारतवर्ष के लिये विनाशकारी सिद्ध हुआ।

मुहम्मद गौरी और जयचन्द्र—पृथ्वीराजरासो का कथन है कि जयचन्द्र ने पृथ्वीराज को नीचा दिखाने के लिये मुहम्मद गोरी को आमन्त्रित किया था। परन्तु यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता। सम्भवत जयचन्द्र के प्रति शत्रुता होने के कारण ही पृथ्वीराज के राजकवि चन्दवरदाई ने इस प्रकार की मनगढन्त बात लिखी थी।

पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह का कथन है कि पृथ्वीराज के एक मन्त्री ने ही अपने स्वामी के विरुद्ध मुहम्ममद गोरी को आमन्त्रित किया था।[1]

जो भी हो, इतना निश्चित है कि मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय जब पृथ्वीराज ने भारतीय नरेशों से सैनिक सहायता माँगी तो जयचन्द्र ने उसे कोई सहायता न दी।[2] परन्तु यह संकीर्णता प्राय: तत्कालीन सभी भारतीय नरेशों में थी। जिस समय मुहम्मद गोरी ने चालुक्य-नरेश भीम पर—आक्रमण किया तो पृथ्वीराज ने भीम को कोई सहायता नहीं दी।

भारतीय ग्रन्थों का कथन है कि पृथ्वीराज की पराजय पर जयचन्द्र के राज्य में घर-घर खुशियाँ मनाई गईं।[3] वह मुहम्मद गोरी के आक्रमण के स्वरूप को न समझ सका। उसका यह विचार था कि पृथ्वीराज को पराजित करने के पश्चात् मुहम्मद गोरी वापस चला जायेगा और तब उसे सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हो जायेगा।

तराइन के द्वितीय युद्ध के पश्चात् मुहम्मद गोरी ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उसने हाँसी, सिरसा, समाना और कोहराम के दुर्गों पर अधिकार किया। तदुपरान्त अजमेर को भी उसने जीत लिया।

---

1. इतः कइंबासे विसूत्रिते नूतनो मन्त्री जगतः। सुरत्राणाय मिलितः। तेन कटकं शकानामाहूतम्।

2 तारीख-ए-फरिश्ता।

3 इतः पृथ्वीराजे दिवं गतौ श्री-जयचन्द्रेण वर्धापनकान्यकारयानि। गृहे गृहे घृतेनोदुम्बरक्षालनमारब्धम्। सुर्यरक्षा प्रबन्धे—पुरातन प्रबन्ध संग्रह

चँदवर का युद्ध—अब मुहम्मद गोरी ने कन्नौज पर आक्रमण करने की योजना बनाई। पुरुषपरीक्षा, रम्भामजरी, रासोसार आदि ग्रन्थों का कथन है कि जयचन्द्र ने मुहम्मद गोरी को अनेक बार पराजित किया था। परन्तु इस कथन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। मुस्लिम इतिहासकार एक ही युद्ध का वर्णन करते हैं और इसमें जयचन्द्र मारा गया था।

पुरातन प्रबन्धसंग्रह का कथन है कि जयचन्द्र की वेश्या सुमागदेवी के एक पुत्र था। वह उसे जयचन्द्र का उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी। परन्तु स्वयं जयचन्द्र महाराना कर्पूरदेवी के पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। अतः सुमागदेवी ने अपने दूत भेजकर मुहम्मद गोरी को कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया था।

हसन निजामी के कथनानुसार मुहम्मद गोरी ने ५०,००० सैनिकों के साथ कन्नौज पर आक्रमण किया। इस सेना ने कन्नौज की सीमा पर जयचन्द्र की एक सैनिक टुकड़ी को परास्त किया। इस आक्रमण की सूचना पाकर जयचन्द्र स्वयं अपनी सेना लेकर मुहम्मद गोरी से युद्ध करने के लिये आया। दोनों सेनाओं में ११६४ ई० में चंदवर के मैदान में युद्ध हुआ। हिन्दू बड़ी वीरता से लड़े। परन्तु मुहम्मद गोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन के धनुष से छूटा हुआ एक बाण जयचन्द्र की आंख में घुस गया। इससे घायल होकर वह अपने हाथी से गिर गया और उसकी मृत्यु हो गई। जयचन्द्र के मरते ही हिन्दू सेना भाग खड़ी हुई। मुसलमानों ने भयंकर मारकाट की। बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू मारे गये। जयचन्द्र का पुत्र भी युद्ध करते हुए मारा गया।

चंदवर की विजय के पश्चात् मुस्लिम सेना ने असनी पर आक्रमण किया और वहाँ स्थित राजकोष पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् मुहम्मद गोरी ने वाराणसी पर अधिकार किया और वहाँ लगभग एक हजार मन्दिरों को तोड़ कर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया।

हरिश्चन्द्र—कमौली दानपत्र से प्रकट होता है कि जयचन्द्र के एक हरिश्चन्द्र नामक पुत्र था। इसका जन्म १२३२ विक्रम संवत् अर्थात् ११७५ ई० में हुआ था। इसके जातकर्म संस्कार के अवसर पर जयचन्द्र ने ग्राम-दान किया था। इस प्रकार अपने पिता की मृत्यु के समय हरिश्चन्द्र १९ वर्ष का था।

जौनपुर जिले में मछली शहर तहसील के कोटवा ग्राम में गाहड़वाल-नरेश परमभट्टारकमहाराजाधिराज परमेश्वर' हरिश्चन्द्र का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है इसके अनुसार उसने एक ब्राह्मण को ग्राम-दान किया था। इस अभिलेख की तिथि १२५३ विक्रम संवत् (=११९७ ई०) है। मिर्जापुर जिले में बेलखरा (बेलसरा) ग्राम में एक स्तम्भ-लेख मिला है। इसमें 'परमभट्टारकेत्यादिराजावलिअश्वपति-

गजपति,नरपतिराजत्रयाधिपतिविद्याविचारवाचस्पति—श्रीमत्कान्यकुब्जविजयराज्ये' लिखा हुआ है। इस लेख की तिथि भी १२५३ विक्रम संवत् है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह कान्यकुब्ज-नरेश हरिश्चन्द्र ही था।

इन अभिलेखों से प्रकट होता है कि चँदवर की पराजय के पश्चात् भी गाहडवाल-वंश के हाथ में जौनपुर, वाराणसी आदि के प्रदेश बचे रहे। डा० रे का मत है कि चँदवर के युद्ध के पश्चात् मुसलमान केवल कन्नौज-राज्य के प्रमुख नगरों पर ही अधिकार करने में समर्थ हुए थे। भीतर के नगर और ग्राम उसके पश्चात् भी गाहडवालों के अधीन रहे।[1]

इस बात की पुष्टि तबकात-ए-नासिरी से भी होती है। इसका कथन है कि वाराणसी को इल्तुमिश ने जीता था, मुहम्मद गोरी ने नहीं।

परन्तु इसके विरुद्ध डा० रमाशंकर त्रिपाठी का मत है कि यह नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि मुसलमानों के विरुद्ध अल्पायु हरिश्चन्द्र वाराणसी पर अपना अधिकार बनाये रहा हो। अधिक स्वाभाविक यह प्रतीत होता है कि मुहम्मद गोरी ने वाराणसी तक का प्रदेश जीत लिया था और हरिश्चन्द्र को अपनी प्रभु-सत्ता स्वीकार कराने के पश्चात् उसे एक सीमित प्रदेश पर शासन करने की अनुमति दे दी थी।[2]

सम्भवतः हरिश्चन्द्र के पश्चात् गाहडवाल-राज्य का पतन हो गया और उस पर मुसलमानों ने अधिकार कर लिया।

---

1 'It seems likely that the power of Hariscandra lingered for some time in the more inaccessible parts of the same region (Varanasi). . . The battle of Chandawar had given them only the possession of the more important cities and strongholds, the country-side beyond the reach of the Muslim posts still continued to be under Hindu rule'—H. C. Roy, Dynastic History of Northern India, Vol. I, pp. 546-47.

2 '. . .Harischandra was allowed to reign in a portion of his ancestral dominions after he had acknowledged himself a tributary of the newly established Muslim power at Delhi' —R. S. Tripathi, H.K, p. 334.

अध्याय २०

चाहमान-वंश

विग्रहराज चतुर्थ और पृथ्वीराज, तृतीय

उत्पत्ति—चाहमान-वंश की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं—

(१) डा० भण्डारकर चाहमानों को विदेशी गुर्जरों की सन्तान मानते हैं। इस मत का पीछे खण्डन किया जा चुका है।

(२) पृथ्वीराजरासो इस वंश की उत्पत्ति ऋषि वसिष्ठ के अग्निकुण्ड से बताता है।

(३) हम्मीर महाकाव्य का कथन है कि ब्रह्मा ने पुष्कर तीर्थ में एक यज्ञ किया था। उसकी रक्षा के लिये सूर्य ने चाहमान नामक योद्धा को उत्पन्न किया था।

(४) अभिलेख और साहित्यिक साक्ष्य चाहमानों को सूर्यवंशी क्षत्रिय बताते हैं।

शाकम्भरी की शाखा—चाहमान-वंश की अनेक शाखायें थीं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध शाकम्भरी की शाखा थी। शाकम्भरी का समीकरण आधुनिक साँभर नगर (जयपुर में) से किया जाता है। शाकम्भरी-राज्य में सवा लाख गाँव थे। अतः यह राज्य सपादलक्ष के नाम से भी प्रख्यात हुआ।

इस शाखा का सस्थापक वासुदेव था। इस वंश ने प्रारम्भ में प्रतिहार-वंश के अधीन राज्य किया था। इस वंश के एक राजा दुर्लभराज प्रथम ने प्रतिहार-नरेश वत्सराज की ओर से गौड-नरेश धर्मपाल के विरुद्ध युद्ध किया था। दुर्लभराज के पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोविन्दराज अथवा गूवक प्रथम ने नागभट द्वितीय के अधीन शासन किया था और उसकी सभा में सम्मान प्राप्त किया था। पृथ्वीराज-विजय से प्रकट होता है कि गूवक ने अपनी बहन कलावती का विवाह कन्नौज-नरेश के साथ किया था। यह कन्नौज-नरेश नागभट द्वितीय था। प्रबन्धकोश नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि चाहमान गोविन्दराज ने सुल्तान बेग वरिस के आक्रमण को विफल कर दिया था। बेग वरिस बशर था। वह सिन्ध के गवर्नर दऊद का पुत्र था। गोविन्दराज ने अपने अधिपति प्रतिहार-नरेश के साम्राज्य की रक्षा करते हुए यह युद्ध किया होगा।

चाहमान-नरेश सिंहराज ने सर्वप्रथम अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की और 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। इसका पुत्र विग्रहराज, द्वितीय बड़ा पराक्रमी राजा था। उसने गुजरात पर आक्रमण करके चालुक्य-नरेश मूलराज, प्रथम (९४२-९४) को पराजित किया और नर्मदा नदी तक सफल अभियान किया।

इसी वंश के राजा अजयराज ने अपने नाम पर अजयमेरु (अजमेर) की स्थापना की।

इसका पुत्र अर्णोराज था। इसके शासन-काल में गुजरात के चालुक्य-नरेश जयसिंह सिद्धराज ने शाकम्भरी पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। परन्तु कुछ समय पश्चात् दोनो पक्षो में सन्धि हो गई और जयसिंह सिद्धराज ने अपनी पुत्री कांचनदेवी का विवाह अर्णोराज के साथ कर दिया।

विग्रहराज, चतुर्थ (११५३-११६३)—अर्णोराज को ११५३ ई० मे उसके बड़े पुत्र जुगदेव ने मार डाला। परन्तु जुगदेव भी अधिक समय तक राज्य न कर सका, क्योंकि उसके छोटे भाई विग्रहराज, चतुर्थ ने शीघ्र ही उससे सिंहासन छीन लिया। इसे वीसलदेव भी कहते है।

विग्रहराज अपने समय का बड़ा प्रतापी राजा था। उसने एक सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। उसने चाहमान-वंश को अभूतपूर्व महत्ता प्रदान की।[1]

चौलुक्यो से युद्ध—इस समय गुजरात मे चौलुक्य-वंश के राजा कुमारपाल का शासन था। कुमारपाल विग्रहराज के पिता अर्णोराज को पराजित कर चुका था। कुमारपाल ने चित्तौड पर भी अधिकार कर लिया था और वहाँ अपने सामन्त सज्जन को नियुक्त किया था।[2]

सज्जन का वध—बिजोलिआ अभिलेख से प्रकट होता है कि विग्रहराज ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और सज्जन को मार डाला। कुमारपाल ने प्रतिशोध के लिये नागौर पर आक्रमण किया। परन्तु उसे सफलता न मिली और नागौर का घेरा उठाना पड़ा।

अन्य चौलुक्य-सामन्तों की पराजय—इस समय नाडोल, जालोर और पल्लिका (जोधपुर मे पालि) पर चौलुक्य-सामन्त शासन कर रहे थे। विग्रहराज ने नाडोल पर आक्रमण करके चाहमान कुन्तपाल को पराजित किया तथा नाडोल को रौंद डाला। जालोर पर आक्रमण करके उसने उसे जला दिया और पल्लिका को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इस प्रकार विग्रहराज ने चौलुक्य-वंश को पराजित कर अपने

---

1 'Vigraharaja IV's reign in fact, deserves to be regarded as the golden age of Sapadalaksa, for it was a period of mighty achievements not only in the political field but also in every other sphere that adds to the greatness of a country and he left behind himself a tradition in the pursuit of which his successors also attained some greatness. Visala, verily, was Visala.
—Dr. Dasharatha Sharma, Rajasthan Through the Ages, p. 273.

2. कुमारपालदेवचरित

पिता की पराजय का बदला लिया। बिजोलिया अभिलेख का कथन है कि विग्रहराज ने चौलुक्य-नरेश कुमारपाल को 'करवालपाल' (अपने अधीन एक छोटा अधिकारी) बना दिया था। इसे अक्षरशः सत्य न मानना चाहिये। परन्तु इतना निश्चित है कि चौलुक्य-वंश के विरुद्ध विग्रहराज को बड़ी सफलता मिली थी। इन विजयो के परिणामस्वरूप विग्रहराज का चित्तौड़, बिजोलिया, माण्डलगढ़ और जहाजपुर के प्रदेशो पर अधिकार हो गया। यहाँ उसके वंश के अभिलेख मिले हैं।

भादानकों की पराजय—बिजोलिया अभिलेख का कथन है कि विग्रहराज ने भादानको को पराजित किया था।[1] इनका राज्य मथुरा और भरतपुर के बीच मे था।

दिल्ली पर अधिकार—पालम बाओली और दिल्ली सग्रहालय अभिलेखो से प्रकट होता है कि कि दिल्ली पर तोमर-वंश का राज्य था। बिजोलिया अभिलेख का कथन है कि विग्रहराज ने दिल्ली को अपने अधीन कर लिया। इसके पश्चात् तोमर-वंश दिल्ली मे चाहमान-वंश के अधीन सामन्त-वंश के रूप में राज्य करने लगा।

हांसी पर अधिकार—हाँसी में भी तोमर-वंश का राज्य था। बिजोलिया अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसे भी विग्रहराज ने अपने अधीन कर लिया था।

दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् विग्रहराज को पंजाब के मुस्लिम शासको से टक्कर लेनी पड़ी। दिल्ली-विजय के परिणामस्वरूप चाहमान-वंश को पजाब के मुस्लिम-राज्य के प्रसार के विरुद्ध मोर्चा लेना पड़ा।

मुसलमानों से युद्ध—इस समय पजाब में खुसरो शाह (११५३-६०) का राज्य था। ललितविग्रहराज नाटक का कथन है कि हम्मीर (अमीर खुसरो शाह) जयपुर में बव्वेरा तक घुस आया और विग्रहराज से आत्म-समर्पण करने के लिये कहा। विग्रहराज के मन्त्री श्रीधर ने अपने स्वामी को यह परामर्श दिया कि मुसलमानो को धन देकर वापस भेज दिया जाय। परन्तु विग्रहराज ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और मित्रो, ब्राह्मणो, तीर्थों और देवालयो की रक्षा के हेतु युद्ध करने का निश्चय किया।[2] इसके पश्चात् ललितविग्रहराज नाटक में वर्णन नही मिलता। परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि विग्रहराज ने मुस्लिम आक्रमणकारी को खदेड दिया था।

---

1 भादानत्वं चक्रे भादानपतेः परस्य भादान
यस्य वधत्करवालः करालतां करतलाकलितः।

2 अकीर्तिः काप्यच्चैः सुहृदभयदान पतहतिस्तथा ध्वंसस्तीर्थद्विजसुमनसां वीर्यविगमः
मर्मतेषु व्यष्टेष्वपि भुजमसहृद्येषु सकलानिमानंगीकर्तुः कथयत विधेयं किमसुभिः।

इस घटना के पश्चात् भी विग्रहराज और मुसलमानों के बीच संघर्ष चलता रहा। दिल्ली-शिवालिक स्तम्भ लेख से पता चलता है कि विग्रहराज ने मुसलमानों को आर्यावर्त से निकाल दिया था।[1] इसका आशय यही है कि उसने मुसलमानों को पंजाब से आगे बढ़ने न दिया।

राज्य विस्तार—दिल्ली-शिवालिक स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है कि उसने विन्ध्यप्रदेश और हिमालय प्रदेश तक विजय की थी। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है। फिर भी यह माना जा सकता है कि उसने शिवालिक-प्रदेश में अभियान किया होगा। तभी उसने यहाँ स्थित अशोक-स्तम्भ पर अपना लेख उत्कीर्ण कराया। पुनश्च उसका राज्य शिवालिक-प्रदेश से लेकर उदयपुर तक विस्तृत था।

विद्यानुराग—विग्रहराज अपने विद्यानुराग के लिये भी प्रसिद्ध है।[2] पृथ्वीराज-विजय और प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार उसे 'कविबान्धव' कहते थे। उसने संस्कृत-नाटक 'हरकेलि-नाटिका' की रचना की। कीलहर्न ने इस नाटक की बडी प्रशंसा की है[2]। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि सोमदेव उसकी सभा में रहता था जिसने 'ललित-विग्रहराज' नामक नाटक की रचना की है।[2] अपने युद्ध-मन्त्री पद्मनाभम द्वारा आयोजित विद्वत्मण्डली का वह 'सभापति' था।

उसने अजमेर में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की और उसकी दीवारों पर 'हरिकेलिनाटिका' और 'ललितविग्रहराज' उत्कीर्ण कराये। कालान्तर में इस विद्यालय को इल्तुतमिश ने तोड डाला और इसकी सामग्री से मस्जिद बनवाई। इस मस्जिद को आज 'अढाई दिन का झोपडा' कहा जाता है। आज भी इसके ऊपर उन नाटकों के कुछ अंश लिखे हुए दिखाई देते हैं। इसे देखकर विग्रहराज की वास्तु तथा स्थापत्य में अभिरुचि का अनुमान किया जा सकता है।[3] टाड ने इस विद्यालय की बडी प्रशंसा की है।[4]

---

1 आविन्ध्यादिहिमाद्रेर्विरचितजयस्तीर्थयात्रा प्रसंगादुद्ग्रीवेषु प्रहर्ता नृपपिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिर्देवः शाकम्भरीन्द्रो
जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः।

2. Harikeli gives 'actual and undoubted proof that Hindu rulers of the past were eager to compete with Bhavabhute and Kalidasa in poetic fame'

3 '. ' .which even in its present form testifies to Vigraharaja's architectural conception and love of sculptural beauty'

4. 'One of the most perfect as well as the most ancient monuments of Hindu architecture'—Tod, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol I. p. 609

अजमेर में उसने अपने नाम पर बीसलसर का निर्माण कराया। इसकी परिधि लगभग २½ मील है। इसके चतुर्दिक किसी समय मन्दिर और प्रासाद रहे होंगे। इसने बीसलपुर नामक नगर की भी स्थापना की।

धार्मिक सहिष्णुता—पृथ्वीराज विजय और हरकेलिनाटक से प्रकट होता है कि विग्रहराज शैव था। परन्तु वह अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था। जैन धर्माचार्य धर्मघोष सूरि के आग्रह पर उसने एकादशी के दिन पशु-वध बन्द करवा दिया था। उसने जैन विहारों का भी निर्माण किया।

इस प्रकार विग्रहराज अपने अनेकानेक गुणों के कारण प्राचीन भारत के महान् राजाओं में गिना जाता है। उसका शासन-काल सपादलक्ष का स्वर्ण-युग था।[1]

पृथ्वीराज, तृतीय (११७७-९२)—विग्रहराज चतुर्थ के पश्चात् कुछ काल तक चाहमान-वंश में अपेक्षाकृत छोटे राजा हुए। परन्तु ११७७ में इस वंश में पुनः एक अत्यन्त प्रतापी राजा का उदय हुआ। यह पृथ्वीराज, तृतीय के नाम से प्रख्यात है। यह सोमेश्वर का पुत्र और विग्रहराज, चतुर्थ का भतीजा था। सिंहासन पर बैठने के समय उसकी आयु केवल १५ वर्ष की थी। अतः एक वर्ष तक उसकी माता कर्पूरदेवी ने राजकाज सँभाला। इसने भुवनैकमल्ल को अपना सेनापति नियुक्त किया। भुवनैकमल्ल कर्पूरदेवी के पिता अचलराज का छोटा भाई था।

नागार्जुन का दमन—नागार्जुन विग्रहराज, चतुर्थ का पुत्र था। इसने पृथ्वीराज के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और स्वयं सिंहासन पर अधिकार करने की चेष्टा की। इसने गुडपुर पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज ने उस पर आक्रमण किया। नागार्जुन भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ। परन्तु उसके बहुसंख्यक सहयोगी पकड़े गये। बहुतों को मृत्युदण्ड दिया गया और उनके सिर अजमेर के फाटकों पर लटका दिये गये।

मुहम्मद गोरी का आक्रमण—११७८ ई० में महम्मद गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया, सोमेश्वर के मन्दिर को लूटा और नाडोल पर अधिकार कर लिया। इस समय गुजरात में चालुक्य-वंश के अल्पायु नरेश मूलराज द्वितीय का अधिकार था। उसके नाम पर उसकी माता नाईकिदेवी राजकाज, चला रही थी। महम्मद गोरी के आक्रमण की सूचना पाकर उसने अपने बालक मूलराज को गोद में लेकर सेना का नेतृत्व किया और आबू पर्वत के समीप गदरघट्ट नामक स्थान पर मुसलमानों को पराजित किया। मुसलमान लेखक चालुक्य-नरेश का नाम भीम, द्वितीय बताते हैं। परन्तु भारतीय साक्ष्यों के अनुसार वह मूलराज द्वितीय प्रतीत होता है।

---

1 Vigraharaja IV's reign is to be regarded as the golden age of Sapadalaksa'.

—Dasharatha Sharma.

नाडौल के पतन के पश्चात् पृथ्वीराज मुस्लिम आक्रमणकारी के विरुद्ध अभियान करने का विचार कर रहा था, परन्तु उसके मन्त्री कदम्बवास ने उसे ऐसा न करने का परामर्श दिया। कदम्बवास का विचार था कि मुसलमान और चालुक्य दोनों ही एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध करते-करते निर्बल हो जायेंगे। यह परिस्थिति चाहमान-राज्य के लिये लाभकर होगी। परन्तु मन्त्री का परामर्श मानकर पृथ्वीराज ने बड़ी भूल की। यदि वह मूलराज की सहायता करता तो गुजरात का चौलुक्य-वंश चाहमान-वंश का मित्र बन जाता। इसके अतिरिक्त चौलुक्यों और चाहमानों की सम्मिलित सेनायें मुहम्मद गोरी की सेना को पूर्णरूप से नष्ट कर देतीं।

भादानक-राज्य पर आक्रमण—भादानक-वंश मथुरा-भरतपुर प्रदेश में राज्य कर रहा था। पृथ्वीराज ने उस पर आक्रमण किया और उसे पराजित किया।

परमार-वंश से युद्ध—जिनपाल की 'खरतरगच्छ-पट्टावली' का कथन है कि पृथ्वीराज ने दिग्विजय की थी। परन्तु यह ग्रन्थ उन सभी राजाओं के नाम नहीं बताता जिनसे पृथ्वीराज ने युद्ध किया था।

परन्तु यह निश्चित है कि पृथ्वीराज ने जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) पर आक्रमण किया था। यहां चन्देल-वंश का राजा परमर्दी राज्य कर रहा था। पृथ्वीराज-रासो का कथन है कि बनाफर वंश के दो वीर भाइयों आल्हा और ऊदल की सहायता से परमर्दी ने पृथ्वीराज का सामना किया। युद्ध में दोनों वीर मारे गये और परमर्दी पराजित हुआ। बुन्देलखण्ड में प्राप्त मदनपुर अभिलेख से प्रकट होता है कि पृथ्वीराज ने ११८२ ई० में परमर्दी के राज्य को बड़ी क्षति पहुँचाई थी। शारंगधर-पद्धति भी पृथ्वीराज और परमर्दी के युद्ध का उल्लेख करता है।

परन्तु पृथ्वीराज परमर्दी के राज्य पर अधिक समय तक अपना अधिकार न रख सका। ११८३ ई० के दो अभिलेख कालंजर और महोबा में मिले हैं। इनसे प्रकट होता है कि वे दोनों प्रदेश चन्देलों के अधीन थे।

परमर्दी से शत्रुता लेकर पृथ्वीराज ने बड़ी अदूरदर्शिता का परिचय दिया। अब परमर्दी पूर्णरूप से कन्नौज-नरेश जयचन्द्र के पक्ष में हो गया। इस प्रकार चाहमान-राज्य को दो दिशाओं से खतरा हो गया। अपने राज्य की रक्षा के लिये पृथ्वीराज को और अधिक सैनिक व्यय करना पड़ा होगा। इसके साथ-साथ भारतीयों की इस पारस्परिक शत्रुता ने मुहम्मद गोरी के विरुद्ध संघ-निर्माण को दुष्कर कर दिया।

चौलुक्यों से युद्ध—चौलुक्य-वंश गुजरात में राज्य करता था। उसके राजा मूलराज, द्वितीय की ११७८ में मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसका छोटा भाई भीम द्वितीय सिंहासन पर बैठा। इस समय नाडोल के चाहमान और आबू पर्वत के परमार भी गुजरात के चौलुक्य-वंश के अधीन थे।

अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि पृथ्वीराज ने चौलुक्य-राज्य पर आक्रमण किया था—

(१) पृथ्वीराज की चालुक्य-वंश से शत्रुता थी। इसी से उसने मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय मूलराज, द्वितीय की सहायता न दी थी।

(२) खरतरगच्छपट्टावली पृथ्वीराज और भीम, द्वितीय के बीच हुए युद्ध का उल्लेख करता है।

(३) पार्थपराक्रमव्यायोग का कथन है कि पृथ्वीराज ने रात्रिकाल में आबू के धारावर्ष परमार पर आक्रमण किया था। परन्तु धारावर्ष के छोटे भाई प्रल्हादन ने यह आक्रमण विफल कर दिया। आबू का परमार-वंश गजराज के चौलुक्य-वंश के अधीन था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि धारावर्ष अपने स्वामी की ओर से पृथ्वीराज के विरुद्ध युद्ध कर रहा था।

(४) वेरावल अभिलेख का कथन है कि गुजरात-नरेश भीमदेव, द्वितीय का मन्त्री जगद्देव प्रतिहार पृथ्वीराज की कमलिनीरूपा रानियों के लिये चन्द्र के समान था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि चौलुक्य-सेना का संचालन जगद्देव प्रतिहार कर रहा था और उसने पृथ्वीराज के आक्रमण को विफल कर दिया था।

खरतरगच्छपट्टावली से प्रकट होता है कि प्रारम्भिक युद्ध के पश्चात् दोनों पक्षों में सन्धि हो गई।

तराइन की प्रथम युद्ध (११६१ ई०)—गुजरात-नरेश भीमदेव द्वारा पराजित होने के पश्चात् मुहम्मद गोरी वापस चला गया और वह पुनः आक्रमण करने के लिये योजना बनाने लगा। ११८१ ई० में उसने स्यालकोट में एक दुर्ग बनाया। ११८६ में उसने गजनवी-वंश के शासक खुसरो मलिक को परास्त किया और लाहौर पर अधिकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि लाहौर को अपना अड्डा बनाकर मुसलमानों ने पृथ्वीराज के राज्य पर अनेक छोटे-मोटे आक्रमण किये। परन्तु इनमें उन्हें सफलता न मिली। इसी आधार पर भारतीय ग्रन्थों का कथन है कि पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को अनेक बार पराजित किया था।

११६१ ई० में मुहम्मद गोरी ने चाहमान राज्य पर आक्रमण किया और तबरहिन्द (सरहिन्द) पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को रोकने के लिये तत्काल प्रस्थान किया और तराइन के युद्ध में ११६१ ई० में उससे युद्ध किया। राजपूतों की असीम वीरता के सामने मुसलमानों के पैर उखड़ गये। परन्तु मुहम्मद गोरी फिर भी युद्ध करता रहा। उसने दिल्ली के राजा गोविन्दराज पर अपने भाले से आक्रमण किया और उसके दो दाँत तोड दिये। उस वार को सहन करते हुए गोविन्दराज ने मुहम्मद गोरी पर अपने भाले से प्रत्याक्रमण किया। इससे मुहम्मद गोरी बुरी तरह घायल हो गया। वह अपने घोड़े से नीचे गिरने ही वाला था कि उसके एक खिलजी सैनिक ने उसके घोड़े की पीठ पर कूद कर उसे सहारा दिया और किसी प्रकार उसे युद्ध-भूमि से भगा ले गया। इस प्रकार पृथ्वीराज की विजय हुई। पृथ्वीराज ने तबरहिन्द पर पुनः अधिकार कर लिया। परन्तु उसने

मुहम्मद गोरी की सेना का पीछा न करके बड़ी भूल की। यदि वह मुस्लिम सेना का पीछा करके उसे नष्ट कर देता तो मुहम्मद गोरी सम्भवतः दूसरे वर्ष ही उस पर पुनः आक्रमण करने की स्थिति में न हो सकता।

पृथ्वीराज और जयचन्द्र—पृथ्वीराज और जयचन्द्र अपने समय के शक्तिशाली राजा थे। दोनों ही सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते थे। अतः दोनों में शत्रुता अवश्यम्भावी थी। पृथ्वीराज ने अपनी अदूरदर्शिता के कारण इस शत्रुता को और अधिक बढ़ा लिया। तराइन के प्रथम युद्ध के पश्चात् उसने जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता का अपहरण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जयचन्द्र उसका कट्टर शत्रु बन गया।

तराइन का द्वितीय युद्ध (११६२ ई०)—तराइन के प्रथम युद्ध में पराजित होने के पश्चात् भी मुहम्मद गोरी ने हिम्मत न हारी। उसने थोड़े ही दिनों में युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। तत्पश्चात् उसने पृथ्वीराज के पास यह सन्देश भेजा कि वह इस्लाम धर्म स्वीकार कर ले। यदि उसने ऐसा न किया तो उस पर आक्रमण किया जायगा। पृथ्वीराज का उत्तर स्पष्ट था। उसने युद्ध का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसकी सेना में बहुसंख्यक पैदल, ३ लाख घुड़सवार और ३ हजार गजारोही थे। इसमें उसके १५० सामन्त और अनेक राजा थे।

मुहम्मद गोरी ने तबरहिन्द पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज ने युद्ध की सम्भावना को रोकने का प्रयत्न किया। उसने मुहम्मद गोरी के पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह तबरहिन्द पर अधिकार करके सन्तुष्ट हो जाय और आगे बढ़ने का विचार छोड़ दे। मुहम्मद गोरी ने छल से काम लिया। उसने पृथ्वीराज को उत्तर दिया कि वह अपने भाई के अधीन है। अतः इस प्रस्ताव पर अपने भाई की प्रतिक्रिया जानने के लिए वह उसके साथ सम्पर्क स्थापित करेगा। पृथ्वीराज इस धोखे में आ गया और उसकी सेना असावधान हो गई। मुहम्मद गोरी ने अपने शिविर में रात भर आग जलते रहने दी जिससे कि पता लगे कि मुसलमान सेना वहीं पड़ी हुई है। परन्तु सूर्योदय से पूर्व ही उसने सेना के साथ दूसरे मार्ग से चाहमान सेना पर आक्रमण कर दिया। इस समय पृथ्वीराज सो रहा था और राजपूत अपने नित्यकर्म में लगे हुए थे। राजपूतों में खलबली मच गई। परन्तु पृथ्वीराज ने असीम साहस का परिचय देते हुए स्थिति सँभाली और अपने अश्वारोहियों की सहायता से मुस्लिम सेना को खदेड़ दिया।

मुहम्मद गोरी ने अब दूसरी योजना बनाई और उसके अनुसार अपनी सेना ५ भागों में बाँट दिया। चार भागों ने राजपूतों पर चार दिशाओं से आक्रमण किया और जब राजपूतों ने ऊपर प्रत्याक्रमण किये तो वे पीछे हटने का बहाना करने लगे। इस प्रकार तीसरे पहर तक युद्ध होता रहा। जब मुहम्मद गोरी ने देखा कि राजपूत सेना बहुत थक गई है तो उसने अपनी सुरक्षित सेना के साथ राजपूतों

पर अचानक धावा बोल दिया। इस आक्रमण को राजपूत सह न सके। लगभग एक लाख राजपूत मारे गये। इनमें दिल्ली का राजा गोविन्दराज भी था। पृथ्वी-राज अपने हाथी से उतर कर एक घोड़े पर चढ़ गया। उसने युद्ध भूमि से भागने की चेष्टा की। मुसलमानों ने उसका पीछा किया और सरस्वती नदी के पास उसे पकड लिया। हसन निजामी का कथन है कि मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज को मारना नही चाहता था। परन्तु कुछ समय पश्चात् उसे पता लगा कि पृथ्वीराज उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है। अतः कुछ समय पश्चात् मुहम्मद गोरी ने उसकी हत्या करवा दी। इस प्रकार हिन्दू भारत के एक प्रतिभाशाली राजा का अन्त हुआ।[1]

मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज के युद्ध का यह विवरण तारीख-ए-फरिश्ता, तबकात-ए-नासिरी आदि मुस्लिम ग्रन्थो में मिलता है। भारतीय ग्रन्थों के विवरण कुछ भिन्न प्रकार के हैं। विरुद्धविधिविध्वस के कथनानुसार पृथ्वीराज का सेना-पति स्कन्द, जिसने तराइन के प्रथम युद्ध में चाहमान-सेना का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया था, इस बार पृथ्वीराज के साथ न जा सका, क्योकि वह दूसरे स्थान पर युद्ध-करने गया था। उदयराज नामक दूसरा सेनापति देर से युद्धभूमि में पहुँचा। प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार सोमेश्वर नामक मन्त्री ने पृथ्वीराज को यह परामर्श दिया कि वह अभियान न करे। पृथ्वीराज को यह सन्देह हो गया कि वह शत्रु से मिल गया है। अत उसने उसके कान काट लिये और उसे निकाल दिया। वह मुसलमानो से मिल गया और उन्हे पृथ्वीराज के शिविर तक ले आया।

तराइन के द्वितीय युद्ध में विजय के पश्चात् मुहम्मद गोरी ने हाँसी, सिरसा, समाना, कोहराम और अजमेर पर अधिकार कर लिया।

पृथ्वीराज का मूल्यांकन—पृथ्वीराज भारत के महान् सेनापतियो में गिना जाता है। उसने अपनी वीरता का परिचय देते हुए भादनकों, चन्देलो, और मुसलमानो को पराजित किया था। तराइन के प्रथम युद्ध में उसकी विजय चाहमान-वंश के लिये ही नही वरन् समस्त भारतवर्ष के लिये एक गौरवमयी घटना थी।

योद्धा होने के साथ-साथ वह विद्यानुरागी भी था। उसकी सभा मे पृथ्वीराज-रासो का रचयिता चन्दवरदाई, पृथ्वीराजविजय का रचयिता जयानक, विश्वरूप, वागीश्वर जनार्दन विद्यापति गौड तथा पृथ्वीभट्ट रहते थे।

फिर भी पृथ्वीराज के चरित्र में अनेक दोष थे। वह अदूरदर्शी राजा था। मुसलमान आक्रमणकारियो के विरुद्ध भारतीय राजाओ का संघ बनाने की उसने चेष्टा नहीं की। जिस समय मुहम्मद गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया उस

1. 'Thus ended the life and career of one of the most brilliant and romantic rulers of Hindu India'—Rajasthan Through the Ages, p. 299.

समय उसने चौलुक्यों की कोई सहायता नही की। चन्देलों पर आक्रमण करके तथा जयचन्द्र गाहडवाल की पुत्री संयोगिता का अपहरण करके उसने अपने समय के दो शक्तिशाली राजवशों को अपना शत्रु बना लिया। मुसलमान आक्रमण-कारियो के विरुद्ध चौलुक्यो, चन्देलों और गाहडवालों ने पृथ्वीराज को कोई सहायता नही दी।

तराइन के प्रथम युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् पृथ्वीराज ने मुस्लिम सेना को नष्ट नही किया वरन् उसे बच कर निकल जाने दिया। यही नही, इस सफलता के पश्चात् वह निश्चिन्त-सा हो गया और अपनी नवविवाहिता पत्नी सयोगिता के साथ रास-रग में खो गया। मुहम्मद गोरी की सन्धि-वार्ता में पडकर उसने विनाशकारी भूल की। मुस्लिम सेना उसके शिविर तक आ गई और वह पडा सो रहा था। उसका यह व्यवहार कदापि वीरोचित न था।[1] उसकी पराजय न केवल चाहमान-वश के लिये वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिये विनाशकारी सिद्ध हुई।[2]

पृथ्वीराज के उत्तराधिकारी—हम्मीर-महाकाव्य और विरुद्धविधिविध्वंस का कथन है कि पृथ्वीराज के पश्चात् उसका भाई हरिराज चाहमान-वंश के सिंहा-सन पर बैठा। इसके विरुद्ध हसन निजामी का कथन है कि मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के पुत्र को अजमेर का राजा बनाया।

अवसर पाकर हरिराज ने अजमेर पर आक्रमण किया और पृथ्वीराज के पुत्र से सिंहासन छीन लिया। कुछ समय पश्चात् मुहम्मद गोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ने हरिराज पर आक्रमण किया। हरिराज ने बन्दी बनने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझा। अत उसने सपरिवार अजमेर के दुर्ग के भीतर अग्नि में जल कर अपना अन्त कर लिया। इस प्रकार ११९४ ई० में कुतुबुद्दीन ने अजमेर पर अधि-कार करके चाहमान राजवश का अन्त कर दिया।

---

1 '. . .The king's behaviour just before the second battle of Tarain was neither that of a hero nor that of a great general awake to all the possibilities and probabilities of warfare, but that of a novice in the art of finesse and of a common reveller.'

—Dr. Dasharatha Sharma, 'Rajasthan Through the Ages, p. 301

2 The defeat of Prithviraja in the second battle of Tarain not only destroyed the imperial power of the Chahamanas, but also brought disaster on the whole of Hindustan

—The Struggle for Empire, p 113

अध्याय २१

चन्देल वंश

चन्देल वंश की उत्पत्ति—इस वश का उदय प्रतिहार-वश के पतन के पश्चात् हुआ। इस वश की उत्पत्ति के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं—

(१) स्मिथ रसेल आदि कुछ विद्वानों का मत है कि यह वश अनार्य जातियों—गोंडो और भरो—से उत्पन्न हुआ था। परन्तु यह मत विश्वसनीय नही है।

(२) अभिलेखो में चन्देल-वंश को ऋषि चन्द्रात्रेय की सन्तान माना है।

(३) पृथ्वीराजरासो के अनुसार यह वश एक ब्राह्मण कन्या और चन्द्रमा से उत्पन्न हुआ था।

मूल निवास स्थान—इस वश के प्रमुख अभिलेख कालजर, खजुराहो, महोबा और अजयगढ में प्राप्त हुए हैं। इनसे प्रकट होता है कि इस वंश का उदय वर्तमान बुन्देलखण्ड में हुआ था। इस वश के एक राजा जयशक्ति, जेय अथवा जेज्जक के नाम पर बुन्देलखण्ड को जैजाकभुक्ति कहते थे।

प्रारम्भिक राजा—चन्देल-वश के प्रारम्भिक राजा प्रतिहारों के अधीन सामन्त-रूप में शासन करते थे। ये राजा थे नन्नुक, वाक्पति, जयशक्ति, वियशक्ति, राहिल और हर्ष।

यशोवर्मन् ६२५-५०—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् **यशोवर्मन्** सिंहासन पर बैठा। इसने ६२५ से ६५० तक राज्य किया। सर्वप्रथम इसी राजा के समय यह वंश पर्याप्तरूप से शक्तिशाली बना।

इसके पुत्र धग के खजुराहो अभिलेख से इस राजा के विषय में अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं—

(१) यशोवर्मन् गुर्जरो के लिये अग्नि के समान था।

(२) इसने कालजर-विजय की। सम्भवत: इसके पूर्व कालजर राष्ट्रकूटों के अधीन था। अतः यशोवर्मन् ने राष्ट्रकटों को पराजित किया होगा।

(३) इसने प्रतिहार-नरेश देवपाल से वैकुण्ठ की मूर्ति प्राप्त की। सम्भव है कि उसने यह मूर्ति प्रतिहार-नरेश से बलपूर्वक ग्रहण की हो। यदि ऐसा है तो फिर यह स्वीकार करना पडेगा कि इस समय चन्देल-वश नाममात्र को ही प्रतिहार-वंश को अपना स्वामी मानता था।

(४) यशोवर्मन् ने चेदि-नरेश को परास्त किया। सम्भवत: यह चेदि-नरेश युवराज प्रथम था।

(५) इसने पाल-नरेश को पराजित किया। यह पाल-नरेश गोपाल द्वितीय था। सम्भवतः इससे यशोवर्मन् ने गौड़ और मिथिला के प्रदेश छीन लिये थे।

(६) इस अभिलेख के कथनानुसार यशोवर्मन् ने खशों को परास्त किया था। कश्मीर के एक भाग में खशों का राज्य था। परन्तु यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि यशोवर्मन् ने बुन्देलखण्ड से इतनी दूर कश्मीर में युद्ध किया हो।

(७) अभिलेख का वर्णन है कि यशोवर्मन् ने कोसलों का कोश छीन लिया था। उत्तर कोसल प्रतिहारों के अधीन था और दक्षिण कोसल सोमवंशी नरेशों के अधीन। परन्तु अभिलेख से यह स्पष्ट नहीं होता कि यहाँ किस कोसल का उल्लेख है।

(८) अभिलेख में उल्लेख है कि यशोवर्मन् ने कश्मीर के योद्धाओं का नाश कर डाला था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह कथन बड़ा सन्देहपूर्ण है कि यशोवर्मन् ने दूरस्थ कश्मीर से कोई युद्ध किया था।

(९) अभिलेख यशोवर्मन् की मिथिला-विजय का भी उल्लेख करता है इसे उसने पाल-नरेश गोपाल द्वितीय से जीता होगा।

(१०) अभिलेख यशोवर्मन् को मालवा के विरुद्ध मिली सफलता का भी वर्णन करता है। इस समय मालवा पर परमारवंशीय सीयक द्वितीय का राज्य था। सम्भव है कि यशोवर्मन् ने इसी को हराया हो।

(११) खजुराहो अभिलेख के कथनानुसार यशोवर्मन् कुरु देश के लिये झंझा-वात के समान था। कुरु देश पर प्रतिहारों का आधिपत्य था। यशोवर्मन् की उदीयमान शक्ति से प्रतिहार-वंश आतंकित हो रहा था और चन्देल-वंश के ऊपर उसका अधिकार नाममात्र को ही रह गया था।

यह भी सम्भव है कि खजुराहो अभिलेख के अनेक कथन केवल प्रशंसामात्र हों। फिर भी इतना निश्चित है कि यशोवर्मन् के समय चन्देल-वंश पर्याप्तरूप से शक्तिशाली और प्रतिष्ठित हो गया था।

धंग ९५०-१००२—यह यशोवर्मन् और पुष्पदेवी का पुत्र था। यह अपने पिता की भाँति ही वीर और महत्वाकांक्षी था। अनेक अभिलेखों से प्रकट होता है कि इसने प्रतिहारों के विरुद्ध अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की थी और 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की।

(१) मऊ अभिलेख से प्रकट होता है कि गण्डदेव के पिता (धंग) ने कन्नौज के प्रतिहार-नरेश को परास्त किया था।

(२) नन्योर अभिलेख से विदित होता है कि धंगदेव ने काशिका (वाराणसी) में ग्राम-दान किया था। वाराणसी-प्रदेश पर प्रतिहार-वंश का अधिकार था। अतः इस अभिलेख से सिद्ध हो जाता है कि धंग ने प्रतिहारों से वाराणसी छीन लिया था।

प्रसिद्ध खजराहो अभिलेख धंग ने ही उत्कीर्ण कराया था। यह अभिलेख उसके पराक्रम की प्रशसा करता है—इसमें कहा गया है कि कोसल, ऋथ, सिहल और कुन्तल पर धग का आधिपत्य था तथा काची, आन्ध्र, राढा और अग राज्यो की रानियाँ उसकी काराओ में पड़ी थी।

इसमें सन्देह नहीं कि यह विवरण पूर्णरूप से विश्वसनीय नहीं है। उदाहरणार्थ सिहल (लका), ऋथ (बरार का समीपवर्ती प्रदेश) और काची के दूरस्थ प्रदेशों पर उसका अधिकार मानना असम्भव है।

कोसल के दो भाग थे—उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल। इसके पिता ने भी इनमे से किसी एक के साथ युद्ध किया था। सम्भव है कि धग के समय भी वह शत्रुता चलती रही हो।

यह निश्चितरूप से ज्ञात नही है कि इस समय कुन्तल मे किस वश का राज्य था।

आन्ध्र चालुक्यो के अधीन था। सम्भव है कि धग ने चालुक्यों के साथ युद्ध किया हो।

अग पाल-राज्य मे था और राढा शूर-राज्य मे। सम्भव है कि पूर्वी भारत के इन राज्यों से धग का सघर्ष हुआ हो।

मुसलमानो से सघर्ष—इस बात के सकेत मिलते है कि धग मुसलमानो की बढती हुई शक्ति और उनके कारण भारतवर्ष की लिये उदीयमान खतर के प्रति सचेत था। यही कारण है कि जिस समय सुबुक्तगीन के विरुद्ध शाही वश के राजा जयपाल ने अन्य हिन्दु राजाओ से सहायता मांगी तो कालजर के राजा ने उसे सहायता भेजी थी। तिथि-क्रम से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय कालजर में धग का राज्य था। महोबा अभिलेख, कहता है कि धग हम्बीर (अमीर अथवा मस्लिम शासक) के समान शक्तिशाली था।

ऐसा प्रतीत होता है कि धग ने गगा-यमुना के सगम मे डूब कर अपना प्राणान्त कर लिया था। सम्भवत. उसका यह पुण्यकृत्य था।

गण्ड (१००२-१७)— यह धग का पुत्र था। फरिश्ता का कथन है कि महमूद गजनवी के विरुद्ध शाही-वश के राजा आनन्दपाल ने भी १००८ मे हिन्दू राजाओ का एक सघ बनाया था। इसमें उज्जैन, ग्वालियर, कन्नौज, दिल्ली, अजमेर और कालजर के राजाओ ने भाग लिया था। कालजर मे इस समय गण्ड का राज्य था। इस घटना से स्पष्ट है कि अपने पिता की भांति गण्ड भी मुसलमानो की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना चाहता था। अभाग्यवश आनन्दपाल के नेतृत्व मे लड़नेवाली सघ-सेना परास्त हो गई। परिणामत. गण्ड के पुत्र एव उत्तराधिकारी विद्याधर को भी मुस्लिम खतरे का सामना करना पड़ा।

विद्याधर (१०१७-२९)—अपने पिता गण्ड की मृत्यु के पश्चात् १०१७ ई० में विद्याधर सिंहासन पर बैठा। अभाग्यवश इसका अपना कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। इसका इतिहास मुस्लिम लेखों और अन्य भारतीय राजवंशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है।

अभी तक प्रतिहार-वंश मुसलमानों के विरुद्ध सीना ताने खड़ा था। प्रतिहारों के पतन के पश्चात् मुसलमानों से लोहा लेने का भार विद्याधर पर पड़ा।

राज्यपाल प्रतिहार—इस समय कन्नौज में प्रतिहार-नरेश राज्यपाल राज्य कर रहा था। वह भी मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित था। जिस समय शाही-वंश के राजाओं जयपाल और आनन्दपाल ने महमूद गजनवी के विरुद्ध संघ बनाया था तो राज्यपाल ने उनकी सहायता की थी। परन्तु दोनों बार हिन्दू संघ पराजित हुए थे।

उत्बी के कथनानुसार १०१८ में महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया। राज्यपाल ने अपने आपको इस आक्रमण को रोकने में अशक्ति समझा और अत्यन्त कायरता का परिचय देते हुए बिना लड़े ही भाग गया। महमूद ने कन्नौज पर सुगमतापूर्वक अधिकार कर लिया और वहाँ भारी लूट-मार की।

महमूद ने लौट जाने के पश्चात् राज्यपाल अपनी राजधानी में पुनः वापस आ गया। परन्तु उसके कायरतापूर्ण व्यवहार से चन्देल-नरेश विद्याधर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने राज्यपाल को दण्डित करने का निश्चय किया। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि जिस समय महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया था उस समय न तो विद्याधर और न किसी अन्य हिन्दू नरेश ने राज्यपाल की सहायता की थी। यदि विद्याधर ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ कन्नौज की रक्षा के लिये पहुँच जाता तो सम्भवतः भारतीय इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

डा० स्मिथ का मत है कि विद्याधर ने राज्यपाल को दण्डित करने के लिये हिन्दू नरेशों का एक संघ बनाया था, परन्तु डा० दशरथ शर्मा इस कथन पर विश्वास नहीं करते। उनका विश्वास है कि इस कार्य में विद्याधर ने अपने सामन्तों के साथ ही मिलकर संघ बनाया था।

विद्याधर और राज्यपाल की शत्रुता पर तारीख-ए-कामिल से प्रकाश पड़ता है। इसका कथन है कि राज्यपाल की कायरता से क्रुद्ध होकर विद्याधर ने अपने दूतों द्वारा उसके पास पत्र भेजे और उसकी भर्त्सना की। इसी बात से दोनों में

झगड़ा उठ खड़ा हुआ और दोनों ने युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। युद्ध में राज्यपाल मारा गया।[1]

इस युद्ध और राज्यपाल की मृत्यु के प्रमाण अन्य साक्ष्यों से भी प्राप्त होते हैं—

(१) महोबा अभिलेख उल्लेख करता है कि विद्याधर ने कन्नौज के राजा का नाश कर दिया।

(२) दूबकुण्ड अभिलेख का कथन है कि विद्याधर देव की सेवा करने के लिये उत्सुक अर्जुन कच्छपघात ने राज्यपाल के ऊपर बाणों की वर्षा की जो उसकी गर्दन में घुस गये। परिणामस्वरूप राज्यपाल मर गया। यह अर्जुन कच्छपघात विद्याधर के अधीन सामन्त था।

राज्यपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र त्रिलोचनपाल प्रतिहार-वंश का राजा हुआ।

महमूद का आक्रमण—विद्याधर को दण्डित करने के लिये महमूद ने १०१९ ई० में पुनः भारत पर आक्रमण किया। उसका पहला युद्ध त्रिलोचनपाल से हुआ। निजामुद्दीन के अनुसार यह युद्ध जून (यमुना) के किनारे हुआ। परन्तु उत्बी का कथन है कि यह युद्ध राहब (रामगंगा) के किनारे हुआ। इस युद्ध में त्रिलोचनपाल पराजित हुआ और वह युद्ध से भाग खड़ा हुआ। उसे उसके साथियों ने मार डाला।

डा० बैजनाथपुरी का मत है कि यह त्रिलोचनपाल प्रतिहार-नरेश था। परन्तु डा० दशरथ शर्मा इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार त्रिलोचनपाल शाहीवंश के आनन्दपाल का पुत्र और उत्तराधिकारी था। इस प्रकार एक ही समय में दो त्रिलोचनपाल हुए—एक शाही वंश में और दूसरा प्रतिहार-वंश में। डा० दशरथ शर्मा के अनुसार महमूद गजनवी ने जैसे ही पंजाब पार किया वैसे ही उसका युद्ध शाही-वंश के त्रिलोचनपाल से रामगंगा के किनारे हुआ।

इसके पश्चात् महमूद ने प्रतिहार-नरेश त्रिलोचनपाल पर आक्रमण किया। इस बार भी अतीव राजनीतिक संकीर्णता का परिचय देते हुए विद्याधर ने त्रिलोचन-

---

1 'Bida the accursed, who was the greatest of the rulers of India in territory and had the largest army, and whose territory was named Khajuraha, sent messengers to the Ray of Kanauj who was named 'Rayapala,' rebuking him for his flight and for the surrender of his territories to the Musalmans. A long quarrel issued between them, which resulted in hostilities and as each one of them prepared to fight the other, they marched out, met and fought, and Rajyapala was killed'

—Tarikh-i-Kamil

पाल की कोई सहायता न की। त्रिलोचनपाल में इतनी शक्ति न थी कि वह महमूद का सामना करता। इसलिये वह भाग खड़ा हुआ।

विद्याधर से युद्ध—अब महमूद ने विद्याधर पर आक्रमण किया। अभाग्यवश इस युद्ध का विवरण भारतीय ग्रन्थों में नहीं मिलता। केवल मसलमान लेखक ही इसका उल्लेख करते है। उन विवरणों में परस्पर-विरोध और पक्षपात मिलता है—

(१) निजामुद्दीन का कथन है कि महमूद ने जब नन्द (विद्याधर) की बहुसख्यक सेना को देखा तो वह घबडा गया और सोचने लगा कि मैंने आक्रमण करके गलती की। परन्तु उसने ईश्वर से प्रार्थना की और रात को नन्द डर कर भाग गया।

(२) गर्दिजी और फरिश्ता का भी कथन है कि विद्याधर बिना लडे भाग गया।

(३) ताजुल-म' असीर से प्रकट होता है कि महमूद और विद्याधर की सेनाओं में दिन भर यद्ध होता रहा, परन्तु कोई निर्णय नही हो सका। रात्रि को युद्ध बन्द हो गया। जब प्रात काल महमद युद्ध के लिये आया तो उसने हिन्दू सेना को वहाँ न पाया। मस्लिम सेना ने हिन्दू सेना को ढूढना प्रारम्भ किया। अन्त में वह वनों और झाडियो मे छिपी हुई मिली। मस्लिम सैनिको ने बहुसख्यक हिन्दू सैनिको को मार डाला। परन्तु बीद (विद्याधर) किसी प्रकार बच कर भाग गया।

इन तीनों विवरणो में 'ताजुल-म' असीर का विवरण अधिक पक्षपात रहित प्रतीत होता है। इससे प्रकट होता है कि वास्तव में विद्याधर ने महमूद से युद्ध किया था। इसमें कोई पक्ष भी विजयी न हुआ। दूसरे दिन विद्याधर कूटनीति-पूर्वक पीछे हट गया। महमूद विद्याधर की विशाल सेना देखकर प्रारम्भ से ही भयभीत था। अत. उसने प्रथम अनिर्णीत युद्ध के पश्चात् पुन: विद्याधर से युद्ध करने का साहस न किया और गजनी वापस चला गया।[1] डा० मजूमदार का मत है कि विद्याधर ने पीछे हटते समय भूमि-दाह की नीति (scorched-earth policy) का अवलम्बन लिया था।

१०२२ ई० में महमूद ने पुन: विद्याधर पर आक्रमण किया। परन्तु अनेक दिनो के घेरे के पश्चात् भी जब वह कालजर पर अधिकार कर न सका तो उसने

1 '. . . he was doubtful of the result and like a prudent general, he went back to Ghazni to return with a large force.' —Cunningham, ASR Vol. XXI, pp. 23-4.

विद्याधर से सन्धि कर ली। दोनों ने एक-दूसरे को उपहारादि दिए। इन उपहारों को मुसलमान लेखकों ने 'कर' लिखा है।[1]

इस प्रकार महमूद विद्याधर को पराजित न कर सका।[2]

विजयपाल (१०३०-५०)—यह विद्याधर का पुत्र और उत्तराधिकारी था। महोबा अभिलेख से प्रकट होता है कि इसने कलचुरि-वंश के राजा गांगेयदेव को परास्त किया था।

देववर्मन् (१०५०-६०)—विजयपाल के दो पुत्र थे—देववर्मन् और कीर्तिवर्मन्। बड़ा होने के कारण देववर्मन् सिंहासन पर बैठा।

देववर्मन् के १०५१ के चरखारी अभिलेख में कहा गया है कि संसार नश्वर और दुःखपूर्ण है। इस कथन के आधार पर विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि देववर्मन् पर कोई दुःख आ पड़ा था। सम्भवतः यह कलचुरि-नरेश लक्ष्मीकर्ण का आक्रमण था। लक्ष्मीकर्ण को विक्रमांकदेवचरित में कालंजर के राजा के लिये मृत्यु के समान कहा गया है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि लक्ष्मीकर्ण ने देववर्मन् से उसके राज्य का कुछ भाग छीन लिया होगा।

कीर्तिवर्मन् (१०६०-११००)—यह देववर्मन् का छोटा भाई था। अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि इसने कलचुरि-नरेश लक्ष्मीकर्ण को परास्त करके अपने राज्य का खोया हुआ भाग पुनः हस्तगत कर लिया।

सल्लक्षणवर्मन् (११००-१५)—यह कीर्तिवर्मन् का पुत्र था। अजयगढ़ अभिलेख से प्रकट होता है कि इसने मालवों और चेदियों (कलचुरियों) को पराजित किया था। मऊ अभिलेख में इसके विद्या-प्रेम और कला-प्रेम का उल्लेख है।

मदनवर्मन् (११२९-६३)—सल्लक्षणवर्मन् के पश्चात् क्रमशः जयवर्मन् और पृथ्वीवर्मन् ने राज्य किया। परन्तु इनके शासनकाल महत्वहीन थे।

पृथ्वीवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मदनवर्मन् चन्देल-राज्य का राज्य हुआ। यह अपने समय का एक पराक्रमी नरेश सिद्ध हुआ। इसके अनेक अभिलेख और सिक्के मिले हैं। इसके समकालीन राजाओं में निम्नलिखित विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—

---

1 '... mutual gifts and compliments which appear to have been euphemistically represented by his (Mahmud's) historians as 'tribute.'
—Dr. Ray, DHNI, Vol II, p. 693

2 Vidyadhara had thus the unique distinction of being the only Indian ruler who effectively checked the triumphant career of Sultan Mahmud..

—Dr. R. C. Majumdar.

(१) चेदिवंशीय गयाकर्ण
(२) परमारवंशीय यशोवर्मन् तथा लक्ष्मीवर्मन्
(३) गाहड़वालवंशीय गोविन्दचन्द्र और विजयचन्द्र
(४) चालुक्यवंशीय जयसिंह सिद्धराज

रीवा-प्रदेश चेदि राज्य का भाग था। परन्तु यहाँ के पँवर नामक गाँव में मदनवर्मन् का ४८ मुद्रायें मिला हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि उसने चेदिवंश के राजा गयाकर्ण को हरा कर रीवा प्रदेश छीन लिया था।

परमार-वंश मालवा में राज्य करता था। मदनवर्मन् के समय यहाँ का राजा यशोवर्मन् था। इससे मदनवर्मन् ने भिलसा-प्रदेश छीन लिया था। औगसी अभिलेख से ज्ञात होता है कि मदनवर्मन् ने इस प्रदेश में भू-दान किया था।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यशोवर्मन् के पुत्र एवं उत्तराधिकारी लक्ष्मीवर्मन् ने लगभग ११५३ ई० में भिलसा पर पुनः अधिकार कर लिया था। इसका साक्ष्य लक्ष्मीवर्मन के उज्जैन अभिलेख से मिलता है। इसका कथन है कि लक्ष्मीवर्मन् ने महद्वदसक मण्डल (भिलसा का समीपवर्ती प्रदेश) में भूदान किया था।

मऊ अभिलेख का कथन है कि मदनवर्मन् ने चेदि-नरेश, काशी-नरेश, मालवा-नरेश तथा अन्य नरेशों को पराजित किया था।

यहाँ काशी-नरेश से गाहड़वाल गोविन्दचन्द्र का तात्पर्य है। गोविन्दचन्द्र ने ११२० ई० के लगभग चन्देलों को पराजित करके उनके छतरपुर प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु इस प्रदेश का मदनवर्मन् ने पुनः हस्तगत कर लिया। यहाँ उसका ११४७ ई० का एक लेख मिला है।

मदनवर्मन् ने गुजरात के चालुक्य-नरेश जयसिंह सिद्धराज से भी युद्ध किया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह युद्ध निर्णायक न हुआ, क्योंकि साक्ष्य दोनों को ही विजय का श्रेय देते हैं। सिद्धराज की विजय के निम्नलिखित साक्ष्य हैं—

(१) कीर्तिकौमदी का कथन है कि सिद्धराज विजयी हुआ था और वह चन्देल राज्य में कालजर तक पहुँच गया था।

(२) कुमारपालचरित का स्पष्ट कथन है कि सिद्धराज ने मदनपाल को परास्त किया था। इसके विरुद्ध निम्नलिखित साक्ष्य मदनवर्मन् की विजय का उल्लेख करते हैं—

(१) कालजर अभिलेख का उल्लेख है कि जिस प्रकार कृष्ण ने कंस को परास्त किया था उसी प्रकार मदनवर्मन् ने गुर्जरराज (सिद्धराज) को।

(२) पृथ्वीराजरासो का कथन है कि चन्देल-नरेश ने चालुक्य-नरेश को पराजित किया था।

इस प्रकार मदनवर्मन् ने अनेक शत्रुओं को पराजित करके अपने राज्य की

रक्षा की। उसका राज्य उत्तर में यमुना नदी तक, दक्षिण में नर्मदा नदी तक, पूर्व में रीवा तक और दक्षिण-पश्चिम में बेतवा तक विस्तृत था। इसके अन्तर्गत कालंजर, महोबा, खजुराहो, अजयगढ़, मदनपुर, मऊ और भिलसा के भूखण्ड सम्मिलित थे।

परमर्दी (११६३-१२०२)—मदनवर्मन् के पश्चात् उसका पौत्र परमर्दी सिंहासनासीन हुआ। यह बड़े संकटपूर्ण काल में सिंहासन पर बैठा था। यह काल मुसलमानों के आक्रमणों का काल था। इसी समय दिल्ली और अजमेर का चाहमान-वंश और गुजरात का चौलुक्य-वंश अपने राज्य-विस्तार की चेष्टा कर रहे थे।

चालुक्य-वंश—चौलुक्य-वंश ने किसी समय भिलसा पर अधिकार कर लिया था। ११७३ ई० तक यह प्रदेश चौलुक्यों के अधीन रहा। परन्तु इस तिथि के पश्चात् परमर्दी ने भिलसा पर अपना अधिकार कर लिया। इसी से वह 'दशार्णाधिपति' कहलाया।

गाहड़वाल-वंश—इस समय कन्नौज में गाहड़वाल-वंश के राजा जयचन्द्र का राज्य था। पृथ्वीराजरासो से प्रकट होता है कि परमर्दी और जयचन्द्र के सम्बन्ध अच्छे थे।

चाहमान-वंश—इस समय अजमेर और दिल्ली में पृथ्वीराज तृतीय चाहमान का शासन था। यह वीर होने के साथ-साथ अदूरदर्शी था। इसने व्यर्थ में अपने पड़ोसी राज्यों को शत्रु बना लिया। पृथ्वीराजरासो का कथन है कि पृथ्वीराज और परमर्दी का भी शत्रुता थी। लगभग ११८२ में पृथ्वीराज ने परमर्दी के राज्य पर आक्रमण किया। मदनपुर अभिलेख से प्रकट होता है कि उसने परमर्दी के राज्य को बड़ी क्षति पहुंचाई। परमर्दी ने आल्हा और ऊदल नामक दो वीर योद्धाओं की सहायता से पृथ्वीराज का सामना किया। परन्तु आल्हा और ऊदल मारे गये और परमर्दी पराजित हुआ।

परन्तु पृथ्वीराज चन्देल राज्य पर अधिकार न रख सका। परमर्दी के ११८३ ई० के महोबा और कालंजर के अभिलेखों से प्रकट होता है कि वे चन्देल-राज्य में ही थे।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण—तराइन के प्रथम और द्वितीय युद्धों में परमर्दी ने मुहम्मद गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज को सहायता न दी। इसका कारण परमर्दी और पृथ्वीराज की शत्रुता थी।

परन्तु परमर्दी और कन्नौज-नरेश जयचन्द्र मित्र थे। फिर भी जब ११९४ में मुहम्मद गोरी ने जयचन्द्र पर आक्रमण किया तो परमर्दी ने जयचन्द्र की भी सहायता न की। इस प्रकार की अदूरदर्शिता एवं संकीर्णता उस समय के प्रायः सभी हिन्दू राजाओं में थी। इसका दुष्परिणाम परमर्दी को भी भुगतना पड़ा।

चन्देल राज्य पर आक्रमण—१२०२ में कुतुबद्दीन ने कालंजर पर आक्रमण किया और दुर्ग को घेर लिया। हसन निजामी का कथन है कि परमर्दी ने कुछ दिनों तक आक्रमणकारी का सामना किया, परन्तु अन्त में सन्धि करना स्वीकार कर लिया। इसी बीच परमर्दी की मृत्यु हो गई। उसका मन्त्री अजयदेव सन्धि का विरोधी था। अतः उसने परमर्दी की मृत्यु के पश्चात् भी युद्ध जारी रक्खा। परन्तु कुछ समय पश्चात् दुर्ग में पानी का अभाव हो गया। अतः विवश होकर अजयदेव को हार माननी पड़ी। कुतुबद्दीन ने कालंजर को खूब लूटा वहाँ हिन्दुओं को मुसलमान अथवा दास बनाया तथा मन्दिरों तोड़ कर मस्जिदें बनवाई।

फरिश्ता का वर्णन उपर्युक्त वर्णन से कुछ भिन्न है। वह कहता है कि जब परमर्दी ने कुतुबद्दीन से सन्धि करना स्वीकार कर लिया तो उसके मन्त्री अजयदेव को बड़ा बुरा लगा और उसने अपने स्वामी की हत्या कर दी तथा युद्ध जारी रक्खा।

चन्देल कला—चन्देल-काल कला की उन्नति के लिये बड़ा प्रसिद्ध है। इस काल की वास्तु-कला और स्थापत्य-कला प्राचीन भारत के कला के सुदीर्घ इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

चन्देल-कला का प्रमुख केन्द्र खजुराहो था। यहाँ लगभग ३० मन्दिर हैं जिनका निर्माण ६०० ई० से १०५० ई० के बीच हुआ था। ये मन्दिर शिव, विष्णु और जैन तीर्थंकरों के हैं। इनमें कोई भी बौद्ध मन्दिर नहीं है।

अधिकांश मन्दिर आयताकार नागर शैली के हैं। इनका निर्माण ऊँचे मंच पर हुआ है। गर्भ-गृह के भीतर प्रमुख देवता की मूर्ति प्रतिष्ठित है। गर्भ-गृह के आगे अन्तराल है और उसके आगे महामण्डप। महामण्डप के आगे अर्धमण्डप और मण्डप हैं। गर्भ गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ हैं। गर्भ गृह में प्रवेश करने के लिये चार द्वार होते हैं। इन मन्दिरों के विमान पर छोटे-बड़े बहुसंख्यक शृंग होते हैं। इनके शीर्ष पर आमलक होता है। शृंगों के कारण मन्दिर एक पर्वत के समान प्रतीत होता है।

कुछ मन्दिर 'पंचायतन' शैली के हैं। इनमें मुख्य गर्भ-गृह में तो मुख्य देवता की मूर्ति प्रतिष्ठित होती है। इसके अतिरिक्त अलिन्द (मंच) के चारों कोनों में चार गर्भ-गृह होते हैं जिनमें उप-देवताओं की भी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती थी।

खजुराहो के मन्दिरों में कन्दरीय मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। यह शिव-मन्दिर है। यह एक ऊँचे मंच पर बना है। यह १०६ फीट लम्बा, ६० फीट चौड़ा और ११६½ फीट ऊँचा है। इसका शिखर अनेक छोटे-छोटे शृंगों से घिरा हुआ है। इससे सम्पूर्ण मन्दिर एक पर्वत-शृंखला सा प्रतीत होता है। गर्भ-गृह के भीतर संगमरमर का शिव-लिंग है। मन्दिर में शिव के अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, सप्तमातृकाओं आदि की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर के तोरण द्वार, अर्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप एवं छतें सुन्दर स्थापत्य से अलंकृत हैं। मन्दिर के चतुर्दिक परिक्रमा-पथ है। कनिंघम ने जब यह मन्दिर देखा था तो इसमें ८७२ मूर्तियाँ थीं।

चन्देल-काल का दूसरा सुन्दर मन्दिर जगदम्बिका मन्दिर है। यह अपने स्थापत्य की सुन्दरता और विविधता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध है।

विष्णु-मन्दिरों में चतुर्भुज का मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। यह ईंटो के बने एक ऊँचे मंच पर स्थित है। इसकी लम्बाई ८५ फीट और चौड़ाई ४४ फीट है। गर्भ-गृह मे चतुर्भुज और त्रिमुख विष्णु की मूर्ति है। विष्णु का बीच का मुख मनुष्य का है। उसके दोनो ओर एक-एक मुख सिंह का है।

खजुराहो में अनेक मन्दिर भी हैं। इनमे सबसे विशाल मन्दिर पार्श्वनाथ का है। यह ६२ फीट लम्बा और ३१ फीट चौड़ा है। इस मन्दिर को चारो ओर से एक भित्त से घेरा गया है। यह जैन तीर्थंकरो तथा हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां स अलंकृत की गई है।

दुर्ग—चन्देलो ने अनेक दुर्गों का निर्माण किया। ये सभी पर्वतो पर बनाये गये थ। इनमे सबसे प्रसिद्ध कालजर का दुग है। यह समद्र-तल स १२३० फीट ऊँचा है। इसम सात प्रवेश द्वार है। छठे द्वार पर चन्देलकालीन शिलालेख उत्कीण हे। दुर्ग के चारो ओर ४०-५० फीट परकोटा है। इस परकोटे के पीछे एक पच्चीस फीट चौडा भाग है। दुग के भीतर अनेक भवन, मन्दिर मूर्तियां, सरोवर आदि हैं को कला की दृष्टि से भी बडे महत्वपूण हैं।

जलाशय—चन्देल-नरेलो ने अनेक विशाल और सुदृढ सरोवर भी बनवाये। राहिल ने महोबा के समीप राहिल सागर' का निर्माण कराया। मदनवर्मा ने महोबा कालजर और अजयगढ में जलाशय बनवाये। अन्य जलाशयो में जैतपुर का बेलाताल और महोबा के विजया सागर एव कल्याण सागर विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन जलाशयो के तट पर अधिकाशत घाटो और मन्दिरो का भी निर्माण किया गया था।

स्थापत्य—चन्देल-काल मे स्थापत्य की भी बडी उन्नति हुई। चन्देलकालीन मन्दिर के विभिन्न भागो में अनेक प्रकार की मूर्तियां मिलती हैं। खजराहो के मन्दिर की बाहरी भित्ति पर देवी देवताओ, दिग्पालो, अप्सराओ और स्त्री-पुरुषो की मूर्तियाँ है। इनमे बहसख्यक मूर्तियां कामविषयक है। यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि देवालयो में इस प्रकार की अश्लील मूर्तियाँ क्यो बनाई गइ थी।

मन्दिर के महामण्डप, मण्डप और अर्धमण्डप विविध स्थापत्य, कृतियो से अलकृत हैं। इनके स्तम्भो पर यक्षियो के चरणो के नीचे दबे हुए वामनो की मूर्तियाँ है। स्तम्भो के शीर्ष-भाग अनेक प्रकार के पादपो, पुष्पो और लताओ से भरे हैं।

प्रवेश-द्वारो पर मकरवाहनी गगा और कूर्मवाहनी यमुना आदि की मूर्तियाँ हैं। गर्भ-गृह की बाहरी भित्ति तथा आलो मे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु आदि की मूर्तियां बनाई गई हैं। 'जैन मन्दिरो में तीर्थकरो एव गरुड-वाहिनी अष्टभुजी जैन देवी की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।

बाशम महोदय का मत है कि खजुराहो की स्थापत्य-कला में उड़ीसा-कला की भाँति दृढ़ता तथा शक्ति तो नहीं है, परन्तु वह अधिक नयनाभिराम है।[1]

स्थापत्य-कृतियों में खजुराहो के कन्दरीय शिव-मन्दिर की बाहरी भित्ति पर पैर से काँटा निकालती हुई सुन्दरी का चित्र बड़ा स्वाभाविक है। इसी प्रकार खजुराहो में ही एक प्रसाधन करती हुई सुन्दरी तथा दूसरी अलस नायिका की मूर्तियाँ भी बड़ी आकर्षक हैं।

---

1 'The style of Khajuraho sculpture lacks the solidity and vigour of the best of Orissa, but the wonderful friezes of statuary contain figures of a graceful vitality, warmer and more immediately attractive than those of the Orissan temples.'

अध्याय २२

मालवा का परमार-वंश

उत्पत्ति—परमारो की उत्पत्ति के विषय में दो मत प्रचलित है। एक मत पद्मगुप्त परिमल की जनश्रुति पर आधारित है और दूसरा अभिलेखो पर। पद्मगप्त की जनश्रुति के अनुसार वसिष्ठ के पास कामधेनु थी जिसे विश्वामित्र ने चरा लिया। अपनी गाय प्राप्त करने के लिये वसिष्ठ ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ किया। अग्नि-कुण्ड से एक वीर उत्पन्न हुआ। इसने विश्वामित्र से कामधेनु छीन कर वसिष्ठ को दे दी। वसिष्ठ ने इस वीर का नाम पर 'परमार' रक्खा। 'पर' का अर्थ है शत्रु और 'मार' का अर्थ है विनाशक। परमार का अर्थ शत्रुविनाशक है।

कुछ विद्वानो अभिलेखो के आधार पर परमारो को राष्ट्रकटो से उत्पन्न मानते है। हरसोल अभिलेख मे परमार-वश को राष्ट्रकूट-वश से उत्पन्न बताया गया है।

परमार-वश को विभिन्न शाखाये आबू, बागड, जालोर और मालवा आदि प्रदेशा मे राज्य करती थी। इनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण शाखा मालवा की थी।

प्रारम्भिक राजा—इस वश के प्रारम्भिक राजा उपेन्द्र, वैरिसिह प्रथम सीयक प्रथम, वाक्पति प्रथम और वैरिसिह द्वितीय थे। इनके विषय में अधिक ऐतिहासिक ब्योरा नही मिलता। डा० गगूली प्रारम्भिक परमार-राजाओ को राष्ट्रकटो के अधीन मानते है।

सीयक द्वितीय—परमार-वश का यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण राजा था। सिहासन पर बैठने के समय यह राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण तृतीय के अधीन था।

इस समय सौराष्ट्र मे चालक्य-वशीय अवनिवर्मन् योगराज द्वितीय का राज्य था। सीयक द्वितीय न इसे पराजित किया।

पद्मगुप्त के नवसाहसाकचरित का कथन है कि सीयक द्वितीय ने हूण-स्त्रियो को विधवा कर दिया था।[1] यह हूण-राज्य मालवा के उत्तर-पश्चिम में था।

खजराहो अभिलेख का कथन है कि चन्देल-नरेश यशोवर्मन् ने मालवो को पराजित किया था। सम्भवत इस समय मालवा का राजा सीयक द्वितीय था। इस विजय के परिणाम-स्वरूप चन्देलो ने अपनी राज्य-सीमा मालव-नदी तक विस्तत कर ली। यह नदी सम्भवत बेतवा अथवा वेत्रवती थी।

राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण तृतीय ९६८ ई० में मर गया। सीयक द्वितीय ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया और राष्ट्रकूटो के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

---

१ हूणावरोध वैधव्यदीक्षादानम्।

कृष्ण तृतीय के पश्चात् उसका भाई खोट्टिग सिहासन पर बैठा। उसने सीयक द्वितीय को पुनः अपने अधीन करना चाहा। नर्मदा नदी के तट पर कलिघट्ट नामक स्थान पर दोनो के बीच ९७२ ई० में युद्ध हुआ। इस युद्ध का उल्लेख नागपुर अभिलेख में हुआ है। इस युद्ध में वागड का परमार-शाखा के नरेश कक ने सीयक की सहायता की। अन्त में सीयक विजयी हुआ। सीयक ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट को लूटा। इस विजय के परिणामस्वरूप परमार राज्य ताप्ती नदी तक विस्तृत हो गया।

मुंज (९७३-९९५)— लगभग ९७३ ई० में सीयक द्वितीय की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसका पुत्र मुंज परमार राज्य का अधिकारी बना। प्रबन्ध चिन्तामणि में मुंज के जन्म के विषय में एक मनोरंजक विवरण मिलता है। इसके अनुसार सीयक द्वितीय के कोई पुत्र न था। एक दिन उसे एक बालक मुंज घास पर पड़ा हुआ मिला। वह बालक को घर ले आया और उसे अपने पुत्र की भाँति पालपोस कर बड़ा किया। मुंज घास पर मिलने के कारण उसका नाम भी मुंज रक्खा गया।

मुंज के गोद लिये जाने के पश्चात् सीयक को अपनी रानी से एक अपना पुत्र हुआ। इसका नाम सिन्धुराज रक्खा गया। परन्तु सीयक मुंज से इतना प्रेम करता था कि उसने उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाया। मुंज इतिहास में वाक्पति और उत्पलराज के नाम से भी विख्यात है।

मुंज अपने समय का एक परमवीर और सुयोग्य राजा था। उसने अपने समय के अनेक राजवंशों से युद्ध किये और परमार राज्य को अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया।

हूणों पर विजय—अपने पिता की भाँति मुंज को भी हूण-मण्डल से युद्ध करना पड़ा। विक्रमादित्य पंचम के कौथेम दानपत्रों से प्रकट होता है कि मुंज ने हूणों को पराजित किया था।

गुहिलों पर विजय—गुहिल-वंश मेवाड़ में राज्य करता था। इस समय यहाँ शक्तिकुमार का राज्य था। ९९७ ई० के हस्तिकुण्डी अभिलेख से ज्ञात होता है कि मुंज ने अपनी गज-सेना की सहायता से गुहिलों की राजधानी आघाट पर आक्रमण किया और उसे लूटा। इस विजय के परिणामस्वरूप गुहिल-राज्य के कुछ भाग पर मुंज का अधिकार हो गया। शक्तिकुमार को हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट-नरेश धवल ने सहायता दी थी। सम्भव है कि इस सहायता से शक्तिकुमार ने अपने खोये हुए प्रदेश का कुछ भाग पुनः प्राप्त कर लिया हो।

कलचुरि- वंश से युद्ध—कलचुरि-वंश का राजा युवराज द्वितीय मुंज का समकालीन था। उदयपुर अभिलेख से प्रकट होता है कि मुंज ने इस पर आक्रमण किया और इसकी राजधानी त्रिपुरी पर अधिकार कर लिया। युद्ध में युवराज के अनेक सेनापति हताहत हुए।

चाहमानों से युद्ध—नाडोल में चाहमानों की एक शाखा राज्य करती थी। इस समय इनका राजा बलिराज था। मुंज ने इस पर आक्रमण करके इसे पराजित किया। इस विजय का उल्लेख कौथेम अभिलेख में भी हुआ है। इसका कथन है कि उत्पलराज (मुंज) के अभियान से चाहमानों की प्रजा भयभीत हो गई। इस विजय के परिणामस्वरूप मुंज ने आबू पर्वत तथा किराडु का निकटवर्ती प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। तत्पश्चात् उसने नाडोल पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसे इस कार्य में सफलता न मिली। सुन्धा अभिलेख में बलिराज द्वारा मुंज की सेना की पराजय का उल्लेख है।

गुजरात के चालुक्यों पर विजय—गुजरात में चालुक्य वंश का राजा मूलराज प्रथम का राज्य था। मुंज ने इस पर आक्रमण किया और इसे परास्त कर दिया। मूलराज ने मारवाड के मरुस्थल में सपरिवार शरण ली। बीजापुर अभिलेख से प्रकट होता है कि मुंज ने गुजर-नरेश की शक्ति नष्ट कर दी थी और उसकी सेना को हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट राजा धवल के राज्य में शरण लेनी पड़ी थी।

लाट पर विजय—उदयपुर अभिलेख का कथन है कि मुंज ने बारप्प को परास्त किया था। बारप्प कल्याणी की चालुक्य शाखा के राजा तैल द्वितीय का सेनापति था। यह लाट में शासन कर रहा था।

कल्याणी के चालुक्यों से युद्ध—कल्याणी की चालुक्य-शाखा का राजा तैल द्वितीय मुंज का कट्टर शत्रु था। मुंज ने उसे ६ बार परास्त किया था। जब वह सातवीं बार तैल पर आक्रमण करने के लिये चला तो उसके मन्त्री रुद्रादित्य ने उसे रोकने की चेष्टा की। परन्तु मुंज न माना। मुंज ने तैल के राज्य पर आक्रमण किया और उसके भीतर दूर तक घुसता चला गया। अब उसके मन्त्री रुद्रादित्य को अपने स्वामी के विनाश का पूर्वाभास हो गया और उसने अग्नि में जलकर आत्म-हत्या कर ली। उधर, मुंज को तैल ने घेर लिया और बन्दी बना लिया। कारा में मुंज का तैल की बहन मृणालवती से प्रेम हो गया। कुछ समय पश्चात् मृणालवती को जब यह ज्ञात हुआ कि मुंज कारा से निकल भागने की योजना बना रहा है तो उसने इसकी सूचना अपने भाई को दे दी। तैल ने मुंज को अनेक प्रकार से अपमानित कर उसकी हत्या करा दी। तैल और मुंज के युद्ध और मुंज की हत्या का उल्लेख अभिलेखों और आइन-ए-अकबरी में भी हुआ है।

मुंज अपने समय का एक पराक्रमी नरेश था। उसने परमार राज्य को संगठित किया और उसकी वृद्धि की। यह पूर्व में भिलसा तक, पश्चिम में साबरमती तक, उत्तर में झालावार की दक्षिणी सीमा तक और दक्षिण में ताप्ती नदी तक विस्तृत था।

मुंज योद्धा होने के साथ-साथ एक महाकवि और साहित्य तथा कला का आश्रय-

दाता था।[1] उदयपुर अभिलेख में उसकी विद्वता की प्रशंसा की गई है। पद्मगुप्त उसे सरस्वती का निवास बताता है।

प्रसिद्ध विद्वान् पद्मगुप्त उसकी सभा में रहता था। इसने नवसाहसांकचरित लिखा। इसके अन्य सभासदों में धनंजय और धनिक के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। धनंजय ने दशरूपक और धनिक ने यशोरूपावलोक की रचना की। मुंज के काल में ही हलायध, अमितगति और शोभन नामक विद्वान् हुए। इन्होंने अपनी रचनाओं से तत्कालीन साहित्य को समृद्ध किया।

मुंज निर्माण-कार्यों में भी बड़ी रुचि रखता था। उसने अनेक मन्दिरों और तडागों का निर्माण कराया। धारा को मुंजसागर आज भी विद्यमान है।

धर्मपुरी और उज्जैन के अभिलेखों से प्रकट होता है कि मुंज ने पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ और अमोघवर्ष की उपाधियाँ धारण की थीं। ये राष्ट्रकूट-उपाधियाँ थी जिन्हें मुंज ने अपना लिया था।

सिन्धुराज (९९५-१०००)—यह मुंज का छोटा भाई था। इसका सर्वप्रथम कार्य चालुक्य-नरेश द्वारा किये गये अपने भाई के पराभव का बदला लेना था। इसने तैल द्वितीय के पुत्र और उत्तराधिकारी सत्याश्रम पर आक्रमण किया और उसे पराजित करके अपने राज्य के खोये हुए प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया।

अपने भाई की भाँति इसे भी लाट और गुजरात से युद्ध करना पड़ा। लाट में इस समय चालुक्य बारप्प का उत्तराधिकारी गोगिराज राज्य कर रहा था। उसे सिन्धुराज ने पराजित कर दिया।

गुजरात में मूलराज प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी चामुण्डराज शासन कर रहा था। सिन्धुराज ने उस पर भी आक्रमण किया। परन्तु चामुण्डराज ने उसे पराजित कर दिया।

नवसाहसांकचरित का कथन है कि दक्षिण में एक नागवंशीय राजा था। उसके पड़ोस में ही असुर-नरेश वज्रांकुश राज्य करता था। वज्रांकुश से भयभीत होकर नागराज ने सिन्धुराज से सहायता माँगी। सिन्धुराज ने विद्याधरी की सहायता से वज्रांकुश पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। इस युद्ध के पश्चात् नागराज ने अपनी पुत्री शशिप्रभा का विवाह सिन्धुराज के साथ कर दिया।

विद्वानों ने नागराज का समीकरण बस्तर राज्य के नागवंशीय नरेश के साथ किया है। असुर-नरेश मध्य प्रदेश के वज्रराज्य (वैरगढ़) की अनार्य मान जाति का राजा था। विद्याधरों का समीकरण थाना के शिलाहारों के साथ किया गया है। इनका राजा अपराजित था।

---

1 Munja, was not only a great general and a great poet, but also a great patron of art and literature.

—Dr. D. C. Ganguly, AIK, p. 98

इस समय दक्षिणी कोसल में सोमवंश का राज्य था। सिन्धुराज्य ने इस पर भी आक्रमण किया और इसे पराजित किया। सिन्धुराज ने अपरान्त को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया।

उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सिन्धुराज ने हूणों से युद्ध किया और उन्हें पराजित किया।[1]

इसी समय वागड के सामन्त परमार चण्डप ने सिन्धुराज के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। परन्तु सिन्धुराज ने उसका दमन कर दिया और वागड को अपने अधीन बनाये रक्खा।

भोज (१०००-१०५५)—सिन्धुराज की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र भोज परमार-वंश का राजा हुआ। यह भारत के प्रसिद्ध राजाओं में गिना जाता है। इसने अपने समय के अनेक राजवंशों से युद्ध किया।

चालुक्यों से युद्ध—इस पीढ़ी में भी कल्याणी के चालुक्य-वंश और परमार-वंश के बीच युद्ध हुआ। मेहतुंग और भोजचरित से इस परम्परागत संघर्ष का प्रमाण मिलता है, यद्यपि इनके विवरण पूर्णरूप से ऐतिहासिक नहीं है। इनका कथन है कि भोज ने चालुक्य-नरेश तैल को परास्त करके बन्दी बना लिया और अन्त में उसका वध करा दिया। सर आर० जी० भण्डारकर का मत था कि चालुक्य-नरेश तैल नहीं वरन् उसका पौत्र विक्रमादित्य पंचम था। इसके विरुद्ध ओझा और गंगुली का मत है कि यह जयसिंह द्वितीय था। यही मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

भोज ने जयसिंह द्वितीय पर आक्रमण किया। कुलेनूर अभिलेख के मतानुसार इस आक्रमण में भोज को कलचुरि-नरेश गांगेयदेव और चोल-नरेश राजेन्द्र से सहायता प्राप्त हुई थी। तीनों की सम्मिलित सेनाओं ने जयसिंह को पराजित किया।[2]

परन्तु बेलगाँव अभिलेख से प्रकट होता है कि अन्त में जयसिंह ने आक्रमण-कारियों को भगा दिया और अपने खोये हुए प्रदेशों पर पुनः अधिकार कर लिया। इस कार्य में जयसिंह को अपने एक सामन्त वाचिराज से बड़ी सहायता मिली। एक अभिलेख का कथन है कि वाचिराज ने मालव्यों को पराजित किया था।[3]

इन्द्ररथ की पराजय—उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि भोज ने इन्द्ररथ नामक एक राजा को पराजित किया था। इस राजा का उल्लेख राजेन्द्र चोल के तिरुवलंगदु अभिलेख और तिरुमलाइ अभिलेख में भी हुआ है। डा० गंगूली के मतानुसार इन्द्ररथ कलिंग के गंगवंश के अधीन सामन्त शासक था।

---

1 तस्यानुजो निर्जितहूणराजः श्रीसिन्धुराजो विजयार्जितश्रीः। —कल्वन अभिलेख

2 कर्णाटलाटगूर्जरचेदयाधिपकोंकणेशप्रभृतिरिपुवर्गनिर्वारितजनितत्रास यशो- धवलति भुवनत्रयः श्रीभोजदेवः।

3 हैदराबाद आर्कि. सैराज, संख्या ८, पृ० २०, ५३७।

लाट-विजय—इस समय लाट में कीर्तिराज शासन कर रहा था। कल्वन अभिलेख और उदयपुर प्रशस्ति से सिद्ध होता है कि भोज ने कीर्तिराज को पराजित किया था और लाट पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

कोंकण-विजय—कोकण मे शिलाहार-वंशीय केशिदेव का राज्य था। भोज ने इसे परास्त कर अपने अधीन कर लिया।

मुसलमानों से युद्ध—१००८ ई० मे महमूद गजनवी ने भटिण्डा के शाही नरेश आनन्दपाल पर आक्रमण किया था। फरिश्ता के वर्णन से प्रकट होता है कि उज्जैन, ग्वालियर, कालंजर, कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के राजाओं ने आनन्दपाल की सहायता की थी। यहां उज्जैन के राजा से भोज का तात्पर्य है।

गर्दिजी के कथनानुसार महमूद जब १०२५ ई० मे सोमनाथ के मन्दिर को लूट कर गजनी वापस जा रहा था तो परमदेव के नेतृत्व में हिन्दुओं ने उस पर आक्रमण करने की योजना बनाई थी। श्री के० एम० मुंशी का मत है कि परमदेव भोज परमार था।[1]

फरिश्ता का कथन है कि १०४३ ई० में दिल्ली के राजा ने अन्य हिन्दू राजाओं के साथ मुसलमानों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की और उनसे हांसी, थानेश्वर, नगरकोट आदि छीन लिये। सम्भव है कि इस कार्य मे भोज ने भी सहयोग दिया था। कदाचित् इसी आधार पर उदयपुर प्रशस्ति का कथन है कि भोज ने तुरुष्कों को परास्त किया था।

कलचुरि-वंश से युद्ध—उदयपुर प्रशस्ति और कल्वन अभिलेख से ज्ञात होता है कि भोज ने त्रिपुरा के कलचुरि-नरेश गांगेयदेव पर आक्रमण किया और उसे परास्त किया। भोज की इस विजय की पुष्टि पारिजातमंजरी से भी होती है।[2]

चन्देलों से युद्ध—एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि भोजदेव और कलचुरि-चन्द्र कान्यकुब्ज-नरेश के विनाशक की शिष्यवत् आराधना करते थे।[3] हम जानते है कि कान्यकुब्ज-नरेश प्रतिहारवंशीय राज्यपाल का विनाश चन्देल-नरेश विद्याधर ने किया था। विद्याधर भोज परमार का समकालीन था। अतः स्पष्ट है कि अभिलेख में उल्लिखित भोजदेव भोज परमार ही था। सम्भवतः भोज ने बुन्देलखण्ड मे अपना राज्य-विस्तार करने का प्रयत्न किया था, परन्तु विद्याधर ने उसे पराजित कर दिया।

---

1 The Glory that was Gurjaradesa, Pt. III, pp. 130-40.

2 बल्मद्वाणजयलक्ष्मी विजयते निःशेष गोत्रांणकृत कृष्णः कृष्ण इवार्जुनोऽर्जुन इव श्रीभोजदेवो नृपः।

3 विहित कन्याकुब्जभूपालभंगम् समरपथमुपात्तप्रौढभीस्तस्यकालम् सह कलचुरिचन्द्रः शिष्यवद् भोजदेवः ।

कच्छपघात-वंश से युद्ध—ग्वालियर पर प्रतिहारों का अधिकार था। इसे चन्देल-नरेश धंग ने प्रतिहारों से छीन कर कच्छपघात-वंश के अपने सामन्त वज्रदामन् को दे दिया था। तब से ग्वालियर में कच्छपघात-वंश चन्देलों की अधीनता में शासन कर रहा था। भोज के समय ग्वालियर में कच्छपवंश के राजा कीर्तिराज का राज्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि भोज ने इस पर आक्रमण किया, परन्तु उसे सफलता न मिली। सासबाहु अभिलेख से प्रकट होता है कि कीर्तिराज ने मालव-सेना को परास्त कर दिया था।[1] यह अनुमान किया जा सकता है कि विद्याधर चन्देल ने अपने सामन्त की आक्रमणकारी के विरुद्ध सहायता दी थी।

कन्नौज पर आक्रमण—उदयपुर प्रशस्ति का कथन है कि भोज ने चेदिराज, इन्द्ररथ, तोग्गल-भीम, कर्नाटा, लाट-नरेश और तुरुष्कों के अतिरिक्त गुर्जर-नरेश को भी पराजित किया था। डा० गंगूली का मत है कि यहाँ गुर्जर-नरेश से कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार-नरेश का तात्पर्य है। यह सम्भवतः यशःपाल था। भोज ने इसे पराजित कर प्रतिहार-वंश का अंत कर दिया था। परन्तु कन्नौज पर भोज का अधिकार अधिक समय तक न रहा, क्योंकि उस पर कलचुरि-नरेश कर्ण ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

चाहमानों से युद्ध—भोज ने शाकम्भरी और नाडोल के चाहमानों से भी युद्ध किया। पृथ्वीराज विजय से ज्ञात होता है कि उसने शाकम्भरी के चाहमान-नरेश वीर्यराम से युद्ध किया और उसे मार डाला।

परन्तु भोज को नाडोल के चाहमान-नरेश अणहिल्ल के विरुद्ध सफलता न मिली। सुन्धा अभिलेख का कथन है कि अणहिल्ल ने परमार सेनापति साढ को पराजित किया और मार डाला।

गुहिलों का पराजय—मेवाड़ में गहिल-वंश राज्य करता था। मुंज ने इस वंश से चित्तौड़ छीन लिया था। विमलवसही अभिलेख से प्रकट होता है कि चित्तौड़ पर भोज का भी अधिकार रहा। चित्तौड़ में उसने त्रिभुवननारायण का मन्दिर बनवाया था।

गुजरात के चालुक्यों से संघर्ष—गुजरात के चालुक्य-वंशीय राजा चामुण्डराज ने सिन्धुराज को परास्त किया था। वह भोज का भी समकालीन था। एक बार चामुण्डराज वाराणसी की तीर्थयात्रा पर निकला और मालवा से गुजरा। भोज ने उसे रोक लिया और उसका अपमान करने के लिये उसके वस्त्राभूषण उतरवा लिये।

१०२२ में गुजरात के सिंहासन पर भीमदेव प्रथम बैठा। भोज ने इससे भी युद्ध किया। आबू में परमार-नरेश धन्धुक शासन करता था। भीम ने इसे अपने अधीन करना चाहा। आबू अभिलेख के कथनानुसार भीम ने आबू पर अधिकार कर लिया। धन्धुक ने भाग कर चित्तौड़ में भोज परमार की शरण ली।

---

१ इच्छो मालवभूमिपस्य समरे संख्यायतीतो जितः।

अब भोज ने गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड पर आक्रमण किया और भीम को पराजित कर उसे खूब लूटा।

कल्याणी के चालुक्यों से युद्ध—पहले कहा जा चुका है कि भोज ने कल्याणी के चालुक्य-नरेश जयसिंह द्वितीय से युद्ध किया था। जयसिंह के पश्चात् १०४३ में सोमेश्वर प्रथम गुजरात का राजा बना। इसने मालवा पर आक्रमण किया और भोज को पराजित कर उसकी राजधानी धारा पर अधिकार कर लिया।[1] परन्तु सोमेश्वर के लौट जाने के पश्चात् भोज ने अपने राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। फिर भी इस विजय के परिणामस्वरूप चालुक्य-वंश ने अपने राज्य की सीमा उत्तर में नागपुर तक विस्तृत कर ली।

सुदि अभिलेख से भी चालुक्यो की विजय का प्रमाण उपलब्ध होता है। इसके अनुसार चालुक्यो का एक सामन्त नागदेव भोजरूपी सर्प के लिये गरुड़ के समान था।[2] नगई अभिलेख का कथन है कि सोमेश्वर ने धारा और उज्जैन को जला दिया था।

भोज के विरुद्ध संघ—भोज एक-एक करके अनेक समकालीन राजवशों को पराजित कर चुका था। वह चारो ओर शत्रुओ से घिरा हुआ था। अतः गुजरात के चालुक्यों तथा त्रिपुरी के कलचुरियो ने उसके विरुद्ध एक सघ बनाया और सम्मिलितरूप से मालवा पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के नेता भीम प्रथम चालुक्य और कर्ण कलचुरि थे। इस समय तक भोज वृद्ध हो चुका था। फिर भी उसने शत्रुओ का सामना किया। मेरुतुग का कथन है कि अभी युद्ध चल ही रहा था कि भोज बीमार पडा और मर गया। उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारी जयसिंह ने शत्रुओं के सामने आत्म-समर्पण कर दिया और मालवा पर शत्रुओ का अधिकार हो गया।

भोज की पराजय के अन्य साक्ष्य भी मिलते हैं। कीर्ति-कौमदी का कथन है कि भीम ने भोज को पराजित किया। वडनगर प्रशस्ति का कथन है कि भीम ने धारा पर अधिकार कर लिया था।[3] मेरुतुग के विवरण से प्रकट होता है कि सम्मिलित सेनाओ की विजय के पश्चात् कर्ण ने सम्पूर्ण परमार-राज्य पर अधिकार कर लिया। भीम को केवल एक स्वर्ण-मन्दिर और शिव-प्रतिमा मिली।

भोज का व्यक्तित्व—भोज अपने समय का एक महान् सेनापति था। उसने कन्नौज से लेकर कर्नाट्-देश तक और कलचुरि-राज्य से लेकर चालुक्य-राज्य तक विस्तृत भूप्रदेश को अपने सैनिक अभियानों से आतंकित कर दिया था। अपनी

---

1 परमारपृथ्वीपतिकीर्तिधरां धारामुदारां कवलीचकार।
—विक्रमांकदेवचरित

2 भोजभुजंगाहि द्विषम्।

3 धारापंचकसाधनैकचतुरैस्तद्वाजिभिः साधिता क्षिप्रं मालवचक्रवर्तिनगरी धारेति को विस्मयः।

उन्नति की पराकाष्ठा पर उसके राज्य में मालवा, कोंकण, खानदेश, भिलसा, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, चित्तौड़ और गोदावरी घाटी का कुछ भाग सम्मिलित था। उसके पूर्व परमार-राज्य की राजधानी उज्जैन थी। परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि से प्रकट होता है कि भोज ने धारा को अपनी राजधानी बनाया।

भोज एक महान् निर्माता एवं कलाप्रेमी था। उसने धारा नगरी को बहुसंख्यक भवनो से अलकृत किया। उसने अपने नाम पर भोजपुर की स्थापना की। यहाँ उसने विशाल भोजसर का निर्माण कराया। किसी समय वह भारत का सबसे बड़ा सर समझा जाता था। आज भी यह परमारों के कला-चातुर्य का प्रमाण प्रस्तुत करता है।[1] उदयपुर प्रशस्ति का कथन है कि भोज ने केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, सुण्डोर, काल, अनल और रुद्र के बहुसख्यक मन्दिर बनवाकर ससार को अलकृत किया था।[2] अभाग्यवश आज ये मन्दिर विद्यमान नही है।

भोज एक उच्चकोटि का विद्वान् था। उदयपुर प्रशस्ति उसे 'कविराज' कहा गया है। वह काव्य, धर्म, दर्शन, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, कला, व्याकरण, राजनीति आदि का मर्मज्ञ था। उसके द्वारा लिखे गये ग्रन्थो में समरागण सूत्र-धार, सरस्वतीकण्ठाभरण, सिद्धान्तसग्रह, राजमार्तण्ड योगसूत्रवृत्ति, विद्याविनोद, युक्तिकल्पतरु, चारुचया, आदित्यप्रतापसिद्धान्त, आयुर्वेदसर्वस्व आदि उल्लेखनीय है। सम्भव है कि इनमे से कुछ ग्रन्थो को उसके आश्रित विद्वान् सभासदो ने लिखा हो।[3]

भोज विद्वानो का आश्रयदाता था। आईन-ए-अकबरी का कथन है कि वह विद्वान् का बडा सम्मान करता था और उसकी राजसभा मे ५०० विद्वान् रहते थे।[4] भोज-स

---

1 'The Bhojpur lake stands today as a testimony to the extent of the engineering skill and workmanship achieved by the people of Malwa under the magnificent rule of the Paramaras.' —D. C. Ganguly.

2 केदाररामेश्वरसोमनाथ सुण्डीर कालानलरुद्रसत्कैः सुराश्रयैर्व्याप्य च यः समन्तात् यथार्थसंज्ञां जगतीं चकार।

3 'Though much of this must have been largely written by the literary men living in his court, yet a king who had such wide sympathies and could inspire scholarship in so many varied fields of knowledge must ever remain a remarkable personality in the records of his time.'—Buhler

4 'Bhoja held wisdom in honour, the learned men were treated with distinction, and seekers after knowledge were encouraged by his support. Five hundred sages the most erudite of the age shone as the gathered wisdom of his court, and were entertained in a manner becoming their dignity and merit.'

चरित में भोज के समकालीन अनेक विद्वानों के नाम मिलते हैं। इनमें कालिदास का भी नाम आता है। सम्भव है कि यह महाकवि कालिदास से भिन्न कोई अन्य कालिदास रहा हो। अन्य विद्वानों में धनपाल और उवट के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम ने तिलकमञ्जरी और द्वितीय ने मन्त्रभाष्य की रचना की। भोज ने कवि त्रिविक्रम के पुत्र भास्कर भट्ट को 'विद्यापति' की उपाधि दी थी। स्वयं भोज की पत्नी अरुन्धती एक उत्कृष्ट विदुषी थी। विद्या के प्रसार के लिये भोज ने अनेक विद्यालयों का निर्माण किया था। धारा की वर्तमान कमलमौल मस्जिद प्रारम्भ में इसी प्रकार का एक विद्यालय था। इसकी दीवारों पर आज भी वर्णमाला और व्याकरणसम्बन्धी नियम उत्कीर्ण मिलते हैं। इस प्रकार भोज की ख्याति उसकी विद्वत्ता और विद्या-प्रेम पर अधिक आधारित है।[1]

भोज के उत्तराधिकारी—भोज की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र जयसिंह परमार सिंहासन पर बैठा। इसने कल्याणी के चालुक्य-वंश की सहायता से कर्ण और भीम को पराजित कर अपना राज्य पुन प्राप्त किया। परन्तु कुछ समय पश्चात कल्याणी के नये राजा सोमेश्वर द्वितीय और गुजरात के राजा कर्ण ने सम्मिलितरूप से मालवा पर आक्रमण किया। जयसिंह युद्ध करते हुए मारा गया और मालवा पर आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया।

परन्तु जयसिंह के उत्तराधिकारी उदयादित्य ने शाकम्भरी के चाहमान राजा विग्रहराज तृतीय की सहायता से सोमेश्वर द्वितीय और कर्ण को पराजित कर अपने राज्य को मुक्त कराया।

उदयादित्य के पश्चात् परमार वंश में अनेक राजा हुए। परन्तु उनमें कोई भी ऐसा न था जो भोजकालीन परमार वंश की कीर्ति की पुन स्थापना करता। शनै शनै परमार-वंश की अवनति होती गई और अन्त में वह विलुप्त हो गया।

परमारकालीन वैभव—परमार-वंश ने मुंज और भोज जैसे परम प्रतापी राजा उत्पन्न किये जिन्होंने अपनी-अपनी सामरिक सफलताओं से अपने वंश की कीर्ति स्थापित की।

योद्धा और विजेता होने के साथ साथ परमार-नरेश विद्याप्रेमी थे। उनमें से अनेक नरेशों ने अपनी कृतियों से संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाया। वे विद्वानों के आश्रयदाता थे। उसकी राजसभा तत्कालीन विद्वत्समाज के लिये महान आकर्षण की केन्द्र थी।

---

1 'Bhoja was a poet, scholar and a patron of learning Kingship and conquest were to him subsidiary activities, instruments wherewith to serve the goddess Sarasvati' —The Glory That was Gurjaradesa p. 22

परमार-नरेश महान् निर्माता एवं कलाप्रेमी थे। उन्होंने नवीन नगरों की स्थापना की नगरों को भवनों और मन्दिरों से सुशोभित किया तथा उनमें अनेक सर बनवाये।

नगर-स्थापना—मुंज के मुंजपुर की स्थापना की भोज ने धारा का पुर्नानिर्माण तथा भोजपुर नामक नगर का नव-निर्माण किया। उदयादित्य ने अपने नाम पर उदयपुर की स्थापना की। परमार-वंश के अन्य राजा देवपाल ने देपलपुर नामक नगर नगर बसाया।

सरों का निर्माण—परमार-नरेश सरोवरों के निर्माण में बड़ी अभिरुचि रखते थे। मुंज के मुंजपुर में मुंजसागर बनवाया। कल्हण के कथनानुसार भोज ने कश्मीर में कपोतेश्वर-कुण्ड बनवाया था। उसके द्वारा निर्मित सरोवर 'भोजसागर' अपने समय का सबसे बड़ा सर था। देवपाल ने देपलपुर में देपलसागर का निर्माण कराया।

मन्दिर-निर्माण—मुंज ने उज्जैन, माहेश्वर, धर्मपुरी आदि नगरों में भव्य मन्दिरों का निर्माण किया। उदयपुर प्रशस्ति का कथन है कि भोज ने केदारेश्वर रामेश्वर, सोमनाथ, काल, अनल और रुद्र के मन्दिरों का निर्माण कराया। १६ वी शताब्दी का एक अभिलेख उदयादित्य द्वारा निर्मित नीलकण्ठेश्वर-मन्दिर को भारत का सबसे सुन्दर मन्दिर बताता है।[1] फर्गसन ने इस मन्दिर की कलात्मकता की बड़ी प्रशंसा की है।[2] भोजपुर में भोज के नाम पर निर्मित भोजेश्वर मन्दिर है। यह शिव मन्दिर है और अपूर्ण अवस्था में होते हुए भी अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार परमार-काल में मोदी, नेमावर, मेहीदपुर, उन आदि स्थानों में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ।' इनमें से कुछ मन्दिर आज भी विद्यमान हैं। उनका चौबारा डेरा मन्दिर तथा नीलकण्ठेश्वर मन्दिर आज भी अपने पूर्व वैभव का स्मरण दिलाते हैं। मोदी का शिव मन्दिर भी किसी समय कला का उत्कृष्ण उदाहरण था। इस काल के बहुसख्यक मन्दिर मसलमानों ने तोड डाले और उनकी सामग्री से अपने मस्जिद बनवाये।

भोजशाला—भोज ने धारा में एक प्रसिद्ध विद्यालय की स्थापना की थी। इसे भोजशाला कहते हैं। मुसलमानों ने इसे तोड कर इसके स्थान पर एक मस्जिद का निर्माण किया जो आज कमलमौली मस्जिद के नाम से प्रख्यात है। इसकी

---

1 JASB, Vol. IX, p 548

2 'As every part of this temple is carved with great precision and delicacy and as the whole is quite perfect at the present day, there are few temples of its class which give a better idea of the style than this one'—Indian and Eastern Architecture, Vol.II. p. 147,

दीवारो पर सस्कृत वर्णमाला एव व्याकरण के नियम उत्कीर्ण है। इसी शाला के समीप एक सरस्वती-मन्दिर था जिसमें सरस्वती-देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई थी।

स्थापत्य—परमारकालीन स्थापत्य के भी कुछ उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इनमें भोज-काल में निर्मित सरस्वती की चर्तुभुजी मूर्ति विशेषरूप से उल्लेखनीय है। आज यह ब्रिटिश सग्रहालय में सुरक्षित है। दूसरी मूर्ति 'पाचाग्नि-साधना' करती हुई पार्वती की है। यह धारा मे प्राप्त हुई है।

साहित्य—परमार-काल मे साहित्य की भी बडी उन्नति हुई। अनेक परमार-नरेश स्वय बडे विद्वान् थे। उदयपुर प्रशस्ति में मज की विद्वत्ता की प्रशसा की गई है। पद्मगुप्त ने अपने नवसाहसाकचरित मे लिखा है कि विक्रमादित्य और सातवाहन की मृत्यु के पश्चात् सरस्वती ने मुज की शरण ली थी।[1] अभाग्यवश आज उसकी रचनाये उपलब्ध नही होती। परन्तु उसके ग्रन्थो के कुछ उदाहरण धनिक, क्षेमेन्द्र, आदि परवर्ती लेखको की रचनाओ मे सुरक्षित है।

मुज ने अपने समय के अनेक प्रख्यात विद्वानो को आश्रय दिया—

(१) पद्मगुप्त—यह मुज की राजसभा मे रहता था। इसे परिमल भी कहते है। इसने नवसाहसाकचरित लिखा।

(२) धनञ्जय—यह मुज का राजकवि था। इसने 'दशरूप' की रचना की।

(३) धनिक—यह मुज का महासाध्यपाल था। इसने 'दशरूपावलोक' रचना की। यह धनञ्जयकृत दशरूप पर टीका है।

(४) हलायुध—प्रारम्भ म यह राष्ट्रकूट-नरेश कृष्णराज तृतीय को राजसभा मे रहता था। वहाँ स यह मुज की सभा म आया था। इसने 'मृतसजीवनी' की रचना की। यह 'पिङ्गलछन्द सूत्र' पर टीका है।

(५) अमितगति—यह मुजकालीन मालवा का विद्वान् था। इसने सुभाषित-रत्नसदोहि, श्रावकाचार, द्वात्रिंशतिका और धर्मपरीक्षा नामक ग्रन्थ लिखे।'

परमार-नरेश भोज भारत के प्रसिद्ध विद्वानो मे गिना जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उसने अनेक ग्रन्थो की रचना की। वह काव्य, ज्योतिष, धर्म, दर्शन, राजनीति, व्याकरण, चिकित्सा-शास्त्र वस्तु आदि का ज्ञाता था। माधव, केशवार्क, क्षीरस्वामी, सायण आदि परकालीन विद्वानो ने उसका उल्लेख किया है।

कल्हण का कथन है कि वह कवियो का मित्र था। उसने अनेक विद्वानो को आश्रय दिया था। आईन-ए-अकबरी का कथन है कि उसकी सभा में ५०० कवि थे। इनमे धनपाल का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसने तिलकमजरी, ऋषभपचाशिका, पाइयलच्छी और चतुर्वशिका-टीका की रचना की। इसी समय उवट नामक विद्वान् हुआ। इसने वाजसनेय सहिता पर टीका लिखी जिसे 'मन्त्रभाष्य' कहते है। भोज के ही शासन-काल में सीता नामक कवियित्री हुई।

---

१ अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्तं सातवाहने
कविमित्रे विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती।

अध्याय २३

गुजरात का चौलुक्य-वंश

उत्पत्ति—साहित्य और अभिलेखो मे चौलक्यो को चालुक्य, चोलुक्य, चलुक्य, चालक्य अथवा चुलुक भी कहा गया है। इनमे सबसे अधिक प्रचलित शब्द चौलुक्य है।

पृथ्वीराजरासो के अनुसार चौलुक्य की उत्पत्ति आबू पर्वत पर किये गये वसिष्ठ के यज्ञ के अग्नि कुण्ड से हुई थी। परन्तु चौलक्य-वश के अभिलेख इस जनश्रुति की पुष्टि नही करते।

महाराष्ट्र के धारवाड जिले मे प्राप्त गोहाद नामक ग्राम मे वीरनारायण मन्दिर मे एक अभिलख मिला है। इसका कथन है कि चौलुक्य-वश की उत्पत्ति ब्रह्मा के पुत्र अत्रि से हुई और यह वश चन्द्रवशीय क्षत्रिय था।

चालुक्य-नरेश कुमारपाल की वडनगर प्रशस्ति का कथन है कि राक्षसो का सहार करने के लिय ब्रह्मा ने अपने चुलुक स एक वार को उत्पन्न किया जो चौलुक्य कहलाया। हमचन्द्र क द्वयाश्रयकाव्य स भा सिद्ध होता है कि चौलुक्य चन्द्रवशोय क्षत्रिय थे।

मूलराज प्रथम (९४२-९५)—गुजरात के चौलुक्य-राजवश का सस्थापक मूलराज प्रथम था। इसने अनेक समकालोन राजाओ से युद्ध किया।

प्रतिहार-वश—इस समय कन्नौज मे प्रतिहार-नरेश महोपाल शासन कर रहा था। सामन्त धरणिवाराह सौराष्ट्र म इसका गवर्नर था। मूलराज ने धरणि-वराह को पराजित करके सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया।

कच्छ पर अधिकार—मूलराज ने कच्छ पर आक्रमण किया और उसके राजा लाखा को मार कर कच्छ पर अधिकार कर लिया।

चाहमानो से युद्ध—शाकम्भरी मे चाहमान-नरेश विग्रहराज द्वितीय राज्य कर रहा था। इसने मूलराज पर आक्रमण किया और सारस्वत-मण्डल तथा लाट को पदाक्रान्त करता हुआ नर्मदा नदी तक पहुँच गया। हम्मीर महाकाव्य का उल्लेख है कि विग्रहराज ने मलराज को मार डाला था। परन्तु यह असत्य है। मूलराज ने भयभीत होकर विग्रहराज से सन्धि कर ली थी।

चालुक्यो से युद्ध—कल्याणी मे चालुक्य-वश के राजा तैल द्वितीय का राज्य था। उसके एक सामन्त बारप्प ने भी मूलराज पर आक्रमण किया, परन्तु उसे सफलता न मिली। युद्ध में वह मूलराज के पुत्र चामुण्डराज द्वारा मारा गया।

परमारों से युद्ध—मालवा के परमार-नरेश मुंज ने मूलराज पर आक्रमण किया और उसे पराजित किया। मूलराज ने परिवार सहित मारवाड़ के मरुस्थल में शरण ली और उसकी सेना ने हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट-नरेश धवल के राज्य में शरण ली। परन्तु कुछ समय पश्चात् मूलराज ने अपने राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया।

कलचुरियों से युद्ध—इस समय त्रिपुरी में कलचरि वंश का राज्य था। उसका राजा लक्ष्मणराज मूलराज का समकालीन था। लक्ष्मणराज ने मूलराज को पराजित किया।

चामुण्डराज (९९५-१००८)—लगभग ९९५ ई० में मूलराज ने सिंहासन छोड़ दिया और अपने पुत्र चामुण्डराज को राजा बनाया। इसके शासन-काल में भी चौलुक्यों की परमारों और कलचरियों से शत्रुता चलती रही। परमार-नरेश सिन्धुराजा ने गजरात पर आक्रमण किया। परन्तु चामण्डराज ने उसे भगा दिया। सिन्धुराज के पश्चात् मालवा में भोज का राज्य हुआ। उसके शासन-काल में चामण्डराज वाराणसी की तीर्थयात्रा के उद्देश्य से मालवा से होकर जा रहा था। भोज ने उसे रोक लिया और उसके वस्त्राभूषण उतरवा लिये।

कलचुरि-नरेश कोक्कल्ल द्वितीय ने गुजरात पर आक्रमण किया और चामुण्डराज को पराजित किया।

दुर्लभराज (१००८-२२)—चामण्डराज के पश्चात् उसका पुत्र दुर्लभराज राजा हुआ। नाडोल के चाहमान राजा महेन्द्र ने अपनी बहन का विवाह स्वयंवर-प्रथा के अनुसार दुर्लभराज के साथ कर दिया।

दुर्लभराज ने लाट-नरेश कीर्तिराज चालुक्य को परास्त किया।

भीमदेव प्रथम—१०२२ में दुर्लभराज ने सिंहासन त्याग दिया और अपने भतीजे भीमदेव प्रथम को राजा बनाया। इसके शासन की सर्वप्रथम घटना महमूद गजनवी का आक्रमण था। भीमदेव ने आक्रमणकारी का सामना न किया और राजधानी छोड़ कर भाग गया। महमूद ने सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ डाला।

कर्ण—१०६४ ई० में भीम ने सिंहासन छोड़ दिया और अपने पुत्र कर्ण को राजा बनाया। इसने १०९४ ई० तक राज्य किया। इसने कल्याणी-नरेश चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय की सहायता से मालवा पर आक्रमण किया और उसके राजा जयसिंह परमार को मार कर मालवा पर अधिकार कर लिया। परन्तु जयसिंह के उत्तराधिकारी उदयादित्य ने शाकम्भरी-नरेश विग्रहराज तृतीय की सहायता से कर्ण को पराजित कर मालवा पर पुनः अधिकार कर लिया।

जयसिंह सिद्धराज—कर्ण के पश्चात् १०९४ ई० में उसका पुत्र जयसिंह सिंहा-

सन पर बैठा। इसने 'सिद्धराज' की उपाधि धारण की। वह अपने समय का प्रसिद्ध योद्धा और कुशल शासक था।[1]

जिस समय जयसिंह सिंहासन पर बैठा उस समय वह अल्पवयस्क था। अतः उसने अपनी माता मयणल्लदेवी के संरक्षण में शासन करना प्रारम्भ किया।

नड्डुर के चाहमानों से युद्ध—नड्डुर के चाहमान-नरेश ओजल्ल ने जयसिंह पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी अन्हिलवाड पर अधिकार कर लिया परन्तु यह अधिकार अल्पकालीन सिद्ध हुआ, क्योंकि जयसिंह ने शीघ्र ही अपनी राजधानी पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया।

कुछ समय पश्चात् नड्डुर का चाहमान-वंश गृह-कलह से निर्बल हो गया। ओजल्ल के पश्चात् उसके भाई आशाराज और उसके भतीजे रत्नपाल में युद्ध हुआ। रत्नपाल ने नड्डुर पर अपना अधिकार जमा लिया। आशाराज के हाथ में बलि-प्रदेश (जोधपुर-प्रदेश) रह गया। चाहमानों की इस निर्बलता से लाभ उठाकर जयसिंह सिद्धराज ने आशाराज को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया।

परमारों से युद्ध—जयसिंह ने मालवा के परमार-नरेश नरवर्मन पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर बन्दी बना लिया। नरवर्मन के पुत्र और उत्तराधिकारी यशोवर्मन् के शासन-काल में भी परमार-चौलुक्य-संघर्ष चलता रहा। इसमें जयसिंह की पुनः विजय हुई और उसने यशोवर्मन को परास्त कर मालवा पर अधिकार कर लिया। मालवा-विजय के उपलक्ष में जयसिंह ने 'अवन्तिनाथ' की उपाधि धारण की। सम्भवतः यशोवर्मन् के पुत्र तथा उत्तराधिकारी जयवर्मन ने जयसिंह के अधिकार से मालवा मुक्त कराया।

शाकम्भरी के चाहमानों से युद्ध—इस समय शाकम्भरी में अर्णोराज चाहमान शासन कर रहा था। वह भी अपने समय का एक प्रसिद्ध तथा महत्त्वाकांक्षी राजा था। जैन ग्रन्थों से प्रकट होता है कि जयसिंह ने अर्णोराज को पराजित किया। कालान्तर मे दोनो पक्षों मे सन्धि हो गई और जयसिंह ने अपनी पुत्री कांचनदेवी का विवाह अर्णोराज के साथ कर दिया।

अन्य विजयें—जयसिंह ने चन्देल-नरेश मदनवर्मन को परास्त कर भिलसा छीन लिया। उसने आभीर-नरेश नवघन को भी पराजित किया और उसके सौराष्ट्र-राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

विद्याप्रेम—जयसिंह सिद्धराज विद्याप्रेमी एवं विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र रहता था। विद्या-प्रसार के लिये जयसिंह ने अनेक विद्यालयों की स्थापना की थी।

---

1 '...Jayasimha Siddharaja who succeeded Karna Chaulukya was one of the most ambitious and capable rulers of Anahillapattana'.
—Dasharatha Sharma

धर्म—जयसिंह सिद्धराज शैव था। इसने सिद्धपुर नामक नगर में रुद्रमहाकाल का एक मन्दिर बनवाया।

जयसिंह सिद्धराज ने ११४३ ई० तक राज्य किया।

कुमारपाल—जयसिंह के कोई पुत्र न था। अतः उसके पश्चात् उसका एक सम्बन्धी कुमारपाल राजा हुआ। कुमारपाल का प्रपितामह क्षेमराज बकुलादेवी नामक एक नर्तकी से उत्पन्न हुआ था। इस कलंक के कारण जयसिंह कुमारपाल से घृणा करता था और उसे अपना उत्तराधिकारी न बनाना चाहता था। कुमारपालचरित का कथन है कि जयसिंह कुमारपाल की सपरिवार हत्या करना चाहता था, परन्तु कुमारपाल किसी प्रकार बच कर भाग गया। उसने अनेक वर्ष अज्ञातवास में व्यतीत किये। इसी अज्ञातवास में कुमारपाल हेमचन्द्र नामक प्रसिद्ध जैनाचार्य से मिला। जैन ग्रन्थों से प्रकट होता है कि हेमचन्द्र ने कुमारपाल को राज्य प्राप्त करने में बड़ी सहायता दी।

जयसिंह ने अपने मन्त्री उदयन के पुत्र बाहड़ को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। परन्तु जयसिंह की मृत्यु पर कुमारपाल ने स्वयं राज्य पर अधिकार कर लिया। बाहड़ को राज्य छोड़ कर भागना पड़ा।

प्रबन्धचिन्तामणि से प्रकट होता है कि सिंहासनासीन होने के समय कुमारपाल की अवस्था ५० वर्ष की थी। उसने ११४३ ई० से ११७१ ई० तक राज्य किया।

इसी ग्रन्थ का कथन है कि सिंहासन पर बैठने के कुछ समय पश्चात् ही अनेक मन्त्रियों एवं सामन्तों ने कुमारपाल की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा। कुमारपाल को इसका पता चल गया और उसने सभी षड्यन्त्रकारियों की हत्या करा दी।

अर्णोराज से युद्ध—बाहड़ ने भाग कर शाकम्भरी के चाहमान राजा अर्णोराज की शरण ली थी। अर्णोराज ने मालवा-नरेश बल्लाल की सहायता से कुमारपाल पर आक्रमण किया। भीषण युद्ध में कुमारपाल के धनुष से छूटा हुआ एक बाण अर्णोराज के लगा जिससे आहत होकर वह गिर पड़ा। इस प्रकार कुमारपाल की विजय हुई। अर्णोराज ने अपनी पुत्री का विवाह कुमारपाल से कर दिया।

बल्लाल से युद्ध—वसन्तविलास, कीर्तिकौमुदी आदि ग्रन्थों से प्रकट होता है कि कुमारपाल ने मालवा-नरेश बल्लाल से भी युद्ध किया था और उसे परास्त किया था। बल्लाल युद्ध में मारा गया था। भावनगर, वडनगर आदि शिलालेखों से भी इस कथन की पुष्टि होती है। इस विजय के परिणामस्वरूप मालवा पर कुमारपाल का अधिकार हो गया।

परमारों से युद्ध—कुमारपालचरित का कथन है कि जिस समय कुमारपाल और अर्णोराज का युद्ध हो रहा था उसी समय चन्द्रावती के राजा विक्रमसिंह परमार ने कुमारपाल के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कुमारपाल ने उस पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर बन्दी बना लिया। तत्पश्चात् कुमारपाल चन्द्रावती-प्रदेश में यशोधवल को शासक नियुक्त किया।

मल्लिकार्जुन से युद्ध—इस समय कोंकण में मल्लिकार्जुन नामक राजा शासन करता था। कुमारपाल चरित के अनुसार प्रथम युद्ध में मल्लिकार्जुन ने कुमारपाल के सेनापति आम्बड को पराजित कर दिया। यह समाचार पाकर कुमारपाल ने अपने सेनापति की सहायता के लिये दूसरी सेना भेजी। इस बार आम्बड की विजय हुई और युद्ध में उसने मल्लिकार्जुन का शीश काट दिया। आबू की तेजपाल प्रशस्ति के अनुसार इस युद्ध में चन्द्रावती के राजा यशोधवल ने कुमारपाल की सहायता की थी। इस विजय के परिणामस्वरूप कोंकण कुमारपाल के अधीन हो गया।

सौराष्ट्र पर आक्रमण—सौराष्ट्र में सुम्बर नामक राजा सिंहासनासीन था। प्रबन्धचिन्तामणि का कथन है कि कुमारपाल के महामात्य उदयन ने सौराष्ट्र पर आक्रमण किया। युद्ध में उदयन घायल हो गया और शिविर में लाया गया। वहाँ उसकी मृत्यु हो गई। कुमारपालचरित से ज्ञात होता है कि कुछ समय पश्चात् कुमारपाल सुम्बर को पराजित करने में सफल हुआ। उसने सुम्बर के स्थान पर उसके पुत्र को सिंहासन पर बैठाया। सुन्धा अभिलेख से प्रकट होता है कि इस अभियान में कुमारपाल को नाडोल के चाहमान राजा आह्लादन से सहायता मिली थी।

राज्य-विस्तार—इस प्रकार अनेक विजयों के द्वारा कुमारपाल ने अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। महावीरचरित के वर्णन से प्रकट होता है कि कुमारपाल का राज्य उत्तर में तुरुष्क-देश तक, दक्षिण में विन्ध्याचल तक, पूर्व में गंगा नदी तक और पश्चिम में सिन्धु नदी तक था। मेरुतुंग का कथन है कि कर्णाट, गर्जर, लाट, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु, मालवा, कीर, कोंकण, जागलक, सपादलक्ष, मेवाड और जालन्धर के प्रदेश कुमारपाल की आज्ञा का पालन करते थे। इन कथनों पर अक्षरशः विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि उसका राज्य चित्तौड से नर्मदा तक और काठियावाड से भिलसा तक विस्तृत था।

धर्म—आचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव में कुमारपाल जैन हो गया था। जैन धर्म के प्रचार में भी उसने बडा कार्य किया। जैन ग्रन्थों से प्रकट होता है कि उसने अपने राज्य में जीव-हिंसा पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

११७१ ई० में कुमारपाल की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् कुछ अन्य राजाओं ने गुजरात में शासन किया, परन्तु वे अधिक शक्तिशाली न थे। ११९७ में कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी अन्हिलवाड को खूब लूटा।

अध्याय २४

पल्लव चालुक्य-संघर्ष

पल्लव वंश—सातवाहन-वंश के पतन के पश्चात् कांची में पल्लव-वंश का उदय हुआ। इसकी उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है—

(१) दुब्रिया महोदय का मत है कि महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के पहलव मन्त्री सुविशाख ने कांची के पल्लव-वंश की स्थापना की थी अतः पल्लव-वंश पह्लव जातीय है।

राइस महोदय भी पल्लवों की उत्पत्ति पह्लवों से मानते हैं। कांची के एक मन्दिर में पल्लवराज नन्दिवर्मन् द्वितीय की मूर्ति शीश पर राजमुकुट धारण कर रहा है। यह राजमुकुट गजशीश की आकृति का है। इस प्रकार का मुकुट धारण करते हुए इण्डो-यूनानी शासक डेमेट्रिअस का चित्र भी उसकी मुद्राओं पर मिलता है।

पुनश्च 'पल्लव' और 'पह्लव' शब्दों में कुछ समता दिखाई देती है। इसे भी दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने का आधार बनाया जाता है।

परन्तु इस मत को स्वीकार करना कठिन है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पल्लव-वंश की स्थापना सुविशाख पह्लव ने की थी। नन्दिवर्मन् और डेमेट्रिअस के गजशीश एक से हो सकते हैं, परन्तु एकमात्र इसी आधार पर नन्दि-वर्मन् को विदेशी मान लेना न्यायमुक्त नहीं है। पल्लवों के किसी भी लेख में 'पह्लवों' का उल्लेख नहीं है। पल्लवों के आचार-विचार पूर्णरूपेण भारतीय हैं। उन्होंने भारतीयों की भाँति ही अश्वमेध यज्ञ किये।

(२) डा० जायसवाल के मतानुसार प्रवरसेन वाकाटक के एक पुत्र ने पल्लव-वंश की स्थापना की थी। उस दशा में पल्लवों को ब्राह्मण होना चाहिए था, क्योंकि वाकाटक ब्राह्मण थे। परन्तु तालगुण्ड अभिलेख के अनुसार पल्लव क्षत्रिय थे।

(३) मुदालियर जा० रसनयगम का मत है कि पल्लवों की उत्पत्ति चोलों और नागों के सम्मिश्रण से हुई थी। इनके अनुसार लंका-नरेश किल्लिवलवन चोल ने मनोपल्लवम् की नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था। इनकी सन्तान 'मनीपल्लवम्' के आधार पर 'पल्लव' कहलाई।

(४) कृष्णस्वामी आयंगर का मत है कि पल्लवों का उदय 'टोण्डमण्डलम्' प्रदेश में हुआ था। 'पल्लव' शब्द 'टोण्डैयर' का ही रूपान्तर है।

पल्लव-वंश ने लगभग २७५ ई० से ८९७ ई० तक राज्य किया। इस वंश का सर्वप्रथम राजा शिवस्कन्दवर्मन् था। पल्लव-नरेश विष्णुगोप समुद्रगुप्त का समका-

कालीन था। इसका उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में हुआ है। सिंहविष्णु नामक पल्लव-नरेश की राजसभा में संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित भारवि रहता था। इसने 'किरातार्जुनीय' की रचना की। इसके पश्चात् इसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम राजा हुआ। इसी के समय से पल्लव-चालुक्य-संघर्ष प्रारम्भ हुआ जो अनेक पीढ़ियों तक चलता रहा। पल्लव-वंश का अन्तिम राजा अपराजित था। यह चोल-नरेश आदित्य प्रथम द्वारा पराजित हुआ और मार डाला गया। इसी के साथ पल्लव-वंश का अन्त हो गया और पल्लव-राज्य चोल-राज्य में मिला लिया गया।

चालुक्य-वंश—चालुक्य-वंश की तीन शाखाओं ने पृथक्-पृथक् बादामि कल्याणी और वेंगी में राज्य किया। इन तीनों शाखाओं का शासन-काल क्रमश: ५५० से ७५०, ९५० से ११०० और ६०० से १२०० के बीच रखा जाता है।

चालुक्यों की जाति के विषय में भी मतभेद है—

(१) डा० भण्डारकर चालुक्यों को विदेशी गुर्जरों की सन्तान बताते है।

(२) डा० स्मिथ इन्हें विदेशी चपों की सन्तान मानते हैं।

(३) डा० रायचौधरी का मत है कि चालुक्यों को शूलिक मानना चाहिए। शूलिकों का वर्णन बृहत्संहिता में आता है।

(४) डा० दिनेशचन्द्र सरकार इन्हें कनड़ मानते हैं।

(५) बिल्हण के विक्रमादित्यचरित में कहा गया है कि ब्रह्मा के चलुक से उत्पन्न होने के कारण ये चालुक्य कहलाये।

(६) पृथ्वीराजरासो में वसिष्ठ के यज्ञ का वर्णन है। उसी की अग्नि से चालुक्य की उत्पत्ति हुई थी।

(७) अभिलेखों में चालुक्यों को चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहा गया है।

बादामि की चालुक्य-शाखा का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण राजा पुलकेशी प्रथम था। इसी के वंशज पुलकेशी द्वितीय (६०९-४२) के समय से पल्लव चालुक्य-संघर्ष प्रारम्भ हुआ जो दीर्घकाल तक चला।

पल्लव-चालुक्य-संघर्ष—सिंहविष्णु के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम पल्लव-राज्य का राजा बना। इसने ६०० से ६३० तक राज्य किया। यह बड़ा प्रतिभाशाली राजा था।

इसी समय चालुक्य-वंश में पुलकेशी द्वितीय का राज्य था। इसने अपने समय के अनेक राजाओं को परास्त किया। इसकी सबसे बड़ी विजय उत्तरी भारत के सम्राट् हर्ष के विरुद्ध थी। ६३४ ई० के ऐहोल अभिलेख में इस विजय का वर्णन है।

अत: निश्चित था कि दक्षिणी भारत के इन दो महत्वाकांक्षी राजाओं—महेन्द्रवर्मन् प्रथम और पुलकेशी द्वितीय—के बीच युद्ध होता। पुलकेशी ने महेन्द्रवर्मन् प्रथम पर आक्रमण किया और उत्तरी प्रदेशों पर अधिकार करता हुआ पुल्ललूर

तक घुस गया। तत्पश्चात् उसने कांची पर आक्रमण किया। यहाँ महेन्द्रवर्मन् ने उसके सारे प्रयत्न विफल कर दिये और वह कांची पर अधिकार न कर सका। फिर भी उसने पल्लवों के उत्तरी प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया। यहाँ उसने अपने भाई विष्णुवर्धन् को शासक बनाया। इसी विष्णुवर्धन ने वेंगी की चालुक्य-शाखा की स्थापना की। ६३० ई० के लोहनेर अभिलेख में पुलकेशी को पूर्वी और पश्चिमी समद्रों का अधिपति बताया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसने ६३० ई० के पूर्व ही महेन्द्रवर्मन् को हराया होगा।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम पल्लव-वश में राजा हुआ। इसने ६३० से ६६८ तक राज्य किया। पुलकेशी ने इस पर भी आक्रमण किया। नरसिंहवर्मा को लका के राजकुमार मानवर्मा से बडी सहायता मिली। इस बार पुलकेशी पराजित हुआ। अब नरसिंहवर्मा ने उसकी राजधानी बादामि पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिये। पुलकेशी यद्ध करते हुए मारा गया। नरसिंहवर्मन् ने इस विजय के उपलक्ष में 'वातापिकोंड' की उपाधि धारण की।

पुलकेशी की पराजय और मृत्य से चालक्य-राज्य में बडी अस्थिरता आ गई। उसके अनेक सामन्तो ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। पुलकेशी के पुत्रों में सिंहासन के लिये गृह-यद्ध छिड गया।

दीर्घकालीन अशान्ति और अस्थिरता के पश्चात् पुलकेशी का पुत्र विक्रमादित्य प्रथम स्थिति सँभालने में सफल हुआ। इसने ६५५ से ६८१ तक राज्य किया। इसने अपने नाना गग-नरेश दुर्विनीत की सहायता से नरसिंहगवर्मन् को हराकर अपनी राजधानी को पल्लवो से मक्त कराया।

नरसिंहवर्मन् के पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन् द्वितीय (६६८-७०) से भी विक्रमादित्य प्रथम का यद्ध हुआ। इस यद्ध में विक्रमादित्य की विजय हुई।

महेन्द्रवर्मन् द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन् प्रथम पल्लव वश का राजा हुआ। इसने ६७० ई० से ६६५ ई० तक राज्य किया। इस पर चालक्य-नरेश विक्रमादित्य प्रथम और उसके मित्र पाण्डय-नरेश अरिकेसरी परांकुश मारवर्मन् प्रथम ने सम्मिलित रूप से आक्रमण किया। उन्होने परमेश्वरवर्मन् को परास्त कर उसकी राजधानी काची पर अधिकार कर लिया। परमेश्वरवर्मन् ने दूसरा मोर्चा खोलते हुए एक सेना भेज कर चालक्य-राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस चाल का अभीष्ट परिणाम हुआ। इस सेना ने चालुक्य-सेना को परास्त किया। इधर परमेश्वरवर्मन् ने पेरुवलनल्लूर के युद्ध में विक्रमादित्य को पराजित कर अपनी राजधानी का उद्धार कराया।

परमेश्वरवर्मन् प्रथम के पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय के शासन-काल (६६५-७२२) में तो शान्ति रही. परन्तु जब उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन् द्वितीय (७२२-७३०) सिंहासन पर बैठा तो पल्लव-चालुक्य-यद्ध फिर भड़क उठा। इस समय चालुक्य-

अब में विजयादित्य (६९६-७३३) का राज्य था। विजयादित्य के पुत्र युवराज विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लव-राजधानी काची पर आक्रमण कर दिया और गग-राजकुमार एरेयप्प की सहायता से परमेश्वरवर्मन् द्वितीय को पराजित किया। अब परमेश्वरवर्मन् ने चालुक्यो के सहायक गग-नरेश श्रीपुरुष पर आक्रमण किया। इस युद्ध में श्रीपुरुष की विजय हुई और परमेश्वरवर्मन् द्वितीय मारा गया।

अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् विक्रमादित्य द्वितीय राजा हुआ। इसने ७३४ से ७४५ तक शासन किया। इसका समकालीन पल्लव-नरेश नन्दिवर्मन् द्वितीय (७३०-८००) था। इन दोनो ने वशीय शत्रुता जारी रक्खी। विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। अपनी विजय के उपलक्ष मे उसने काची मे खूब धन बाँटा और मन्दिरो को दान किये। इसके पश्चात् वह अपने राज्य म लौट आया। काची के राजसिहेश्वर मन्दिर मे विक्रमादित्य की इस विजय का एक अभिलेख आज भी सुरक्षित है।

कुछ समय पश्चात् विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र एव यवराज कीर्तिवर्मन् द्वितीय ने काची पर फिर आक्रमण किया और पल्लवो को पराजित किया। परन्तु काची से प्रचुर सम्पत्ति लूट कर वह अपनी राजधानी वापस चला गया।

नन्दिवर्मन् द्वितीय ने चालुक्यो के मित्र गग-नरेश श्रीपुरुष पर आक्रमण किया और उसे परास्त किया।

इस दीर्घकालीन युद्ध ने पल्लवो और चालुक्यो को नितान्त निर्बल बना दिया। वे चोलो और राष्ट्रकूटो की बढती हुई शक्ति का सामना न कर सके। अन्तिम पल्लव-नरेश अपराजित ८९७ ई० मे चोल-नरेश आदित्य प्रथम द्वारा मारा गया। इसके साथ ही पल्लव-राज्य का विलोप हो गया। उधर चालुक्य-नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय (७४६-५७) के विरुद्ध उसके शक्तिशाली सामन्त दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। दन्तिदुर्ग के पश्चात् उसका चाचा कृष्ण प्रथम (७५८-७३) राजा हुआ। इसने कीर्तिवर्मन् द्वितीय को पराजित किया। इसके पश्चात् चालुक्य-वश का भी पतन हो गया।

पल्लवकालीन साहित्य—पल्लव-काल में साहित्य की भी बडी उन्नति हुई। अनेक पल्लव-नरेश स्वय विद्वान् थे। उन्होने अनेक विद्वानो को अपनी सभा में आश्रय दिया। कुछ विद्वानो के मतानुसार सिंहविष्णु की राजसभा में सस्कृत का महाकवि भारवि रहता था जिसने किरातार्जुनीय की रचना की। महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने दो प्रसिद्ध प्रहसन लिखे—मत्तविलास और भगवदज्जुक। इनमें कापालिको और बौद्ध भिक्षुओ का उपहास किया गया है। नरसिंहवर्मन् प्रथम की राजसभा में मे सस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् दण्डिन् रहता था। इस ने दशकुमारचरित और काव्यादर्श की रचना की।

इस समय कांची विश्वविद्यालय भारत का प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। वात्स्यायन तथा दिङ्नाग भी इस विश्वविद्यालय में रहे थे। कांची के समीप ही एक मण्डप था। उसमें १०८ परिवार वेद-पाठ करते थे। पल्लवों के अधिकांश अभिलेख] संस्कृत में हैं। उनके शासन-काल में संस्कृत भाषा की बड़ी उन्नति हुई।

इस काल में तामिल भाषा की भी बड़ी उन्नति हुई। लगभग ५०० ई० में तिरुवल्लुवर ने 'कुरल' की रचना की। इसके विषय 'अरम' (नीति), 'पोरुल' (अर्थ) और 'कामम्' (प्रणय) है।

पल्लवकालीन कला—पल्लव-काल अपनी कला की गरिमा के लिये प्रसिद्ध है।[1] प्रारम्भ में इस कला पर काष्ठ-कला और कन्दरा-कला का प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु जैसे-जैसे कलाकारों का अनुभव बढ़ता गया वैसे ही वैसे वे इस प्रभाव से मुक्त होते गये।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम के शासन-काल मे पहाड़ियो को काट कर मण्डप बनाये गये। इनकी योजना सरल है। इनके आगे स्तम्भो से निर्मित प्रवेश द्वार हैं और इनकी पीछे की दीवार मे एक अथवा दो कक्ष हैं। इनके सबसे अधिक विकसित उदाहरण उन्दवल्लि और भैरवकोंड में प्राप्त होते हैं। उन्दवल्लि का अनन्तशयन मन्दिर चार मंजिल का मण्डप है। इसकी ऊँचाई ५० फीट है। भैरवकोंड के मन्दिर म स्तम्भ के अधोभाग और शीर्षभाग में सिंह-मूर्ति स्थापित करने की प्रथा का सूत्र-पात हुआ।

मद्रास के मामल्लपुरम् नगर में अनेक एक प्रस्तरीय मन्दिर बनाये गये। इन्हें रथ कहते हैं। पहाड़ी पर बने हुए इन रथो की सख्या १० है। इनमें से कुछ के स्तम्भ बड़े ही कलात्मक हैं। कलाकारो ने पहाड़ी को काट-काटकर बड़े सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किये हैं। 'पंच पाण्डव' मण्डप में गोवर्धन-धारी कृष्ण का दृश्य बड़ा दिव्य है। इसी प्रकार 'महिष' मण्डप में महिषासुर का वध करते हुए दुर्गा देवी का दृश्य बड़ा ओजपूर्ण है। ९० फीट लम्बे और २३ फीट ऊँचे पर्वत-खण्ड पर 'गंगावतरण' का दृश्य बड़े सजीवरूप में उत्कीर्ण किया गया है। इसी के समीप एक मन्दिर में शिव खड़े हैं। उनके समक्ष क्षीण-गात्र भगीरथ तपस्या में लीन है।

कालान्तर में अधिक विकसित मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय 'समुद्र तटीय मन्दिर' (Shoe Temple) है। वह लगभग समुद्र को छूता हुआ खड़ा है। इसका गर्भ-गृह भी समुद्र की ओर है। इसके चारो ओर एक

---

1 'Their architecture and Sculpture constitute a most brillant chapter in the history of South Indian art'
—K.A. Nilakanta Sastri, A History of South India p. 445.

सुदृढ़ प्राचीर है और इसका प्रवेश-द्वार पश्चिम की ओर है। यह अपने अलंकरण के लिये प्रसिद्ध हैं।

कांची का कैलासनाथ मन्दिर 'समकालीन मन्दिर' की अपेक्षा अधिक विकसित है। इसमें गर्भ-गृह, शिखर, मण्डप और अर्धमण्डप मिलते हैं। इसका शिखर पिरेमिड के आकार का है। इसके चारों ओर एक प्रांगण है जो एक चहारदीवारी से घिरा है। डा० नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार यह मन्दिर पल्लव-शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।[1] इसी शैली पर बना हुआ कांची का बैकुण्ठपेरुमाल मन्दिर है। यह कैलासनाथ मन्दिर की अपेक्षा अधिक विकसित है।

---

1. "All the main features of the Pallava style are assembled together in this temple in a very fascinating way."

—Ibid p. 450

परिशिष्ट

गुप्त-कला

गप्तकाल में कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्तकालीन कला कृतियों ने भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को अमर बना दिया है।[1] रोलैंड बेन्जामिन ने गुप्तकला की प्रशंसा में लिखा है—"Seldom in the history of peoples do we find a period in which the national genius is so fully and typically expressed in all the arts as in Gupta India. Here was fluorescence and fulfilment after a long period of gradual development, a like sophistication and complete assurance in expression in music, literature, the drama and the plastic arts."[2] गुप्तकालीन ब्राह्मण एवं बौद्धकला में भारत की राष्ट्रीय उत्कर्षशील संस्कृति एवं सार्वभौम कल्पनाओं की अभिव्यक्ति हुई। यह कला संवेदनशील, धर्म-निरपेक्ष एवं सगणवादी थी, साथ ही सार्वभौम चेतना की अभिव्यक्ति भी इसमें हुई। क्लासिकल संस्कृत काव्य के सन्तुलन और लय मे निहित स्वच्छता और सौष्ठव बद्ध, शिव और विष्णु की मूर्तियो तथा देवदूतों और नदी-देवियों के निरूपण में भी निहित है। कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' मे उपस्थित भावुक प्रकृति-प्रेम गुप्तकालीन मूर्तिकला के कल्पलता मोटिफ की कोमल जालीदार नक्काशी तथा अजन्ता भित्तिचित्रो के बहुरंगी-सघन बनो, पुष्पित वृक्षो, राजसी हाथियो के झुण्डो और फड़कते हिरणों के श्रेष्ठ अंकन मे भी उपस्थित है। अश्वघोष, कालिदास और भारवि के धीरोदात्त नायक-नायिकाओं की लक्षणाओ और विविध कल्पनाओ मे रूपाकारों की आध्यात्मिक भव्यता और विविधता गुप्तकालीन मन्दिरों की देवी-देवताओं की मूर्तियों मे भी उपस्थित है। इस काल की एक विशेषता यह भी है कि परिष्कृत और अमूर्त प्रकारों के नायक-नायिकाओं और उनके अंतरंग सहचरो के सृजन में काव्य और चित्रकला परस्पर प्रेरणा ग्रहण करते थे। इस प्रकार गुप्तकालीन भारतीय क्लासिक-प्रवृत्ति के कारण काव्य, नाटक, चित्रकला और मूर्तिकला मे समान रूप से सौंदर्य, सन्तुलन और अनुपात का प्रवेश हुआ।[3] मौर्यकला के पश्चात भारतीय कला का रूप शुंग-

---

1. 'The glories of the Gupta age proper have been made permanent, through the visible creations of its art.'—Dr. V. S. Agrawal.

2. Benjamin, Rolland—"The Art and Architecture of India," pp. 129-30.

3. Mukerjee R. K.—"The Culture and Art of India", pp. 234-35.

सातवाहन काल तथा परवर्तीकाल में जो था, वही विकसित होकर गुप्तकला के रूप का संवरण किया। वह कला एकाएक प्रस्फुटित नहीं हुई वरन् कालान्तर में पूर्णता प्राप्त करके हमारे सम्मुख आई है।[1]

गुप्त-कला स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला इत्यादि के रूप में हमारे सम्मुख आती है, किन्तु गहराई तक विचार करने के पश्चात् एक ही इकाई के रूप में इनका विकास हुआ है। हम सबसे प्रथम मुख्य स्थापत्य कला तत्पश्चात् मूर्तिकला एव, चित्रकला का वर्णन करेंगे।[2]

1. "Although the evolution between the Kushan art of Mathura and the works of the Ganges basin in the following period took place gradually without too abrupt a change, the two arts are nevertheless sharply divided. The Buddhas and Bodhisattvas of the first centuries of our era are still only represented as vigorous young men, conforming thus to Indian tradition in art and literature. Their rounded, gently smiling faces and wide eyes are somewhat lacking in expression, but after the end of the fourth century the painters and sculptor had learned to magnify the figures and to give them an ideal character. In this way they suggested the supernatural aspect not only of the Buddha but of all the Buddhist, Hindu and Jainist pantheon. Imitation of nature was no longer the principal aim. As it becomes more a creation of the mind and a reflection of thought the Buddha image begins to conform to a canon which governs both proportion and detail. The inherent nature of Indian art was expressed during the sophisticated Gupta period with a balance and moderation that have rarely been equalled."—(Madeleine Hallade, 'The Gandhara style and the evolution of Buddhist Art,' p. 194, Col I.)

2. 'All the arts are now so much a part of a single unified expression that a completely separate treatment would be not only difficult but misleading. we find it best, therefore, to deal with this interrelated material by discussing first the chief architectural monuments by location and types, together with their plastic ornament, if it is still in situ, free-standing cult images and separate pieces of typical carving; and finally, painting.'—(Rolt and Benjamin, 'The Art and Architecture of India,' p. 130.

स्थापत्य-कला

पश्चिमी भारत में गुहा-स्थापत्य की हीनयान परम्परा का, महायान बौद्ध धर्म के प्रभाव में—पाँचवी शती से पुनरुत्थान हुआ; जिसके फलस्वरूप सातवीं शती के मध्य तक बौद्ध चैत्यमण्डप तथा विहार बनाए गए। वास्तुगत परिवर्तन विशेष नहीं हुआ, चैत्य मण्डप तथा विहार दो तरह की पारम्परिक रचनाएँ ही बनीं। बुद्ध की मूर्ति के निर्माण के कारण शैलीगत प्रयोग में अन्तर आया। चैत्यघर का स्वरूप, नाभि (बीच का मण्डप), पार्श्व वीथियाँ, वृत्तायत आकार, स्तूप तथा गजपृष्ठाकार छत पूर्ववत् ही है किन्तु विहार के विन्यास तथा उपयोग दोनों में महान् परिवर्तन हुआ जो महायान विहार को हीनयान विहार से एकदम अलग करता है। स्तूपपूजा से मूर्तिपूजा के परिवर्तन के कारण विहार के प्रकोष्ठों के निवेश में अन्तर आ गया, जिसने विहार को रहने का मठ तथा पूजास्थल दोनों होना सम्भव किया। साथ ही उस तरह के ब्राह्मणधर्मी मन्दिरों का प्रभाव भी इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी था।

अजंता में गुफा-भवनों की श्रेणी तिहाई मील तक अर्द्ध-चन्द्राकार पहाड़ी में ऐसे रमणीय स्थान पर काटी गई हैं, जिसके नीचे झरने का स्वच्छ जल बहता है। ये पश्चिम से पूर्व तक १ से २६ तक गिनी गई हैं। इनमें ६ एवं १० चैत्यघर तथा अन्य विहार है। इनमें ६, १० चैत्यघर तथा ८, १२ एवं १३ विहार हीनयान युगीन हैं। महायान कालीन गुफाएँ कालक्रम से निम्न प्रकार रखी जा सकती हैं :—

(१) ११, ७, ६ संख्यक (४५०-५०० ई०)
(२) १५, १६, १७, १८, २० एवं चैत्यघर १९ (५५० ई० के लगभग)
(३) २१ से २५ एवं चैत्यघर २६ (५५०-६०० ई०)
(४) १ से ५ (६००-६२५ ई०)
(५) २६ एवं २७ (६२५-४२ ई०)

अजंता का १९ संख्यक चैत्यघर पहले का तथा अत्यन्त उत्कृष्ट है। आकार में यह ४६'—२४' कार्ली के चैत्यघर से छोटा है। इसका अग्रभाग अति भव्य है। इसका चैत्य-वातायन अत्यन्त विशाल तथा अलंकृत पच्चीकारी युक्त है। एक ही प्रवेश द्वार होने से प्रकाश की कमी है और सामने स्तम्भों वाला अर्द्धमण्डप भी है। भीतरी भाग नाभि तथा पार्श्वरथ्यों से १५ स्तम्भों की श्रेणी से विभक्त है। वे ११' ऊँचे, आधार में सादे, चौकोर और ऊपर चलकर अष्टास्र या गोल हैं। भीतरी भाग भी खूब अलंकृत है। गुम्बद जैसी छत में धरनें पत्थर में ही काट दी गई हैं। गोल भाग के मध्य में स्तूप है, जिसके आकार में बहुत परिवर्तन हो चुका है। वह लम्बा होकर मन्दिर की भाँति है; अण्ड का स्वरूप पतला है तथा आधार बहुत ऊँचा है। तोरण के नीचे खड़ी बुद्ध प्रतिमा तथा अन्य ऊपर अनेक मूर्तियाँ हैं। ऊपर तेहरा छत्र है जो ऊँचा चला गया है।

दूसरा स्तूप भवन २६ संख्यक लगभग ५० वर्ष बाद बना तथा अपेक्षाकृत बड़ा

हैं किन्तु विन्यास तथा आकार पूर्ववत् ही ६७'×३६' एवं ३१' ऊँचा है। मुख्यद्वार के दो स्तम्भों के अतिरिक्त १२' ऊँचे २६ स्तम्भ हैं। दीवार तथा पार्श्वों में विशाल-काय प्रतिमाएँ हैं। स्तूप का तोरण भी खूब उत्कीर्ण है। स्तूप में सिंहासन पर बैठे [illegible] की मूर्ति है। यह अपनी मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है जो अधिक संख्या में हैं। बाहर की ओर से यह बहुत कुछ नष्ट हो गया है। इन पिछले चैत्यमण्डपों में न केवल लकड़ी का प्रयोग छोड़ा जा चुका है, बल्कि प्रस्तर में अनुकरण भी समाप्त-प्राय हो चुका है। हाँ, चैत्य, गवाक्ष तथा धरन के निर्माण में अवश्य उसके अवशेष हैं, किन्तु उनका काष्ठ स्वरूप महत्व खो चुका है।

अजंता के ११, ७ एव ६ संख्यक विहारों से पूर्ववास्तु के सूत्रों को फिर से पकड़ा गया। यद्यपि ये मूल हीनयान विहार प्रकारों से भिन्न हैं किन्तु अब भी मण्डप में स्तम्भों के विन्यास में लकड़ी के नमूनों से प्रेरणा लेते दिखते हैं। संख्या ११ में चार स्तम्भों पर टिका एक वर्गाकार मण्डप मध्य में है। सातवें में अगल-बगल दो ओर वैसे अलिन्द निकले हुए बने हैं। छठे में बीच के चार स्तम्भों के अतिरिक्त उनके चारो ओर स्तम्भों की एक श्रेणी और बढ़ा दी गई है। ऊपरी मंजिल में मानों आगे के नमूने का विकास प्राप्त कर लिया गया है। जिसमें केवल चारों ओर की स्तम्भपंक्ति ही है। छठे विहार की निचली मंजिल में कई अन्य बातें ध्यान देने योग्य हैं। लगभग ५४' के वर्गाकार मण्डप के भीतर बहुत सादे, आधारहीन और जरा-सा उठे शीर्ष वाले १६ स्तम्भों का एक समूह है। लगता है कि इसके बाहरी भाग में एक वरण्डा था जो नष्ट हो गया तो द्वार को फिर से सुधारा गया था।

लगभग इसी नमूने पर आगे के विहार कम या अधिक रूढ़ शैली में बने, यद्यपि बाद के समूहों का विस्तृत अंकन उन्हें एक दूसरे से भिन्न करता है। बचे हुए विहारों में बढ़िया बने तथा अच्छी दशा में विद्यमान १६, १७, १ एवं २ हैं। पहले दो का काल छठी शती का प्रारंभिक काल है तथा अन्य दो लगभग एक शती बाद बनी होंगी। ये अपने उत्कृष्ट शिल्प तथा चित्रकला के लिए भी प्रसिद्ध हैं। सोलह संख्यक विहार ६५' वर्गाकार मण्डप है जिसमें चारो ओर २० स्तम्भों की पंक्ति है। पिछले किनारे पर एक कक्ष में बुद्ध की मूर्ति है। सामने पाँच स्तम्भों पर टिका बरण्डा है। भीतर बराण्डे में अन्दर की ओर १४ कक्ष हैं। मुख्य प्रकोष्ठ के पीछे भी दो अन्य कक्ष है। सत्रह संख्यक विहार भी इसी नमूने की रचना है। चित्रों के अतिरिक्त ये विहार अपने स्तम्भों के लिए महत्वपूर्ण है। प्रत्येक एक दूसरे से भिन्न है। सोलहवीं गुफा के स्तम्भों का स्वरूप धारेदार तथा गोल शीर्षक युक्त है। सत्रहवीं गुफा में वे ऊपर नीचे वर्गाकार तथा बीच में नालीदार हैं। उसके ब्रैकेट बैठे हुए अधोमुख बौनों के है। एक तथा दो संख्यक विहार भी लगभग उसी आकार के वैसे ही बने है। उसके स्तम्भ रुचिपूर्वक अलंकृत हैं तथा धरमुख कई सुन्दर शिल्प-पट्टियों से युक्त है। भीतरी भाग भी इसी प्रकार शिल्प के वैभव से प्रभावशाली है। गुफा दो वैसी ही अलंकृत है किन्तु अपने स्वरूप की सफाई में बढ़ी-चढ़ी है। प्रो० शिशिर कुमार सरस्वती ने इनके विषय में लिखा है,

"These two caves, which should be dated about A.D. 600 on account of their architectural style, indicate that the rich heritage of Gupta art, already on the decline in Northern India as a result of the disruption of the Gupta empire, was still yielding good harvest in the Deccan.' गुफा १ तथा २ के बाद या समकालीन निर्मित गुफाएँ प्रायः अधूरी हैं। इनमें ४ तथा २४ उल्लेख्य हैं और यदि ये पूर्ण हुई होती तो कदाचित सबसे अच्छी होतीं।

स्थापत्य के क्षेत्र मे सबसे महत्त्वपूर्ण जागरण हिन्दू मन्दिरो का निर्माण था। गुप्त-काल तक आते-आते हिन्दुओ ने निर्गुण और निराकार ईश्वर की उपासना के स्थान पर सगुण और साकार ईश्वरोपासना को अधिक लोक-प्रिय बना दिया था। इस समय तक अवतारवाद का सिद्धान्त समाज मे खूब अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो गया था। गुप्तकालीन साहित्यकारों ने पुराणों के नवीन सस्करण निकालकर अवतारवाद को पहले से कही अधिक मनोरंजक बना दिया था। साकार पूजा और अवतारवाद ने मूर्तियो का निर्माण कराया। गुप्तकाल के पूर्व मूर्तियों की स्थापना बहुधा मन्दिरों मे न होती थी। परन्तु गुप्तकाल में मूर्तियों की स्थापना के लिए मन्दिरों का विकास किया गया।

गुप्तकालीन मन्दिरो मे प्रायः ४ शती से ७ वी शती के अर्द्धभाग तक बने मन्दिर आते हैं, जिनका मुख्यतः उत्तरी भारत से सम्बन्ध रहा। गुप्तकाल मे हिन्दू मन्दिर के प्रायः सभी महत्वपूर्ण अगो का विकास हुआ। गर्भगृह उसका सबसे महत्वपूर्ण अंग था। गर्भगृह एक चौकोर प्रकोष्ठ था, जिसमे केवल एक प्रवेश द्वार होता था। भीतरी दीवार सादी होती थी। इसके भीतर देवता की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती थी। स्तम्भो पर टिका हुआ सामने एक मण्डप होता था, जिसे मुखमण्डप कहा गया है। परवर्ती काल में इन अगो का विकसित रूप हम खजुराहो आदि के मन्दिरो मे पाते हैं। मन्दिर का द्वार बड़े श्रम और उत्साह से शिल्पियो द्वारा उत्कीर्ण और सज्जित होता था। गुप्त मन्दिरों में कदाचित सबसे पुराना उदयगिरि मन्दिर समूह है, जहाँ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनका आधा भाग गुफा में काट कर बना है और दूसरा भाग पत्थरों से बना है। यहाँ ऐसे ।९ मन्दिर हैं, जिनमें 'अमृत-गुफा' (सख्या ९) सबसे विकसित ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त अन्य मुख्य मन्दिरों का कालक्रम प्रायः यो रखा जाता है—साँची, तिगवा, भूमरा, नचना-कुथरा, देवगढ़ एवं भीतर गाँव। इनमें एक दूसरे के बाद क्रमिक विकास स्पष्टता देखने को मिलता है। विकास की दृष्टि से प्रथम चार मन्दिरों के समूह को पूर्वकाल तथा उसके बाद के मन्दिरों को उत्तरकालीन नाम दे सकते हैं।

पूर्वकाल के मन्दिरो में छत का स्वरूप सपाट है। अभी तक शिखर की कोई कल्पना नही थी। इस काल के अन्य भिलसा, खोह, एरण, गढ़वा तथा ललितपुर

आदि के मन्दिरों की भी यही दशा थी जिनका स्वरूप अब नष्ट हो चुका है। दक्षिण के समकालीन ऐहोल के कई मन्दिरों की भी यही कथा है। लाडखाँ और अन्य कई मन्दिरों में शिखर का आरोप कालान्तर में किया गया। गुप्त मन्दिरों में शिखर का विकास देवगढ़ और भीतरगाँव में हो जाता है। नचना (पार्वती मन्दिर) तथा लाडखाँ मन्दिरों के गर्भगृह के ऊपर एक बहुत छोटा कक्ष है जो मन्दिर के उत्सेध को बढ़ाता है। उत्तरी भारत में ऐसे मन्दिर नहीं मिलते जिनकी छतें गजपृष्ठाकृति हों किन्तु दक्षिण के इस ढंग के शीर्षहीन मन्दिर, और ऊपरी मंजिल, इन दो का मिश्रित विकास शिखर के रूप में हुआ। शिलालेख की साक्षी से शिखर पाँचवी शती के पूर्व तक अस्तित्व में आ चुका था। शिखरयुक्त मन्दिर का सर्वोत्कृष्ट गुप्तकालीन देवगढ़ का दशावतार मन्दिर है। दूसरा उदाहरण भीतरगाँव का ईंटों का मन्दिर है। देवगढ़ का मन्दिर प्रस्तर निर्मित है। गर्भगृह की दीवालों पर बने ताखों (रथिकाओं) से उठता हुआ तिकोना शिखर ऊपर पतला होता गया है। भीतरगाँव का गर्भगह भद्रों या कोणों वाला है। उसके खाँचे शिखर के ऊपर तक ले जाए गए थे किन्तु अब वह गिरी दशा हैं। प्रायः सभी गुप्त मन्दिर एक बड़ी जगती या अधिष्ठान पर निर्मित है। जगती की ऊँचाई न अधिक है, न कम; प्रायः उसे आनुपातिक रखा गया है।

अध्ययन की दृष्टि से गुप्तकालीन निर्मित मन्दिर के दो भाग मुख्य हैं—(१) गर्भगृह, (२) उसके आगे का मण्डप। यह मण्डप प्रारम्भिक मन्दिरों की विशेषता है। इसी से परवर्तीकाल मे महामण्डप, अर्द्धमण्डप, मण्डप आदि जैसे भागों का विकास हुआ। इन मन्दिरों मे, गर्भगृह मे प्रवेश करने का मुख्यद्वार एक विशेष प्रकार का है। गुप्त मन्दिर का विशिष्ट द्वार इस प्रकार है—द्वार के सिरदल के ठीक मध्य मे बने ललाट-बिम्ब पर मन्दिर के मुख्य देव की मूर्ति बनाई जाती थी। इसके द्वारा गर्भगृह की मूर्ति के अभाव मे देवता की पहचान करने मे अनेक बार सहायता मिलती है। उसके नीचे द्वार के अगल-बगल द्वार शाखाएं हैं। प्रत्येक द्वार शाखा की चौड़ाई मे उसके तीन भाग होते है जिनके निचले भाग मे तीन तरह के अलकरण बने होते हैं वे प्रायः प्रतिहार, गंगा-यमुना (एक ओर गंगा दूसरी ओर यमुना), प्रथम आदि हैं और उनके ऊपर शख,पद्म की आकृतियाँ,बेल-बूटे बने मिलते है। प्रारम्भ के मन्दिरों के द्वार में उनके ऊपर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ बनी मिलती है, किन्तु बाद मे वे द्वार के निचले भाग मे आ गई हैं। इन मन्दिरों के स्तम्भ विशिष्ट शैली के हैं। नीचे उनका आधार चौकोर होता है फिर मध्य में उसके कई और कोण हो जाते हैं और ऊपरी भाग में प्रायः १६ मुखी होते हैं किन्तु इनका शीर्ष घड़े जैसा गोल अलंकृत है। इसके अतिरिक्त इन मन्दिरों में आले या छोटी खिड़की का अलंकरण इतना अपनाया गया है कि वह उनकी विशेषता हो गया है। जगती पर चारों ओर आले हैं। गुप्तकालीन मन्दिर प्रारम्भिक होते हुए भी एक निश्चित विकास की ओर अग्रसर है। उनमें शैलीपरक दोनों प्रकार के विकास का पूरा चित्र मिलता है।

प्रो० शिशिर कुमार सरस्वती ने गुप्तकालीन मन्दिरों को पाँच समूहों में, विकास-क्रम की दृष्टि से विभक्त किया है—[1]

(१) सपाट छत वाला वर्गाकार गर्भगृह, सम्मुख एक मण्डप। इसमें साँची मन्दिर संख्या १७, तिगवा एवं एरण के मन्दिर प्रमुख रूप से आते हैं।

(२) सपाट छत वाला वर्गाकार गर्भगृह, सम्मुख एक मण्डप तथा चतुर्दिक साच्छादित प्रदक्षिणापथ कभी-कभी ऊपर द्वितीय छत इसमें नचना-कुथरा का पार्वती मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर, लाउखाँ, कोन्तगुडी एवं मेगुती मन्दिर ऐहोल के आते हैं।

(३) वर्गाकार मन्दिर पीढ़ा आकार का छत या ऊपर शिखर। इसमें देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, नचना-कुथरा का महादेव मन्दिर, पठारी का महादेव मन्दिर, भीतरगाँव का ईंटों का मन्दिर, बोधगया का महाबोधि, दुर्ग एवं हुच्चीमल्लिगुडी मन्दिर ऐहोल के आते हैं।

(४) वृत्तायत प्रकार का मन्दिर, गजपृष्ठाकृति छत। इसमें शोलापुर जिले में स्थित तेर का मन्दिर तथा कृष्णा जिले के चेजरला स्थित कपोतेश्वर मन्दिर आते हैं।

(५) वृत्ताकार मन्दिर, किंचित् चारों ओर चतुर्विन्दु पर मोड़ युक्त। इसमें राजगिर स्थित मनियार मठ (मनी नाग का मन्दिर) का मन्दिर आता है।

कृष्णदेव ने भी लगभग इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है। यहाँ पर किंचित प्रमुख मन्दिरों, जैसे साँची मन्दिर संख्या १७, तिगवा का मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर, नचना का पार्वती मन्दिर देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, भीतरगाँव का मन्दिर, तथा ऐहोल के लाउखाँ, कोन्तगुडी मेगुती, दुर्ग एवं हुच्चीमल्लिगुडी, के विषय में वर्णन करके ही मन्दिर-स्थापत्य की कहानी समाप्त कर रहा हूँ।

साँची मन्दिर संख्या १७—कनिंघम ने साँची मन्दिर को सबसे पुराना बतलाया है। यह प्रारम्भिक गुप्त मन्दिर परम्परा में महत्वपूर्ण है। इसमें एक वर्गाकार गर्भगृह है। इसकी छत सपाट है। शिखर नहीं है। गर्भगृह के सम्मुख एक छोटा सा मुखमण्डप स्तम्भों पर टिका है। चार स्तम्भ हैं जिनमें दो-दो स्तम्भ सिरे पर हैं तथा बीच में अन्तर अधिक है। स्तम्भ उत्कीर्ण हैं, शीर्ष भाग पर सिंह एक दूसरे से पीठ मिलाए अंकित हैं। बौद्ध प्रभाव से प्रभावित अशोकीय स्तम्भ के अनुकरण पर स्तम्भों का निर्माण हुआ है।[2] इसमें कोई प्रदक्षिणापथ नहीं है। मन्दिर के जगत की ऊँचाई लगभग ३ फीट है जिसमें कोई मोड़ नहीं है वरन् सादी है। गर्भगृह की बाहरी दीवाल पर कोई रथिका नहीं है।

---

1. The classical Age, page 501.
2. In Sanchi the design of the pillars are in the Buddhist tradition descended from Asoka's bell and lion monoliths.—Percy Brown—'Indian Architecture', p. 48.

तिगवा का अभिलेख—यह मध्यप्रदेश में है। कनिंघम का मत था कि पहले इस स्थान पर ३६ मन्दिर थे। एक की छत चपटी थी और दूसरे की छत पर शिखर था। तिगवा का कंकाली देवी का विष्णु-मन्दिर उल्लेखनीय है। इसका भी गर्भगृह वर्गाकार है और सम्मुख स्तम्भों पर टिका मुख-मण्डप है। इसमें भी चार स्तम्भ हैं। स्तम्भ में नीचे सादा चौकोर भाग है, उसके ऊपर कई भागों का अलंकृत भाग है। शीर्ष पर कलश का रूप दृष्टिगत होता है, सबसे ऊपर सिंहों वाला फलक दृष्टिगत होता है जोकि एक दूसरे से पीठ मिलाए हुए तथा आगे बैठे हुए हैं। गर्भ-गृह का द्वार भी अलंकृत है। द्वार के ऊपरी शाखा पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ अपने वाहन मकर एवं कूर्म पर अवस्थित मिलती हैं।

भूमरा का शिव मन्दिर—यह नागोद राज्य में है। यह मन्दिर ३५ फीट लम्बे एक वर्गाकार चबूतरे पर बना हुआ था। गर्भगृह भीतर से ८ फीट एवं बाहर से १५½ फीट वर्गाकार है। इसके चारों ओर आच्छादित प्रदक्षिणापथ है। गर्भगृह का छत लम्बी-लम्बी पत्थर की पटियों से ढका है। गर्भगृह के भीतर उत्कीर्ण एक मुखी शिव लिंग है। इसमें शिव रत्न जटित मुकुट पहने दिखाए गए हैं। उनकी जटाओं के बीच में अर्द्ध-चन्द्र है और ललाट पर तृतीय नेत्र है। गर्भगृह के सम्मुख एक मण्डप है, इसका बाहरी भाग चैत्यमुख से अलंकृत है जिनमें गणेश, ब्रह्मा, यम, कुबेर, कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मनुष्य, पशु एवं पुष्पालंकरण युक्त चैत्य गवाक्ष है। इस प्रकार के चैत्य गवाक्ष नचना-कुथरा, अजन्ता गुहा-द्वार एवं महा-बलीपुर के रथ पर प्राप्त होते हैं।

इसका सबसे सुन्दर भाग इसका द्वार है। इसमें दो द्वार-शाखा एवं एक शीर्ष पट्टी है। द्वार शाखा गंगा-यमुना नदी देवियों से अलंकृत है। यमुना अपने वाहन कच्छप पर दाएँ एवं गंगा मकर पर बाएँ स्थित हैं। शाखा पर तीन पट्टियाँ हैं। भीतर की ओर प्रथम पट्टी में ज्यामितिक डिजाइन, द्वितीय पट्टी में नृत्य-मुद्रा में दम्पत्ति तीन जोड़े प्रत्येक ओर तथा तृतीय पट्टी में पत्र-लता (कमल कलियाँ) का अंकन हुआ है। वराह मिहिर के अनुसार द्वार शाखा श्रीवृक्ष से अलंकृत होना चाहिए। द्वार शाखा पर वर्धमान एवं श्रीवृक्ष का अंकन हुआ है। ललाट बिम्ब पर जटा-धारी शिव की मूर्ति उत्कीर्ण है। छत की प्रस्तर पटियाँ अत्यधिक सुन्दर हैं इन पर पत्र-लता, लता के मध्य यक्ष तथा कहीं पर रेखाचित्र अंकित हैं। अजन्ता की भाँति ही भूमरा का छत अलंकृत है।

नचना-कुथरा का पार्वती मन्दिर—यह अजयगढ़ राज्य में है। इस मन्दिर की बनावट भूमरा के समान है किन्तु अलंकरण की दृष्टि से न्यून कोटि का है। यह मन्दिर अधिक सुरक्षित है। यह दो तल्ल का है। यहाँ पर एक दूसरा मन्दिर भी है, जो कि शिव मन्दिर है। बर्जी के अनुसार पार्वती मन्दिर पहले का है और दूसरा सातवीं शती का है।

देवगढ़ का दशावतार मन्दिर—सर्वप्रथम कनिंघम महोदय ने निश्चित किया कि देवगढ़ का मन्दिर विष्णु की प्रतिमा स्थापित करने के लिए बनाया गया था। यह मन्दिर प्रारम्भिक गुप्तयुग के भागवत सम्प्रदाय की प्रवृत्तियों का सफल तथा सजीव चित्रण करता है। अग्निपुराण के प्रारम्भिक अध्यायों में विष्णु के दसों अवतारों की विशद व्याख्या प्राप्त होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पञ्चराम का साम्य है। इस मन्दिर की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) मन्दिर का निर्माण एक जगती-पीठ पर हुआ है।

(२) इस पर जाने के लिए चारो दिशाओं मे चार सोपान मालाएँ हैं। निम्नतम सोपान एक बड़ी 'चन्द्रशिला' का रूप ले लेती है। इस प्रकार की चन्द्रशिला का दर्शन हमें लंका के अनुराधापुर-स्तूप के सोपानो मे मिलता है। इस मन्दिर के चारो कोनो पर चार हिन्दू देवताओं के मन्दिर बने थे, जिनका ज्ञान हमें भूस्तर से होता है। उक्त चारो देवताओं के मन्दिर अब नष्ट हो चुके हैं किन्तु भूस्तरीय योजना से स्पष्ट हो जाता है कि यह मन्दिर पञ्चायतन परम्परा का था।

(३) ऊंची-जगती का एक अन्य विशेषता था, जो कि तत्कालीन बौद्ध स्तूपों के निर्माण मे देखा जाता है। जगती का चित्रण विभिन्न प्रकार के धार्मिक दृश्यो से होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध स्तूपो के चारो ओर की वेदिका का विकास कालान्तर में मन्दिर की जगती के रूप मे समाहित हो गया।

(४) जगती पर दो पंक्तियो मे उमड़ी डिजाइनों का प्रदर्शन था। एक पंक्ति २' ६" चौड़ी तथा दूसरा १५" चौड़ी थी। जिस प्रकार बौद्ध-स्तूपो पर बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक दृश्य चित्रित थे, ठीक उसी प्रकार इस मन्दिर पर भी विष्ण के विभिन्न अवतारों से सम्बन्धित दृश्य प्रदर्शित किए गए थे। ऊपरी पंक्ति, जो अपेक्षाकृत कम चौड़ा है, विशेष रूप से रामायण की कथा के दृश्यो से भरी है।

(५) मुख्य मन्दिर भी अपेक्षाकृत छोटा है, जोकि जगती के मध्य मे अवस्थित है। गर्भगृह का द्वार पश्चिम की ओर है। द्वार उत्कीर्ण है।

(६) गर्भगृह की वाह्य भित्तियो के तीन ओर विशिष्ट तथा मनोरम डिजाइनों से अलंकृत रथिकाओ (Niches) में विष्णु से सम्बन्धित दृश्य प्रदर्शित किए गए हैं—

(१) गजेन्द्रमोक्ष
(२) शेषशायी विष्णु
(३) नरनारायण-तपश्चर्या

(७) देवगढ़ मन्दिर की अन्य विशेषता है, इस मन्दिर का शिखर। यह निश्चित रूप से प्रारम्भिक सपाट छत से विकसित होकर इस अवस्था में पहुँचा था।

इस मन्दिर के भग्न होने के कारण, वास्तविक रूप का अभिज्ञान साधारण रूप से नहीं हो पाता है। किन्तु इसके पार्श्व स्तम्भ पर अंकित मन्दिर का सूक्ष्म चित्रण,

मौलिक मन्दिर की आकृति को प्रदर्शित करने में, समर्थ होता है। उक्त चित्र से स्पष्ट हो जाता है कि मौलिक रूप में मन्दिर तीन भूमि का था। इसके चारो कोनों पर चार आमलक थे। शिखर के विशाल आमलक पर कलश प्रतिष्ठित था। प्रत्येक भूमि के चारो पार्श्वों पर चार चैत्य गवाक्ष थे। वास्तव में इस मन्दिर का शिखर पीढ़ाओं के एक दूसरे पर रख कर बनने वाला शिखर था, इसे 'पीढ़ा शिखर' की संज्ञा देना अधिक समीचीन होगा। यह शिखर पिरामिड की आकृति का था। गर्भ-गृह के प्रत्येक पार्श्व पर सबसे अधिक निचला भाग 'भद्र' का था, जो प्रत्येक पार्श्व मध्य में अवस्थित था। यह भद्र का भाग शिखर तक चला गया था। इस पर एक चौड़ी तथा गहरी रथिका थी जो कि अत्यन्त अलंकृत थी। यह भद्र का भाग आधार से लेकर शिखर के उच्च भाग तक चैत्य गवाक्षों के रूपों से अलंकृत था। इस प्रकार के शिखर की परम्परा गुप्त युग की एक मान्य परम्परा थी, जिसका विकास परवर्ती काल मे 'कर्मिलिनियर' रूप में हुआ।

द्वार—देवगढ़ मन्दिर का द्वार अद्भुत कला प्रौढ़ता का प्रदर्शन करता है। इसका अलकृत द्वार गर्भगृह-स्थित देव प्रतिमा के सौंदर्य में अभिवृद्धि करता है। इस द्वार की देहली अलंकरण रहित तथा सादी है। इसके दोनों पार्श्वों पर दो 'द्वार-शाखा' तथा ऊपर 'शीर्षपट्टी' अथवा 'उत्तराग' है, जो अत्यन्त भारी है। इसका गर्भगृह वर्गाकार है। इसकी अन्दर से ऊँचाई ९' ९" है। इसका द्वार ६' ११" ऊचा तथा ३' ४" चौड़ा है अर्थात इस द्वार की ऊँचाई चौड़ाई से दनी थी। द्वार शाखा तथा शीर्षपट्टी सबको द्वार में सम्मिलित कर देने से लम्बाई ११' ८" तथा चौड़ाई १०' ९" तक पहुँच जाती है। शीर्ष पट्टी के दोनों पार्श्वों पर दो नदी देवियों का चित्रण है। ये नदी देवियाँ गगा तथा यमना है। गगा अपने वाहन मकर पर तथा यमना कच्छप पर आसीन हैं। ये उपरोक्त नदी देवियाँ गप्त काल में मन्दिर पर सर्वप्रथम प्रदर्शित की गईं। कालिदास ने कुमारसम्भव में कदाचित इसी दृश्य को लक्ष्य कर के लिखा है—

> मूर्ते च गंगा-यमुने तदानीम्।
> स चामरे देवम सेविषातम् ॥कुमा० ७।४२.

यहाँ पर गंगा तथा यमुना का चित्रण मानवी रूप में किया गया है। दोनों देवियों के हाथों में चँवर है, इनको प्रचारिका के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इन दोनो देवियो का प्रदर्शन हमें भारहुत, साँची तथा मथरा के स्तूपों की शाल-भञ्जिका आकृतियो का स्मरण दिलाती हैं। इन्हीं यक्षी-मूर्तियों से गंगा-यमुना की मर्तियों का विकास कुमार स्वामी मानते है।

शीर्षपट्टी (Lintal)—देवगढ़ मन्दिर के शीर्षपट्टी पर एक उभड़ा हुआ ललाटबिम्ब प्रदर्शित किया गया है। इस पर शेषशायी भगवान विष्णु की प्रतिमा स्थापित है। शेष का फन विष्णु के शीश पर छत्र की भाँति स्थित है। इस विष्णु की मुद्रा का वर्णन रघुवंश में 'भोगीभोगासनासीन' के रूप में किया गया है। प्रायः विष्णु को शेष पर विश्राम की मुद्रा में प्रदर्शित किया जाता है किन्तु यहाँ पर

विपरीत मुद्रा में अंकन हुआ है। बायाँ पैर मुड़ा हुआ तथा बायाँ पैर पीछे की ओर लटका है।

शाखा-स्तम्भ (Door jambs)—प्रत्येक द्वार-स्तम्भ या द्वार-शाखा पर चार पंक्तियों में अलंकरण किया गया है। उसी प्रकार शीर्ष-पट्टी या शीर्षदल पर भी अंकन हुआ है। प्रथम पंक्ति को 'पत्रलता' अथवा 'पत्रवल्ली' से अलंकृत किया गया है। द्वितीय पंक्ति को कामुक-युग्मों (मिथुन) को विविध मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है। तृतीय पंक्ति को नृत्य की मुद्रा में प्रथम आकृतियों का प्रदर्शन किया गया है तथा चतुर्थ पंक्ति को अ.वृक्ष से अलंकृत किया गया है।

रथिका (Niches)—मन्दिर के तीनों पार्श्वों की दीवालों पर तीन रथिकाएँ हैं। दक्षिण रथिका में शेषशायी विष्णु, उत्तर रथिका में 'नर नारायण तपश्चर्या' तथा पूर्व रथिका में 'गजेन्द्रमोक्ष' का अंकन किया गया है।

जगती (Plinth)—जगती के साथ संयुक्त दीवार आधार से ६' ७" ऊँची है। भू-स्तर से ३' ८" की ऊँचाई तक चार पाषाण शिलाओं की पट्टियाँ हैं, जिनका स्तर सरल तथा अलंकरण हीन है। इसके ऊपर चारों पार्श्वों पर उभड़ी हुई अलंकृत पंक्ति है। इस प्रकार जगती कई पंक्तियों में अलंकृत है और इस पर रामायण और कृष्ण लीला के दृश्य अंकित हैं।

भीतरगाँव का मन्दिर—यह कानपुर जिले में है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पत्थर के स्थान पर ईंटों का बना है। इसके ऊपर भी शिखर है जो ऊपर जाते हुए हाथी की सूंड की भाँति कम चौड़ा होता गया है। इसकी ऊँचाई ७० फीट है। यह मन्दिर भी एक वर्गाकार चबूतरे पर बना है। इस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ हैं। मन्दिर का गर्भगृह १५×१५ वर्ग फीट है। इस मन्दिर को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के मन्दिरों के निर्माण की परम्परा बहुत दिनों से चली आ रही थी।[1] गर्भगृह की दीवार भद्र एवं कोणक आकार की है। पूर्व की ओर एक मण्डप है जिससे होकर गर्भगृह में आने का रास्ता है। प्रत्येक भद्र तथा मण्डप की छत मुख्य गर्भगृह के छत के समान है। गर्भगृह का छत पीढ़ा आकार का है तथा अन्तिम सिरे पर गजपृष्ठाकृति प्रकार का है। प्रत्येक कोणक के अंत में मिलने से बनता है। प्रत्येक भद्र भाग शिखर से कुछ नीचे तक ही आकर समाप्त हो जाता है।

लाडखाँ मन्दिर—ऐहोल का लाडखाँ मन्दिर सबसे पुराना है। पहले विद्वान् उसका समय ४५० ई० के लगभग मानते थे। किन्तु श्रीबालसुब्रह्मण्यम उसे ५५० ई० के लगभग बना सिद्ध करते हैं। यह मन्दिर प्रायः नीची सपाट छत की ५० फुट की

---

1. "It represents a phase of the building art which was well understood and had a long tradition behind it."—Percy Brown, "Indian Architecture", p. 41.

वर्गाकार रखता है। इसमें तीन ओर दीवालें हैं, जिनमें अगल-बगल की दो में जाली है तथा पूर्वी ओर खम्भों पर टिका मण्डप है। भीतरी भाग में खम्भों के दो चौकोर वर्ग एक के भीतर एक हैं, जिससे वह दो पार्श्व भागों में विभक्त हो जाता है। स्तम्भ सादे और बनावट में बोझिल और भारी हैं। उसके बीचोबीच बाद की बढ़ाई नन्दी मूर्ति है और पिछली दीवार से सटा गर्भगृह है। मन्दिर शिखरहीन है, किन्तु बाद की बढ़ाई एक दूसरी मंजिल अवश्य मिलती है जिसमें देवी, विष्णु एवं सूर्य की मूर्तियाँ हैं। पर्सी ब्राउन का विचार है कि इसका विकास प्राचीन सस्थागार के वास्तु से हुआ होगा, किन्तु अन्य उदाहरण सस्थागार का नहीं मिलता। लाडखाँ मन्दिर की विशेषता है कि अपने गुहा जैसे प्रभाव की छाप सबसे अधिक छोड़ता है—

(१) सामान्य भारी भरकमपन और साधारण बनावट।

(२) बहुत मोटे-मोटे स्तम्भ जिनके शीर्ष नहीं हैं, इनमें लगे हुए ब्रैकेट सादे वर्गाकार गोल हैं।

(३) सपाट छत होते हुए भी प्रदक्षिणापथ की जो छत है वह नीची झुकाव-दार है जो चैत्यहाल की छत से मेल खाती है।

(४) गर्भगृह का अन्तिम सिरे पर होना भी इस बात का द्योतक है कि इसका विन्यास चैत्यघर से लिया गया है।

इस मन्दिर में आलंकारिक विस्तार कम किन्तु उच्च एवं प्रभावोत्पादक है। बड़ी जालीदार खिड़की उत्तर और दक्षिण में अत्यन्त परिपक्व एवं प्रभावशाली है। सामने और पीछे की दीवार में गोल खिड़कियों का जोड़ा है जिसमें चक्र की तीलियाँ, उल्टी मछलियों की आकृति की हैं। सम्पूर्ण मन्दिर का सबसे अलंकृत भाग सामने का मंडप एवं स्तम्भ हैं, आदमकद की मानव आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। दक्षिण ओर के आखिरी स्तम्भ पर कच्छप पर यमुना एवं उत्तर की ओर मकर पर गंगा का अंकन हुआ है।

कोन्तगुडी मन्दिर—इसकी भी योजना पिछले मन्दिर की भाँति ही है, यद्यपि यह छोटा है किन्तु बनावट की दृष्टि से उससे कम भारी नहीं है। रूपरेखा वर्गाकार है जिसमें चार मध्य स्तम्भ हैं और मन्दिर के गर्भगृह का विन्यास पिछली दीवार तथा स्तम्भों के बीच में है। ठीक उसी तरह बीच के भाग पर सपाट छत है जो इधर-उधर ढालुआँ हो जाती है। सपाट छत पर ५′ ऊँची शिखर जैसी आकृति शायद बाद की जोड़ी हुई है। इस मन्दिर के स्तम्भ लाडखाँ से विकसित अवस्था के द्योतक हैं। शिखर की भित्तियों में रथिकाएँ हैं। उत्तर में शिव-ताण्डव, पश्चिम में वराह, दक्षिण में भैरव एवं पूर्व में वामन की मूर्तियाँ अंकित हैं। गर्भगृह के द्वार पर गरुड़ की मूर्ति उत्कीर्ण है। इस मन्दिर में चैत्यमुख अभिप्राय तथा खड़ी हुई मानव आकृतियों की सजावट भी है। गर्भगृह के सामने के मण्डप की छत पर तीन उत्कीर्ण पटियाँ हैं जिनमें तीन दृश्य हैं—(१) मध्य में पार्वती के साथ चतुर्भुज शिव, (२) उत्तर में शेषशायी विष्णु एवं (३) दक्षिण में ब्रह्मा।

हुच्चीमल्लिगुडी मन्दिर—यह मन्दिर अपने विन्यास तथा छत की बनावट में चैत्यघरों का अनुकरण करता है। यह एक आयताकार मण्डप है जिसके सामने अर्धमण्डप तथा पीछे की ओर गर्भगृह इस प्रकार बना है कि इसके चारो ओर प्रदक्षिणा-पथ छूटा हुआ है। स्तम्भों की दो पंक्तियों से मण्डप नाभि एवं पार्श्वभागों में बँटा हुआ है। पत्थर के फलको से पटी सपाट छत पर प्राय एक शती बाद का नागर शैली का शिखर है। आन्तरिक भाग सम्पूर्णतः सादा है केवल गर्भगृह का द्वार गुहा-द्वारों की भाँति अलकृत है। मन्दिर का मुख पश्चिम की ओर है। द्वार के ठीक सामने चाहे स्वतन्त्र स्तम्भों के सहारे एक मण्डप खड़ा है। इस मण्डप की छत में एक शिल्प है, जो मोर पर आरूढ़ कार्तिकेय को प्रदर्शित करता है।

दुर्ग मन्दिर—इसकी भूमितल योजना वृत्तायत है, जो चैत्यकक्ष से मिलती जुलती है। इसे बौद्ध चैत्य-कक्ष का ब्राह्मण संस्करण कहा जा सकता है। भीतर से ६० फुट×३६ फुट है। पूर्व की ओर इसका मुख्य मण्डप २४ फुट चौडा हैं। इसकी दूसरी विशेषता इसके वाह्य आकार के स्तम्भों की श्रेणी है। छत के ऊपर बाद का जोड़ा नागर शैली का छोटा शिखर है। सारा मन्दिर ऊँची जगती पर है। भीतरी भाग मे मण्डप को जोड़ता हुआ सुतराल सा है तथा भीतरी मण्डप (हॉल) चार-चार स्तम्भों की श्रेणियों से नाभि तथा पार्श्व गलियों मे विभक्त है। गर्भ-गृह-प्रकोष्ठ वृत्तायत आकार का है।

इस मन्दिर के स्तम्भ बहुत अधिक बोझिल और भारी नही हैं जैसे कि लाउखाँ मन्दिर के है, फिर भी यहाँ उसका कुछ रूप सुरक्षित रह गया है। ये स्तम्भ आधार-शिला रहित, किन्तु ऊपर की ओर सादा टांड-शीर्ष है। बाहरी दीवार मे निर्मित रथिका की मूर्तियो मे शैव और वैष्णव देवताओं की पक्षपात हीन समिश्रण पाते हैं, जिनमें वराह, नृसिंह तथा अर्द्धनारीश्वर-शिव आदि की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर का प्रवेश द्वार अत्यन्त अलकृत है जो कि अजन्ता के विहारों से समानता रखता है।

मेगुती-मन्दिर—गर्भगृह मे तीर्थङ्कर-जैन मूर्ति है जो कि नाप में इसके द्वार से भी ऊँची है। पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख के आधार पर मेगुती मन्दिर की तिथि ६३४ ई० रखी जा सकती है। चालुक्य कला के इतिहास मे इस मन्दिर का विशिष्ट स्थान है। गर्भगृह की योजना चौकोर है बाहर से प्रदक्षिणापथ द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ है। गर्भगृह के सामने एक छोटा सा अन्तराल मण्डप भी है। इसके बाद, इसके सामने एक बड़ा रंगमंडप भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह रगमडप चारों ओर से खुला रहा होगा और बाद मे स्तम्भों के बीच के खाली स्थान को दीवार से भर दिया गया होगा। यह द्राविड शैली का प्राचीनतम कृति है। ऊपर एक दूसरे गर्भगृह को बनाया गया था जो अधरा रह गया है।

मूर्तिकला (शिल्प)

गुप्तकालीन मूर्तियों का निर्माण विशेषकर मथुरा और सारनाथ परम्परा के अन्तर्गत हुआ। इस परम्परा का विकास मध्यदेश में अधिक समय तक दिखाई देता

है। गुप्तकाल में मन्दिरों के उदय ने उत्कीर्ण शिल्प को द्रुतगति से आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। विभिन्न सम्प्रदायों के इष्टदेव और अवतारों की लम्बी श्रृंखला दिखाई देती है। बलराम, बुद्ध आदि विष्णु के अवतार मान लिए गए। बौद्ध धर्म के बुद्ध एवं बोधिसत्व, हिन्दू देवताओं तथा यक्ष, गन्धर्व, द्वारपाल, मिथुन, गंगा-यमुना नदी-देवियों तथा पशु-पक्षी की मूर्तियों का अंकन अलौकिक रूप में हुआ। यक्ष देवता के वाहन के रूप में या पारिषद के रूप मे दिखलाई देते है, इनका अंकन स्वतंत्र रूप से नही दृष्टिगत होता है।

गुप्तकाल मे यद्यपि शिल्पी रूढिग्रस्त नियम का पालन करने के लिए बाध्य था किन्तु सौन्दर्य भरने में वह स्वतन्त्र था। सुन्दर प्रतिमा मे ही देवता निवास करते हैं। इसी कारण गुप्तकला स्वस्थ एव सुन्दरता के लिए भारतीय कला में विशिष्ट है। मूर्तिकला के सौन्दर्य-सर्जन के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कराने की प्रक्रिया का समारम्भ गुप्तयुग से होता है। मूर्ति की नवनवोन्मेषपूर्ण व्यंजनामयी आकृतियो से आध्यात्मिक अनुभूति का सामरस्य मानकर कलाकारों ने लावण्य-संयोजन के लिए तनुता, सूक्ष्मता और मधुरता को अपनी कृतियों में प्राय: सन्निविष्ट किया है। शिल्प की दृष्टि से गुप्तकाल की कला को मथुरा और अमरावती परम्परा से पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। इस युग के शिल्प मे लोच मथुरा से तथा लालित्य अमरावती से प्राप्त हुआ। इतना होने पर भी गुप्त-शिल्प दोनों से भिन्न है। कुषाण-काल में दृश्य जगत ही कलाकार के लिए प्रेरणा का स्रोत था परन्तु इस समय मथुरा शिल्प का नग्न-सौन्दर्य और अमरावती का उदात्त वातावरण गुप्त-शिल्पी द्वारा उच्च आदर्श का रूप ले लिया। इस युग में शिल्पी अनुभूति खोजता है फलत: कला विवेक और बुद्धि परिलक्षित हो जाती है। भारहुत एव सांची के युग में भावना का महत्व नही था। दूसरी ओर मथुरा और अमरावती का शिल्प मानव आकृतियो से परिपूर्ण था इसके विपरीत देवता के मानव रूप में अध्यात्म का समावेश हुआ। अलौकिकता लाने का प्रयास हुआ। मानव शरीर का महत्व बढ़ जाने से शिल्प मे प्राकृतिक-तत्व अवश्य घट गए। उनकी अनन्त जीवन शक्ति में जो बल्लरियाँ रहती थी, उनमे मानव-प्रतिमा भरी जाने लगी। बुद्ध की आध्यात्मिक साधना का प्रतिफलन, जिसमें सम्पूर्ण शरीर दीप्तिमान होता है, चेहरे में प्रस्फुरित हो उठा। बन्द पलकमयी विशेषताएँ देवता की मूर्तियों को सामान्य मूर्तियों से पृथक करती हैं। कुषाणकालीन भारी मूर्ति का स्थान आदर्श शरीर वाली नई मूर्तियाँ ले लेती हैं। नये मानशारीरिक सुन्दरता के लिए प्रयुक्त होने लगे। देव-मूर्तियों को युवा दिखाया जाने लगा। कला मे आतंरिक सौंदर्य दिखाने का प्रयास किया जाने लगा, फल-स्वरूप अलंकरण जो शरीर को ढक लेते थे, कम से कम प्रयुक्त किए जाने लगे। कुषाणकालीन अपारदर्शक और मोड़ युक्त वस्त्र पारदर्शक हो जाते हैं। प्राकृतिक तत्व पृष्ठभूमि मे चले गए, किन्तु सौन्दर्य मान प्रकृति से ही लिए गए। तत्कालीन साहित्य मे विशेष रूप से कालिदास के साहित्य में इसका भरपूर उल्लेख हुआ है।

नेत्र, कमल या हिरण के नेत्र के सदृश, नासिका शुक नासिका सदृश आदि जिसके भी सौंदर्य के भाव थे, अपनाए गए।

गुप्तयुगीन मूर्तिकला का अध्ययन करने के निमित्त विद्वानों ने क्षेत्रिय वर्गीकरण के द्वारा विकास-क्रम को दिखाने का प्रयास किया है। समस्त भारतीय कला के लिए मथुरा एव सारनाथ ही प्रेरणा के स्रोत थे। मृण्मूर्तियाँ भी मूर्तिकला के क्षेत्र में ही आती हैं किन्तु उनका स्वतन्त्र उल्लेख किया जायेगा। गुप्तकालीन कला का अध्ययन निम्नलिखित वर्गीकरण द्वारा करने का प्रयास कर रहा हूँ :—

(१) मथुरा एव सारनाथ
(२) मध्यदेश
(३) पूर्वी भारत
(४) पश्चिमी-भारत
(५) दक्षिणी-भारत

मथुरा एवं सारनाथ—गुप्तयुगीन मूर्तिकला का सर्वप्रथम वैशिष्टय मथुरा में दृष्टिगोचर होता है और उसका परिपाक सारनाथ में हुआ। इस कला की प्रथम झलक बोधगया में प्राप्त बोधिसत्व की चौथी शती की मूर्ति में मिलती है। इसके विषय मे स्टेला क्रामरिश का मत है, 'The Bodhisattva from Bodhgaya is the first image in India which by its form signifies, what its name implies'.[1] यह मूर्ति मथुरा के लाल पत्थर की बनी है। कुछ विद्वान इसे दूसरी शती की मानते हैं और कुछ इसे गुप्तकालीन समझते हैं। मथुरा के लाल पत्थर, मूर्ति का बलिष्ठ शरीर, तनी हुई आकृति आदि इसे मथुरा-शैली की सीध मे रखते हैं, किन्तु नासिका पर टिकी हुई मूर्ति की अधखुली आँखें, मुख पर की आध्यात्मिक कान्ति और ओठों की करुणामयी मुस्कान गुप्त-कला की विशिष्ट देन हैं। इस प्रकार यह मूर्ति सक्रामक काल की प्रतीत होती है, जिस समय मथुरा-शैली गुप्त-कला का संयत सौन्दर्य और आध्यात्मिकता पूर्णतः व्याप्त है।[2]

कुषाण-काल मे मथुरा की शिल्प-कला सब दिशाओं मे उन्नति को प्राप्त हुई, किन्तु गुप्त-काल में मथुरा की कला अपने उस श्रेष्ठ रूप में विकसित हुई, जो स्वर्णयुग की कला की देश-व्यापी विशेषता थी। कला के साथ साहित्य और धर्म भी अपने बिखरे हुए स्वच्छ और सस्कृत रूप में उन्नति को प्राप्त हुए। उस युग का आदर्श 'अनुत्तर ज्ञान' या 'अनुत्तर सम्यक सम्बोधि' की प्राप्त थी। व्यक्तिगत रूप में परमोत्त्व ज्ञान की प्राप्ति और सामाजिक क्षेत्र में लोकहित के साधन इन दोनों ने गुप्तकालीन बुद्ध-धर्म को विलक्षण सरसता प्रदान की। इसी की तरह गुप्त-कला में भी दो अन्य तत्वों सौंदर्य और अध्यात्म का समन्वय हुआ। बुद्ध की मूर्ति एक

1. Stella Kramrisch. 'Indian Sculpture', p. 61.
2. विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह, 'भारतीय कला को बिहार की देन', पृ० ११३.

ओर सौंदर्य की प्रतीक है और दूसरी ओर जिस व्यक्ति को सर्वोच्च संबोधि प्राप्त हुई है, उसकी प्रशांत मुखाकृति को भी पूर्णतया व्यक्त करती है।

गुप्त-काल की बुद्ध मूर्तियों में भिक्षु यशदिन्न द्वारा स्थापित खड़ी हुई मूर्ति अत्यन्त सुन्दर और भव्य है। भारतवर्ष की चुनी हुई सुन्दर मूर्तियों में इसकी गणना है। बुद्ध की प्रशान्त मुख-मुद्रा में शिल्पी को विशेष सफलता मिली है और प्रथमबार अनुत्तर ज्ञानावाप्त अथवा सम्यक् सम्बुद्ध शैली को कला मे प्रत्यक्ष देखते हैं। बुद्ध के दोनों कन्धों पर (उभयांसिक) संघाटी पड़ी हुई है। उसके सूक्ष्म विमल वस्त्र के भीतर से मेखला और शरीर झांकता हुआ दिखाई पड़ता है। नासाग्र-दृष्टि, दो मिली हुई भौंहें, लम्बे कर्णपाश, चौड़ा ललाट, कुंचित केशों से ढका हुआ छत्राकार सिर, ये सब गुप्तकालीन कला के स्पष्ट लक्षण हैं, जो इस मूर्ति की विशेषता है। सिर के पीछे जो अलंकृत प्रभामण्डल है, उसके कारण मूर्ति और भी भव्य लगती है।

मथुरा कला में ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवों की मूर्तियाँ भी गुप्तयुगीन प्राप्त होती है। कुषाण काल के आरम्भ में ब्राह्मण धर्म के देवताओं की अनेक मूर्तियाँ मथुरा शिल्प मे बनाई जाने लगी। धीरे-धीरे इनकी सख्या बढ़ी और गुप्तकाल में अपने पूरे विकास पर पहुँच गई। मथुरा शिल्प कला में प्राप्त देवी-देवताओं की सूची इस प्रकार है—

(१) शुंगकाल—

१ बलराम, २. पंचवृष्णि वीर

(२) कुषाणकाल

१. ब्रह्मा
२. शिव—
अ—लिंग विग्रह आ पुरुष विग्रह
इ—अर्धनारीश्वर विग्रह
ई—शिव-पार्वती विग्रह

३. कार्त्तिकेय	४. गणपति
५. विष्णु	६. सूय
७. इन्द्र	८. कामदेव
९. बलराम	१०. सरस्वती
११. लक्ष्मी	१२. दुर्गा—अ—महीषमर्दिनी और आ—सिंहवाहिनी
१३. सप्तमातृका	१४. कुबेर

१५. कुबेर एवं हारीती।

(३) गुप्त-काल—

उपरोक्त सब देवी-देवता एवं निम्नांकित देवों की मूर्तियां गुप्त युग की कला में बनाई जाने लगीं—

१. शिव और विष्णु का संयुक्त रूप (हरिहर मूर्ति)
२. त्रिविक्रम अवतार में विष्णु
३. सूर्य का अनुचर पिंगल
४. सूर्य का अनुचर दण्ड
५. नवग्रह
६. कृष्ण की बाल-लीलाएँ, जैसे—शकट लीला, केशीवध लीला
७. गंगा एवं यमुना
८. विविध आयुध पुरुष जिनका भगवान के अनुचर रूप में अंकन किया गया जैसे शंख, चक्र, गदा एवं पद्म का इन आयुधों के साथ मानवी रूप।[1]

गुप्तयुग में ब्रह्मा की पूजा प्रचलित थी और उस समय की कई मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। मथुरा में गुप्त काल में विष्णु की कई प्रकार की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। विष्णु की खड़ी हुई स्वतंत्र मूर्तियाँ, जो अपने चारों भुजाओं में चार आयुध लिए हैं। नरसिंह-वराह विष्णु की मूर्ति, जिसमें मध्य का मुख मानवीय तथा दोनों ओर कन्धों से निकलते हुए नरसिंह एवं वराह के मुख हैं, पुराणों में वर्णित महाविष्णु या विश्वरूप विष्णु की मूर्तियों में यह मूर्ति आती है। गुप्तकालीन मथुरा कला में इस प्रकार की कई मूर्तियाँ मिलती हैं। विष्णु की शेषशायी मूर्ति भी प्राप्त होती है। कृष्ण के जीवन-लीलाओं का भी मूर्तरूप में प्रदर्शन होने लगा था, जिनमें गोवर्धन लीला और कालियमर्दन लीला का अंकन मथुरा कला में हुआ है। गुप्तकाल में भ्रमरा एवं खोड़ प्रकार के एकमुखी शिव-लिंग की मूर्तियों की भाँति मथुरा में भी निर्माण हुआ। द्विमुखी एवं पंचमुखी शिव लिंग हम पाते हैं, जिनमें शिव के पाँचों मुखों, सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान का रूप मिलता है। सद्योजात का सम्बन्ध पृथ्वी तत्त्व, वामदेव का जल तत्त्व, अघोर का अग्नितत्त्व, तत्पुरुष का वायुतत्त्व एवं ईशान का आकाश तत्त्व से था। शिव-लीलाओं में रावण द्वारा कैलाश पर्वत उठाने का दृश्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जिस पर शिव एवं पार्वती बैठी हुई हैं। प्रतिमा-विज्ञान एवं कलात्मक दृष्टि से यह मूर्ति विशिष्ट स्थान रखती है। शिव का अर्धनारीश्वर रूप भी उल्लेखनीय है, जिसमें आधा दायाँ भाग पुरुष का और आधा बायाँ भाग स्त्री का है। दाहिनी ओर जटाजूट, ऊर्ध्वमेढ़ और बाघाम्बर तथा बाईं ओर अलकावली, कर्ण कुण्डल, एक स्तन, मेखला एवं साड़ी का अंकन हुआ है। इस युग की सूर्य मूर्तियों में उनके दो पार्श्वचर दण्ड और पिंगल भी अंकित किए जाने लगे। दण्ड के हाथ में लम्बा दण्ड एवं पिंगल के हाथ में कलम एवं दावात का रूप दृष्टिगत होता है। सूर्य परिवार में ऊषा एवं प्रत्यूषा का भी अंकन प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त राज्ञी और निक्षुभा नामक देवियाँ भी सासानी परम्परा से लेकर अंकित की गई हैं। कार्तिकेय गुप्त युग में राष्ट्रीय देवता बन गये थे।

---

1 वासुदेव शरण अग्रवाल, 'भारतीय कला', पृ० ३१०–३११.

कालिदास के कुमार सम्भव में कुमार या स्कन्द की महिमा का वर्णन मिलता है। सप्तमातृकाओं में कुमारी का अंकन कुषाण काल में मिलता है किन्तु गुप्तकाल में शक्ति और मयूर वाहन भी दृष्टिगत होने लगा। इस युग में गणेश के या रूप, पुरुषाकृति शुंडधारी गणपति एवं नृत्य गणपति के रूप में प्राप्त होते हैं। अग्नि की मूर्ति गुप्तकाल की कई मिलती हैं, जिनमे उसे यज्ञोपवीत धारण किए हुए, जटाजूट सहित, घटोदर रूप मे अंकित किया गया है। दाहिने हाथ में अमृत घट एवं शरीर के चतुर्दिक ज्वालाएं दिखाई गई है। इस युग में लक्ष्मी का सम्बन्ध विष्णु के साथ निश्चित हो गया था। शेषशायी विष्णु की मूर्तियों में लक्ष्मी को विष्णु का पैर दबाते हुए दिखलाया गया है।

मथुरा से तीर्थंकरों की प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं। गुप्तकालीन कुछ मूर्तियों मे सौन्दर्य और अंगों मे गतिशीलता है और कुछ अलंकरण भी हैं। महावीर की एक मूर्ति में जो उत्थित पद्मासन मुद्रा मे अंकित है। मस्तक के पीछे पद्मातपत्र और ऊपर घुंघराले केश थे। इन अंगों का विन्यास कलापूर्ण है।

इस काल की सुन्दर और सौम्य मूर्तियो मे सारनाथ की बुद्ध-मूर्ति का स्थान सर्वोपरि है। बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन की मुद्रा वाली मूर्ति में अन्तः एवं बाह्य एकरूपता का सफल प्रयास दृष्टिगत होता है। इस मूर्ति मे गौतम ध्यान लगाए आसन पर आसीन है। उनके हाथ मानो अभय और शांति की व्यंजना करते हुए नाभि प्रदेश के ऊपर धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में स्थित है। पैर वज्रपर्यंकासन में है। आसन के नीचे पीठ-फलक पर धर्मचक्र के दोनों ओर पांच शिष्यों और उनके साथ सम्भवतः दाता-दम्पती की मूर्तियां उत्कीर्ण है। डा० निहाररंजन रे के शब्दो मे दाता-दम्पती के चित्र में शिशु लिए नारी का अंकन उल्लेखनीय है—'The woman with a child, whose figures are added at the left corner, is probably the figure of the donor of the image, which in some respects represents the highwater mark of the art of sculpture in ancient India.'[1] उनके शीश के चारो ओर प्रभामंडल है, जो अलंकृत है। उनके शीश पर कुंचित केश हैं। महात्मा बुद्ध के मुख पर आध्यात्मिक शांति विराजमान है। ऐसी सुन्दर मूर्तियां बहुत कम देखने को मिलती हैं। डा० स्मिथ के मतानुसार इस मूर्ति में कहीं पर भी गांधार-कला का प्रभाव नहीं है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इस मूर्ति की प्रशंसा निम्नलिखित शब्दों में करते हैं—"The spiritual expression, the tranquil smile, the serene contemplative mood of the Sarnath Buddha posed on a diamond seat in the attitude of preaching show us the highest triumph of Indian art."

---

1. Ray, N. R., 'The Classical Age', p. 525.

इस मूर्ति का निर्माण चुनार के बालुकामय प्रस्तर से हुआ है। सारनाथ में निर्मित मूर्तियाँ इसी पत्थर की मिलती हैं। स्टेला क्रामरिश ने इस मूर्ति को बोधगया मूर्ति से सूक्ष्म कृति बतलाया है, "the Sarnath version of the Mathura prototype is subtler than the original." प्रो० सरस्वती इस मूर्ति को एक स्वतंत्र देन बतलाते हैं।[1]

मध्यदेश—सारनाथ की मूर्तिकला का प्रभाव मध्यदेश की कला पर विशेष रूप से पड़ा। सारनाथ की स्थानीय मूर्तिकला प्रायः बौद्ध मूर्तियों तक ही सीमित है। भारत कला भवन (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में सुरक्षित कार्तिकेय की मूर्ति एवं सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित शिव या लोकेश्वर की मूर्ति में स्थूलता तो कुछ-कुछ है किन्तु भावाभिव्यक्ति का संयोजन सफल हुआ है। मुख की बनावट से कला का शैशव रूप ही व्यक्त होता है। खोह से प्राप्त एक मुखी शिव-लिंग की मूर्ति विशेष भव्य प्रतीत होती है। इसमें शिव की प्रकाम शान्ति और विपुल ऐश्वर्य का निभृत सामञ्जस्य ध्वनित होता है। बेसनगर से प्राप्त गंगा की मकरवाहिनी मूर्ति में स्त्रीरूपिणी गंगा की पावनशक्ति और लोकोपकारिणी मुद्रा स्पष्ट है। प्रयाग के निकट गढ़वा में प्राप्त शिला-पट्टिका पर उत्कीर्ण मूर्तियों में सारनाथ की कला का परिपाक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनके द्वारा कई भागों में मनुष्यों की कार्यपरायणता और तदनुरूप भावभंगिमा का अपूर्व सौष्ठव प्रदर्शित किया गया है। प्रयाग जिले के मनकुँवर स्थान पर प्राप्त बुद्ध की मूर्ति यद्यपि इसी युग में बनी थी, किन्तु इसके कलाकार कुषाणयुगीन पद्धति पर ही चलते हुए स्थूलता को विशेष रूप से अपनाए हुए हैं, जबकि मूर्ति में बुद्ध की शान्तिमयी मुद्रा का अभिनिवेश वर्तमान है।

झाँसी जिले के देवगढ़-दशावतार मन्दिर की मूर्तियों में सारनाथ की कला का स्पन्दन प्रतीत होता है। इसके चबूतरे की भित्ति पर रामकथा के दृश्य उकेरे गए हैं। शिल्प में रामकथा का सर्वप्रथम चित्रण इसी मन्दिर में हुआ। मन्दिर के पट्टियों पर जो शिल्प उत्कीर्ण है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह मन्दिर कलात्मक सौन्दर्य का पुञ्जीभूत रूप प्रस्तुत करता है। जगती के नीचे कटावदार पत्थर हैं, उनके ऊपर उन्नीस स्थान पर मोटे-मोटे पत्थर थे जिनमें छोटे-छोटे रामकथा अंकित हैं। इनमें अधिकांश खंडित अवस्था में हैं, परन्तु फिर भी दैवी सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। सुरपंखा प्रसंग वाली शिला कला की दृष्टि से अपूर्व है। बाल्मीकि ने राम के सुन्दर रूप का वर्णन किया है। राम का स्वरूप देखकर सुपर्णखा मोहित हो गई। सम्भवतः श्रीराम के इसी स्वरूप को कलाकार ने प्रस्तर में उतारने का प्रयास किया है। इसमें श्रीराम ऊँचे आसन पर बाईं ओर बैठे हैं, मुख पर बड़ी शान्ति है, जिसकी अपेक्षा इस युग में की जा सकती है। बाएँ हाथ में विशाल धनुष और दायाँ हाथ वरद् मुद्रा में है। दाईं ओर लक्ष्मण कोपित

1. Saraswati, S.K., 'A Survey of Indian Sculpture,' p. 134.

मुद्रा में हैं। दाहिना हाथ ऊपर उठा हुआ है जिसमें खड्ग है और बाएँ हाथ से सुपर्णखा के केश पकड़े हुए हैं। मध्य में सीता खड़ी है, जिनके स्वपनिल भाव हैं। पृष्ठभूमि में लता-पत्तियों का अंकन है।ऐसा प्रतीत होता है पहले ये मोम के बनाए गए हों और बाद में अहिल्या की तरह पाषाण हो गए हों।दूसरी शिला पर अहिल्या का चित्रण है। राम के बाएँ हाथ में धनुष और दाहिना हाथ अहिल्या के सिर पर है। ऋषि ऊँचे आसन पर बैठे हैं। लक्ष्मण बाएँ हाथ में धनुष लिए खड़े हैं। पृष्ठ-भूमि में लताओं का प्रदर्शन हुआ है। दृश्य की स्वाभाविक गति गुप्तकाल के शिल्प की ओर संकेत करती है।गुप्तकाल की यही सबसे बड़ी विशेषता है, इसमें आलेखन मनुष्य का है पर दैवी सौंदर्य का प्रदर्शन होता है। एक अन्य शिलापट्ट पर बनगमन का दृश्य अंकित है। आगे-आगे लक्ष्मण बीच में, लम्बे आकार में राम और सीता को पीछे दिखाया गया है।शिल्प की दृष्टि से जहाँ राम और लक्ष्मण में स्वाभाविक गति है, वहाँ सीता में गति और स्त्री सुलभ-सौन्दर्य का अभाव है। एक अन्य फलक पर राम, लक्ष्मण एवं सीता को अत्रि के आश्रम में दिखाया गया है। इसके अति-रिक्त राम-लक्ष्मण को एक बन में दिखाया है जो सम्भवतः दण्डकारण्य का दृश्य है। इसकी विशेषता यह है कि शिल्प की गति और बनावट अपूर्व है। राम अपूर्व तेजस्विता से बाण चला रहे हैं और लक्ष्मण धनुष पर तीर चढ़ा रहे है। राम की मुद्रा में तीर के गति का अनुमान किया जा सकता है। अधिकतर भारतीय प्रतिमा-शास्त्रीय ग्रन्थों में राम के हाथ में धनुष और बाण रूप मिलता है। यहीं पर रावण का सीता से भिक्षायाचन का दृश्य है। परन्तु समय की गति और प्रकृति के कोप ने इसकी सुन्दरता को नष्ट कर दिया है। इसमें नारी आकृति के मख पर भय और पीछे विशाल पुरुष आकृति का भास होता है । एक अन्य पट्ट पर लक्ष्मण-बाली युद्ध के पूर्व सुग्रीव को गज पुष्पों की माला पहना रहे हैं। दूसरे दृश्य में हनुमान मृत-संजीवनी पौधा लाते हुए दिखलाए गए हैं।

जगती शिल्प के अतिरिक्त मन्दिर के बाहरी दीवार के ताखों में (रथिकाओंमें) बनी मूर्तियों मे शास्त्रीय परम्परा का विकास अधिक स्पष्ट है। नर-नारायण तपश्चर्या के दृश्य मे नर-नारायण का भारी शरीर यद्यपि पिछले काल के शिल्प का परिचायक है, किन्तु शारीरिक उतार-चढाव और अन्तर्मुखी भावना के अभि-व्यक्ति में सारनाथ-परम्परा का प्रभाव देखा जाता है। मूर्ति में गुप्तकालीन प्रेरणा स्पष्ट है, परन्तु शरीर का भारीपन इस युग के शिल्प में खटकता है। शेषशायी विष्णु एवं गजेन्द्र-मोक्ष दृश्य में भी आध्यात्मिकता की झलक मिलती है। देवगढ़ का एक और उत्तम दृश्य है—कृष्ण-जन्म के समय माता देवकी का वासुदेव को शिशु-समर्पण करना। इन सभी मूर्तियों में आध्यात्मिकता के साथ ही आंगिक चारुता एवं भावाभिव्यक्ति उच्चकोटि की है। ये समस्त कला-कृतियाँ विशुद्ध पूजा-भाव और धार्मिक प्रेरणा से रची गयी। मनुष्य के संकल्प इतने विशाल और व्यापक हो सकते हैं, यह देख कर ही प्रतीत होता है ।

झांसी के अतिरिक्त मध्यकालीन कृतियों में मालवा से उपलब्ध कला-सामग्री का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ की कला में शारीरिक भारीपन में सम्भवतः प्राचीन साँचा-कला का प्रभाव है। यह प्रभाव बेसनगर से प्राप्त गंगा की मूर्ति, ग्वालियर से प्राप्त अप्सराओं की मूर्ति, पवाया से प्राप्त शिल्पों तथा सोहनी की मिथुन-गंधर्व प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। भेलसा से प्राप्त, उदयगिरि से प्राप्त प्रतिमाओं में वही भारीपन दृष्टव्य है।बाघ-गुफाओं की बौद्ध-रिलीफ भी इसी कोटि की है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुफाओं में मूर्ति निर्माण का विशेष ढंग था, यह बात उदयगिरि से प्राप्त वराह की मूर्ति और आस पास के दृश्य से पता चलता है। वराह की मूर्ति पाँचवी शताब्दी के आस-पास की है। इसमें मालव-गुप्त-कला के सभी गुण दिखलाई पड़ते हैं फिर भी इस मूर्ति की अपनी एक विशेषता है। यह लाकोत्तर सौन्दय गुप्तकला की प्रतिमाओं में ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय कला में दृष्टिगत होता है। कलाकार ने मूर्ति के चारों ओर जिस वातावरण की सृष्टि की है, वह अद्भुत है। यह विशाल मूर्ति १२ फीट ऊंची है। सम्पूर्ण शरीर मानव का है,पर मुख वराह का है। दन्त-कोटि पर पृथ्वी स्थित है। पृथ्वी को नारी आकृति के रूप में दिखलाया गया है। वराह की मूर्ति की बनावट में दृढ़ता और ओज है। अंग प्रत्यंग में सजीवता है। बायाँ पैर शेष नाग पर स्थित है, जो हाथ जोड़े हुए है। नाग के १३ फण हैं।वराह का बायाँ हाथ कटि-प्रदेश पर स्थित है और दाहिना घुटने पर। यह प्रत्यक्ष ही पराक्रम-मुद्रा है।समुद्र का अभिव्यक्ति गुफा के भित्तितल पर तरंगित रेखाओं से की गई है। वराह की बाई ओर अप्सरायें और दाहिनी ओर चार देव-श्रेणियाँ हैं। देवताओं में ब्रह्मा, शिव आदि प्रमुख हैं। असुर और ऋषि इस प्रलय-दृश्य के दर्शक हैं। अन्यत्र गंगा और यमुना के स्वर्ग से अवतरण करने का दृश्य उत्कीर्ण किया गया है। स्वर्ग के ऊपरी भाग में उड़ते हुए देव तथा पाँच अप्सराओं को उत्कीर्ण किया गया है।बीच वाली अप्सरा नाच रही है और शेष मृदंग, बंशी आदि बजा रही हैं। दोनों नारी-रूपिणी नदियाँ वराह भगवान का अभिषेक करने के लिए जल-कलश ली हुई हैं। समुद्र के अधिष्ठाता देव स्वयं जल-कलश लिए हुए घुटने तक जल में खड़े हैं। उदयगिरि का यह दृश्य अत्यन्त उदात्त है। इसमें लोक-कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत वातावरण का रूप प्रदर्शित किया गया है। सर्वत्र समरसता और सहानुभूति की अभिव्यक्ति होती है। इस गुफा में तत्कालीन समस्त भारत की कला-निधि पूंजीभूत है, जैसा कामरिश के वक्तव्य से स्पष्ट है—
'The Varaha relief, in its tough and slow plasticity having with the very breath of creative earth belongs to the same mentality which had been at work at Bhaja and now marks the rock with the more differentiated impress of a later age. While currents from Sarnath etc. touched upon the sculpture of Central India,

the connectedness with the tradition of Dekkhan matters more at this phase.'[1]

उदयगिरि से इसके अतिरिक्त विष्णु की अन्य गुप्त-प्रतिमा मिलती है, जो १२ फीट लम्बी है। चतुर्भुज विष्णु शेष नाग की कुंडलियों पर लेटे हैं, मुख का ऊपरी भाग टूट गया है। मूर्ति के ऊपर दीवार पर नौ आकृतियाँ हैं, जो अस्पष्ट हैं। विष्णु के नीचे भी दो अस्पष्ट आकृतियां हैं। स्मरणीय है कि इस मूर्ति में भी अन्य दो खड़ी मूर्तियों में पूर्ववर्ती मारापन शेष है।

मन्दसौर से प्राप्त शिव की मूर्ति मानव आकार से बड़ी है। इसमें घुटने का अंश खंडित है। नीचे की ओर सप्त-उपासक दृश्य है। त्रिशूलधारी शिव-गण खड़े हैं, शिव ध्यान मुद्रा में हैं। उदयगिरि गुफाओं के द्वारों के दोनों ओर विशेषतः गुफा नं० ६ में पार्वती, महिषासुरमर्दिनी और सप्तमातृकाओं का चित्र उत्कृष्ट है। गुफा नं० ६ के समीप बारह-भुजाओं से युक्त देव की मूर्ति है। गुफा नं० ३ में दण्डधारी प्रतिमा स्कन्द की है। इसके अतिरिक्त गणेश-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, पर खंडित अवस्था में है।

मध्य देश की गुप्त-काल की अन्य प्रतिमा में उज्जैन से प्राप्त शिव-प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है। दश-भुजा शिव को ताडव-मुद्रा में दिखाया है। दोनों पैरों के बीच शिव-गण के रूप में मानव विश्व ही शिव के ताल पर नृत्य कर रहा है। इसी परम्परा का दर्शन उज्जैन से प्राप्त शिव की खंडित मूर्ति में होता है। शान्त, गम्भीर मुद्रा, अर्ध-खुले नयन, त्रिवली युक्त कंठ आदि इसकी विशेषता है। सप्त-मातृका मूर्तियां भी भिलसा और पठारी चट्टानों में उत्कीर्ण विशेष उल्लेखनीय हैं। बाघ तथा उदयगिरि से प्राप्त अन्य मूर्तियां इसी प्रकार की हैं। परन्तु शिल्प की दृष्टि से विशेष महत्व की नहीं हैं। बेसनगर से प्राप्त सप्तमातृका की मूर्ति में गुप्त-कालीन निर्माण सौष्ठव दिखलाई पड़ता है। बाद की गुफाओं में बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियां मिलती हैं, किन्तु सभी में मारापन दिखलाई पड़ता है।

पूर्व भारत—पूर्वी भारत पर भी सारनाथ का प्रभाव पड़ा। इस प्रदेश की कला की निजी विशेषता, उसमें अन्तर्निहित भावुकता का संदेश है। सारनाथ की कला से प्रभावित होते हुए भी कोमलता और लालित्य पूर्ववत् बनी रही। इस प्रदेश की अनेक प्रतिमाएं प्रादेशिक परम्परा से ओत-प्रोत हैं। सुल्तानगंज से प्राप्त बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा बहुत सुन्दर है। अभय-मुद्रा में खड़ी-खड़ी मूर्ति सारनाथ के प्रभाव को लक्षित करती है। शरीर पर पारदर्शी वस्त्र सिलवटों से युक्त है। अंगुलियों के नीचे से छोरा को पीछे की ओर मोड़कर कलाकार प्रादेशिक विशेषता और भावुकता का प्रदर्शन किया है। इस प्रदेश से गुप्तकाल में चूना के अतिरिक्त मिट्टी की बनी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। नालन्दा एवं मनियारमठ के स्तूप के चारों ओर ताखों (रथिकाओं) पर चूने और बालू से बनी नाग-नागनियों की मूर्तियाँ

1. Stella Kramrisch, 'Indian Sculpture', p. 68-69.

सुन्दरता के साथ भावुकता और आवेगपूर्ण गति की अभिव्यक्ति करती हैं। पूर्ण विकसित वक्ष, विस्तृत नितम्ब, प्रणय भावना से मदमाते नयन इन सांसारिक भावों का सुन्दरता से अंकन हुआ है, फिर भी आन्तरिक सौम्यता की झलक दिखलाई गई है। यहाँ सारनाथ शैली की सौम्यता और पूर्वीय कलाकार की रागात्मक प्रवृत्ति दोनों तत्वों का अद्भुत सम्मिश्रण है। देवरिया से प्राप्त सूर्य-प्रतिमा में शरीर भारी होते हुए भी मथुरा के समान नहीं है, परन्तु उसमें छिपी शक्ति का आभास होता है। महास्थान से प्राप्त मंजुश्री की कांस्य प्रतिमा, जिसके ऊपर स्वर्ण-पत्र परिवेष्ठित है, आध्यात्मिकता में सारनाथ के अति निकट होते हुए भी मख और अँगुलियों के निर्माण-विधि मे प्रादेशिकता की झलक प्रदर्शित करती है। भाव-प्रदर्शन की शैली आयाम में भी देखी जा सकती है, दाह-परवतिया के चौखट पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ उदाहरण स्वरूप देखी जा सकती हैं। इस प्रकार गुप्तकला के पूर्वीय रूप में सारनाथ की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के साथ भावुकता और लालित्य, जोकि स्वाभाविक गुण है, अभिव्यक्त होती है। चण्डीमउ (बिहार) से प्राप्त अर्द्ध-स्तम्भों मे उत्कीर्ण मूर्तियों मे पूर्वी शैली की छाप दृष्टिगत होती है। कथावस्तु के कारण भावुकता का रूप दृष्टिगत होता है। चण्डीमउ के शिल्प में एक नवीन रूप पाते हैं। शरीर नाटे और मोटे हैं तथा हाथ-पैर सुडौल हैं। इस परम्परा में शास्त्रीय गुप्त-कला के साथ स्थानीय आदर्श ऐसे मिल गए हैं जिनसे उद्भूत रूप सारनाथ की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। पूर्वी भारत में नालन्दा में लगे चौखट उल्लेखनीय हैं, जिनपर सुन्दर मूर्तियाँ और दृश्य अंकित हैं। ऊपर शिव-पार्वती एवं कार्तिकेय के चित्र अंकित हैं, सभी मे पूर्वी कला का मिला जुला प्रभाव लक्षित होता है।

पश्चिमी भारत—गुप्त-कला का रूप पश्चिमी-भारत में भी दृष्टिगत होता है। पश्चिम की शैली में मथुरा की शैली दिखलाई पड़ती है। मदसौर से उपलब्ध गोवर्धन-धारण का दृश्य और नागरी के द्वार पर प्राचीन कथा दृश्यों को दिखाने की परम्परा, मूर्तियों की शांत और संतुलित मुद्रा निश्चय ही गुप्त कला की देन है किन्तु भारीपन मथुराशैली-परम्पराका द्योतन करता है। राजस्थान के इन शिल्पों में विशेष प्रकार की कठोरता सम्भवत. जातीय कारण है।

सिन्ध में भी गुप्तकाल की कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, इनमें मीरपुर खास से प्राप्त ब्रह्मा की कांस्य-मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। ब्रह्मा मथुरा मूर्तियों के समान सीधे खड़े हैं, कुछ बढ़ा हुआ पेट मूर्तिविधान के अनुरूप ही है। शरीर की कोमलता और पारदर्शक वस्त्र सारनाथ से अनुरूपित हैं। अँगुलियों की बनावट सुल्तानगंज के कांस्य-बुद्ध की भाँति ही है। यहाँ पूर्वीय प्रदेश की स्थानीय विशेषता आश्चर्यजनक है, क्योंकि पूर्वी प्रदेश एवं सिंध के बीच के भूभाग में इस विशेषता का प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता है। एकाएक सिंध में यह प्रभाव कैसे आ गया, सम्भवतः पूर्वी प्रदेश से आयात की गई हो। वास्तव में पश्चिमी प्रदेश की कला में स्थानीय प्रभाव का अभाव ही रहा, विशेष तत्व तत्कालीन गुप्तकला में समाविष्ट नहीं हो पाए।

दक्षिणी भारत—दक्षिण की प्राचीन कला पर, जिसका विकास गुप्तकाल में हुआ—मध्य देश की गुप्त-कला का प्रभाव पड़ा तो अवश्य, किन्तु सामान्यतया उनकी अपनी विशेषताएँ प्रबल बनी रहीं। दक्षिण में पाँचवीं शताब्दी के प्रभाव सीमित हैं, परन्तु छठी शताब्दी में अनायास बढ़ने लगते हैं; जिनमें कुछ कला के विकास की प्रक्रिया स्पष्ट है। परेल बम्बई से प्राप्त शैव-मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इसके मध्य में एक के ऊपर एक तीन आकृतियाँ हैं। प्रत्येक पुरुष आकृति के दोनों ओर एक-एक और आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। सबसे ऊपर वाली आकृति के कई हाथ हैं। शारीरिक दृढ़ता में ये आकृतियाँ अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करती हैं, तथा गति इस प्रदेश की प्रारम्भिक गुफा-शिल्प की विरासत का संकेत करती हैं। इन तीनों मुद्राओं में शांति एवं ध्यान में तल्लीनता सारनाथ का स्मरण दिलाती है। बादामी गुहा रीलीफ में भी मूर्ति के बनावट से शांति का आभास मिलता है। परेल की शैव मूर्ति और बादामी की गुफा नं० ३ की शेषशायी मूर्ति में शक्ति छिपी जान पड़ती है, लेकिन बादामी की शेष अधिकांश मूर्तियों में गति के रूप में अभिव्यक्ति हुई है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण गुफा संख्या चार की त्रिविक्रम प्रतिमा है। त्रिविक्रम के आगे बढ़े हाथ-पैर में ही वह शक्ति नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शैवाल उससे ओत-प्रोत जान पड़ती है। शेष रीलीफ चित्रों में वह शक्ति भले ही कम हो परन्तु वैसे ही प्रभावशाली हैं। प्रत्येक रीलीफ की प्रमुख मूर्ति में शक्ति एवं गति का आभास होता है, शेष सभी मूर्तियाँ उसके सम्मुख गौड़ प्रतीत होती हैं। प्रमुख मूर्ति सम्पूर्ण रीलीफ पर छा गई प्रतीत होती है। भारी विशाल आकृति, जिसमें अदम्य अमानवीय शक्ति का संचरण ज्ञात होता है, सारनाथ परम्परा के विपरीत ज्ञात होती है। इसे इस काल की प्रादेशिक परम्परा का महत्वपूर्ण गुण स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ-कहीं भी सारनाथ के आध्यात्मिक भाव का प्रयास किया गया, वह मूर्ति के शक्ति प्रदर्शन में तथा विशाल आकार में खो गया। गुप्तकाल में स्थानीय शासकों ने दक्षिण में अनेक गुहा-मन्दिरों का निर्माण करवाया, जिनमें अधिकांश बौद्ध है। प्रारम्भिक काल की गुफा को छोड़कर बुद्ध की बैठी या खड़ी मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गईं। बुद्ध की मूर्तियाँ चैत्य-गृहों में स्तूप पर तथा बरामदे में एक के ऊपर अनेक पंक्तियों में उत्कीर्ण की गईं। वाकाटक राज्य में स्थित अजन्ता की गुफाएँ गुप्तकालीन बहुमुखी विकास की परिचायक हैं। अजन्ता की मूर्ति में कहीं-कहीं संवेदन शीलता दृष्टिगत होती है, किन्तु भाव की दृष्टि से सारनाथ की शास्त्रीय परम्परा का पूर्ण प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता है। कुछ को छोड़कर शेष प्रतिमा में दैवीभाव का प्रदर्शन नहीं हो पाया है वरन् मुख पर विस्मययुक्त स्वप्निल भाव हैं। अधिकांश बैठी मूर्तियाँ जो बाद में निर्मित हुईं, भूमिस्पर्श मुद्रा में है। बुद्ध प्रतिमाओं के अतिरिक्त अजन्ता गुफाओं में नाग, हारीति, बुद्ध यशोधरा राहुल के साथ, बुद्ध का परिनिर्वाण दृश्य, गन्धर्व और अप्सराएँ तथा गंगा एवं यमुना की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। गुहा संख्या १९ के बाहर कीर्तिमुख के बाईं ओर नाग एवं राजा-रानी की मूर्तियाँ

अजन्ता-शिल्प के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। इस गुहा के कीर्तिमुख पर मां-शिशु की एक मूर्ति, जिसका ऊपरी भाग अंशतः खंडित हो गया है, सुन्दर प्रतीत होती है। इसी श्रेणी में गुहा संख्या २६ का महापरिनिर्वाण दृश्य आता है, जो गुहा के बाईं ओर उत्कीर्ण है। आकार में विशाल होते हुए भी गुप्तकालीन परिष्कार को प्रकट करता है। बादामी के चालुक्यों ने एहोल में (छठी शताब्दी) अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया। इनमें उत्कीर्ण शिल्प में गति और लय है। बनावट की दृष्टि से संवेदनशील है। मुद्रा-संतुलन और लालित्य की दृष्टि से सारनाथ से प्रभावित जान पड़ता है किन्तु आध्यात्म या दैवी भाव नहीं प्रकट हो पाया है। इस शिल्प का सम्बन्ध अमरावती और उसके आस पास की कला से अभिगत होता है। इस दृष्टि से इस काल का शिल्प प्रारम्भिक वंगी कला और बाद के पल्लव कला का द्योतक है।

इस प्रकार गुप्त-कला का प्रसार विस्तृत क्षेत्र में हुआ। भौगोलिक दृष्टि से दाहपरवतिया (आसाम) से लेकर मीरपुर खास (सिन्ध) तक गुप्तकालीन स्मारक बिखरे हुए हैं।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ—गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ अहिच्छत्रा, मथुरा, कौशाम्बी, राजघाट, रंगमहल, पहाड़पुर, कसिया, भीतरगाँव, पवाया, श्रावस्ती, भीटा, महास्थान, बेसनगर एवं मीरपुर खास में मिली हैं। इन मूर्तियों के माध्यम से जीव के विविध रूपों एवं देवों के क्रिया कलापों को समेट लिया गया है। मृण्मूर्ति-कला के क्षेत्र में ३५० ई० से एक नए युग का सन्निपात होता है। इस समय की मूर्तियाँ यद्यपि अंशतः प्रस्तर शिल्प से प्रभावित हैं किन्तु साथ जन-जीवन से कलाकार नए रूप लिए हैं।

विषय—गुप्तकालीन मृण्फलक तीन प्रकार के प्राप्त होते हैं :—

(१) प्रथम प्रकार में जिन फलकों की गणना करते हैं, वे आकार में बड़े एवं मन्दिर में चारों ओर वास्तु के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन पर धार्मिक कथाएं अंकित हैं, साथ ही ऐसे फलक हैं, जिन पर देव रूप अंकित हैं। इन फलकों पर प्रायः शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश, महिषासुरमर्दिनी, अग्नि, नृसिंह, कुबेर, कार्तिकेय, पार्वती तथा नागों के रूप अंकित हैं। मथुरा से इन रूपों के अतिरिक्त अर्द्धनारीश्वर और कात्यायनी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अहिच्छत्रा पहाड़पुर तथा अन्य स्थानों से मन्दिरों से प्राप्त फलकों पर शिव और कृष्ण के जीवन-चरित के दृश्य हैं। शैव और वैष्णव देववर्ग की अपेक्षा बौद्ध और जैन फलकों की संख्या बहुत कम है। गुप्तकाल में मन्दिर के उदय ने मृणशिल्प को आगे बढ़ने के लिए प्रभावित किया। प्रस्तर शिल्प के गंगा-यमुना के चित्र मृण्मूर्ति में भी प्राप्त हैं। इस प्रकार की मृण्मूर्तियाँ अहिच्छत्रा से प्राप्त हुई हैं।

(२) द्वितीय प्रकार में जन-जीवन से सम्बन्धित फलक आते हैं। इस युग में यद्यपि देव-शिल्प में शास्त्रीय नियमों का पालन करना पड़ता था किन्तु लोक-कला में सौंदर्य भरने के लिए स्थान था। इसलिए उनकी रचना का सौन्दर्य विभिन्न मल्लों, मंकधारी, क्रीड़ामयी माँ, उपासक-उपासिका, दम्पति एवं शालभंजिका तथा अभिसारिका के रूप में निखर उठा। इस प्रकार के श्रेष्ठ फलकों का मख ही शेष है, जिन पर केश-विन्यास की विशेषता परिलक्षित होती है। राजघाट तथा अहिच्छत्रा से ऐसे अनेक फलकण प्राप्त हुए हैं। इनमें यक्ष-किन्नर एवं पशु-पक्षी का श्रेष्ठ अंकन इस युग की प्रमुख देन है।

(३) तृतीय प्रकार में वास्तु में प्रयुक्त अलंकृत ईंटें हैं। अलंकृत ईंटों की परम्परा और वास्तु में प्रयोग गुप्तयुग की विशिष्ट देन है। अहिच्छत्रा से प्राप्त गोल तश्तरियाँ इसी वर्ग में आती हैं।

बनावट—कुषाण युग के विपरीत इस काल में मिट्टी को भली भाँति तैयार करके मूर्तियाँ बनाई गई हैं। पकाने में सावधानी रखी गई है। पकाने से पूर्व मख और शरीर की रेखाएँ स्पष्ट कर ली गई है। मूर्तियों को रंग से चित्रित किया जाता था। प्रायः लाल, गुलाबी, पीले, हरे तथा सफेद रंगों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। तत्कालीन साहित्य से स्पष्ट है कि इस समय चित्रित खिलौने बहुत लोकप्रिय थे। कालिदास ने शकुन्तला में चित्रित मयूर का उल्लेख किया है। अहिच्छत्रा से प्राप्त एक नारी धड़ पर रंगों से वस्त्र बनाए गए हैं। अधिकांश र. मख भी प्राप्त हुए हैं। मुखाकृति अण्डाकार आकर्षक एवं लास्य लिए है। नाक नकीली. आँखें बड़ी प्रायः पूर्ण खुली पुतली युक्त, अधरों को रेखायें प्राञ्जल तथा ठोड़ी के आकार भाव के अनुरूप हैं। नारी धड़ अलग से स्पष्ट है। वक्ष पूर्ण-विकसित तथा तत्कालीन सौन्दर्य-मान के अनुरूप एक दूसरे को दबाते हुए बनाए गए हैं।

शुंग कालीन फलकों की अपेक्षा आभूषण कम एवं सुरुचिपूर्ण हैं। शारीरिक सौन्दर्य के प्रदर्शन पर अधिक ध्यान दिया गया है। पुरुष आकृतियों एवं धार्मिक फलकों में उत्कीर्ण मूर्ति से स्पष्ट है कि पुरुष भी आभूषण धारण करते थे। पहाड़पुर के उत्खनन से प्राप्त पुरुष मूर्तियों के वक्ष पर यज्ञोपवीत, कटिबन्ध एवं उदरबन्ध बाँधे गए हैं। कभी-कभी चन्नावीर भी दिखाई देते हैं। गुप्तकालीन मुद्राओं में पुरुष कानों में आभूषण पहने मिलते हैं। कालिदास ने यक्ष को हाथ में वलय पहने हुए, वर्णन किया है। स्त्री-फलकों पर मुख ही शेष होने के कारण स्पष्ट है कि एक कान में कुण्डल पहने हैं। वैसे प्रायः दोनों ओर दो कुण्डल, चक्र-कुण्डल एवं स्वास्तिक कुण्डल पहने हैं। देव प्रतिमाएँ विभिन्न प्रकार के किरीट, वलय, हार एवं केयूर पहने हैं जो तत्कालीन प्रस्तर शिल्प में भी स्पष्ट है। इस युग में विभिन्न प्रकार से केश बन्धन की परम्परा मिलती है। अलकों को फैलाकर जूड़ा बाँधते थे, उस पर मोती की लड़ी लगाते थे। अहिच्छत्रा से प्राप्त पार्वती-मूर्ति इसका उदाहरण है।

गुप्तकालीन फलकों में सर्वाधिक महत्व की बात है, मिट्टी से निर्मित देव स्वरूप शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप हैं। चतुर्भुजी विष्णु मुख, चक्र, गदा, एवं पद्म लिए अंकित हैं। इन्द्र वज्र युक्त तथा जटाजूटधारी शिव त्रिनेत्री हैं। पार्वती के मस्तक पर भी तीसरा नेत्र है। नृसिंह का मुख भयानक है, किन्तु गंगा-यमुना उतनी ही शांत भाव लिए मकर एवं कूर्म पर खड़ी हैं। सूर्य उषा एवं प्रत्युषा के साथ सात अश्वों से जुते रथ पर आरूढ़ हैं। बुद्ध एवं नैगमेष की प्रतिमाएँ परम्परा के अनुसार हैं। शिल्प की दृष्टि से गुप्तकालीन मृण्मय-कला को प्रस्तर-शिल्प से सहयोग प्राप्त हुआ। खिलौनों में लोच एवं लालित्य, परिष्कार एवं अंगों का स्वाभाविक उठान तत्कालीन वातावरण का देन है।

कुषाण युग का उद्दाम वातावरण, नग्न-सौन्दर्य इस काल में आदर्श में ढलने लगा। कुम्भकार ने अवयवों का सुडौलता कुषाण काल से ली पर प्रदर्शन में युग का दर्शन झलक उठा है। यक्ष एवं किन्नर फलकों पर भी अलौकिक भावों का समावेश हुआ है, जो तत्परता से बताते हैं कि 'हम स्वर्ण-युग की देन हैं।' आध्यात्मिक भाव का जहाँ तक प्रश्न है, मृण्मय कला में प्रस्तर कला की भाँति सफलता नहीं मिली; परन्तु फिर भी अहिच्छत्रा के शिव-पार्वती तथा राजघाट के शिव एवं आदमकद गंगा एवं यमुना की मूर्तियाँ ऐसी उदाहरण हैं जो और कहीं नहीं हैं।

चित्र-कला

प्रमुखतया चित्र-कला दो प्रकार की होती है। १—प्रत्यक्ष चित्रकला (Model paint ng), इसके अन्तर्गत सामने रखी हुई वस्तु का चित्रण किया जाता है। २—भावगम्य-चित्रकला (Imagin r\ nting,—इसके अन्तर्गत कल्पना के आधार पर चित्र बनाए जाते हैं। भारतीय साहित्य मे चित्रकला की इन दोनो कोटियो का वर्णन है।

चित्रण-प्रणाली के आधार पर चित्रकला को दो कोटियो मे विभाजित किया जाता है। १—टेम्परा और २—फ्रेस्को चित्रकला। टेम्परा चित्रकला के अन्तर्गत चित्र रगो और अडो की सफेदी के सम्मिश्रण से अकित किए जाते है तथा फ्रेस्को चित्रकला मे चित्र गीले प्लास्टर पर ही अकित किए जाते है।

चित्र साधारणतया दीवारो पर बनाए जाते थे। इस प्रकार की चित्रकला को प्राचीराकन (Mural painting) कहा जाता है। दीवारो से ऊभडी हुई मूर्तियो इत्यादि पर जो चित्रण किया जाता है, उसे (Rel ef pa nting) कहते हैं। दीवार के अतिरिक्त चित्र कपडे के ऊपर भी बनाए जा सकते हैं। इस प्रकार के चित्रित कपडो को चित्रपट के नाम से पुकारा जाता है। कभी-कभी काठ के खण्डो के ऊपर भी चित्रकला का प्रदशन किया जाता है। ये चित्रफलक कहलाते हैं।

वात्सायन के कामसूत्र मे वर्णित चौसठ कलाओ मे चित्रकला (आलेख्यम) का चौथा स्थान है। कामसूत्र का रचनाकाल दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० बताया जाता है। इसमे अत मे उपसहार स्वरूप एक श्लोक है, जिसमे बताया गया है कि अपने पूववर्ती शास्त्रो का सग्रह करके तथा उन शास्त्रोक्त विधाओ के प्रयोग का अनुसरण करके तथा बडे यत्न से उनका सक्षेप करके मैने इस 'कामसूत्र' की रचना की है—

> पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपसृत्य च ।
> कामसूत्रमिद यत्नात् सक्षेपेण निवेशितम् ॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वात्स्यायन द्वारा वर्णित चौसठ कलाओ का प्रचलन बहुत पहले से था। इस प्रकार चित्रविद्या के साथ-साथ चित्रकला का वडग भी इस देश मे प्रचलित था। तत्कालीन समाज उससे भली-भाँति परिचित था; किन्तु वे सभी ग्रथ अब लुप्त हो चुके हैं।

कामसूत्र के एक प्रसिद्ध टीकाकार यशोधर पडित हुए हैं, उनकी टीका का नाम 'जयमगला' है। यशोधर पडित जयपुर के राजा जयसिंह प्रथम की सभा के विख्यात

विद्वान् थे। अतः उनकी स्थिति काल ११ वीं-१२ वीं शताब्दी निश्चित है। भारतीय चित्रकला का जयपुर प्राचीन केन्द्र माना जाता है। इसलिए चित्रविद्या के षडंगों से पूर्णतः परिचित होना यशोधर के लिए असम्भव नहीं था। कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तीसरे अध्याय की टीका करते हुए यशोधर पंडित ने आलेख्य (चित्रकला) के ६ अंग बताए हैं—

रूपभेदा : प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्॥

अर्थात् रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजना, सादृश्य और वर्णिकाभंग-आलेख्य के ये छः भेद हैं। रूप का अर्थ है आकृति; प्रमाण का अर्थ है मान, सीमा, कद; भाव का अर्थ है आकृति की भंगिमा, लावण्य का अर्थ है रूप-निर्मित; सादृश्य का अर्थ है मूल वस्तु से समानता और वर्णिकाभंग का अर्थ है नाना वर्णों की संम्मिलित, समन्वित भंगिमा। यह वर्णिकाभंग ही आलेख्य (चित्रकला) से सम्बन्धित साधना का चरमबिन्दु, अंतिम परिणति है—ऐसी परिणति जो तूलिका सँभाले बिना सम्भव नहीं है।

प्राचीन भारत की चित्रकला में इन छः अंगों को सुयोजना आवश्यक समझी जाती थी। सभी चित्रकार अपनी कृतियों में इसका पूरी तरह पालन करते थे। अजन्ता और बाघ आदि के गुफाचित्रों में चित्रकला के उक्त षडंगों की बड़ी सावधानी से प्रदर्शित किया गया है। भारतीय चित्रकला के सिद्धान्तों के अनुसार यह बताया गया है कि जिस चित्र में षडंगों का सम्यक् निरूपण न किया गया हो वह चित्र कहलाने योग्य नहीं है, वह तो चित्राभास मात्र है।

इन छः अंगों का निरूपण संक्षेप में इस प्रकार है:—

१. रूपभेद—रूप-रूप में विभिन्नता होती है। जीवित रूप, मनरूप, सरूप करूप इत्यादि और इन्हें चित्रण करना रूपभेद की सफलता है। जब से हम जन्म लेते हैं, रूप को ही देखते हैं। कहा भी है—'ज्योति पश्यन्ति रूपाणि'। महाभारत के शांतिपर्व में १६ रूपों का वर्णन है—

ज्योति पश्यति रूपाणि रूपंच बहुधा स्मृतम्।
ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुर श्रीहृन्वृत्त वान्॥३३॥
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्त. पीतो नीलोहृष्णस्तथा।
कठिनश्चिक्कण; श्लक्षण: पिच्छिलो मृदुदारुण ॥३४॥

—महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय १८४।

भिन्न-भिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखना और इस अखंड विभिन्नता को असीम में प्रतिष्ठित देखना ही आँखों और आत्मा का काम है। सर्वप्रथम रूप से आँखों का परिचय होता है फिर आत्मा का परिचय होता है। यही रूप-भेद की प्रारम्भिक और अंतिम बात है। एक से दूसरी वस्तु की तुलना हम अपनी आँखों से उनके रूपभेद को समझने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए तीन चित्रकार

अलग अलग बैठकर किसी रमणी का चित्र बनाते हैं। किसी ने उसको [illegible] हुए किसी ने गीत गाते हुए और किसी ने दूध पिलाते हुए दर्शाया है। प्रत्येक [illegible] वाला यही कहेगा कि किसी रमणी का चित्र है किन्तु कोई भी यह नही बता सकता कि वह रमणी दासी है वियोगिनी है या माता है।काय भिन्नता वेष की भिन्नता और आकृति की भिन्नता से भी हम किसी रमणी के चित्र को माता बहिन या दासी आदि सिद्ध नही कर सकते। एसी स्थिति मे चित्र के नीचे उसका नाम देकर वस्तु स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार के रूपभद का निश्चय आँखो से नाम देकर, किया जा सकता है। किन्तु नारी स्वरूप की व्यापक सत्ता को आँखो के द्वारा नहीं पहचाना जा सकता है। कभी हम उसकी गोद मे बच्चा देकर उसे [illegible] है कभी उसके हाथ मे झाड़ू देकर उसे दासी सज्ञा दे रहे हैं और कभी उसको [illegible] वेष मे खडाकर दु खिनी बना रहे है। इन माध्यमो के हट जाने से न तो हम उसको माता कह सकते है न दासी और न दु खिनी ही। उसके इस [illegible] रूप को आत्मा के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। इसके लिए ज्ञान चक्षु की आवश्यकता पडती है। किसी भी कलाकृति के बाह्याभ्य तर की परीक्षा करें दोनो दशाओं में ही हमारे अ दर रुचि का होना आवश्यक है। रुचि हमारे मन की चिरन्तन दीप्ति है। उसके द्वारा ही हम वस्तु को सु और कु मे विभाजित कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूप भदो का ज्ञान चित्रो की वास्तविकता को [illegible] आवश्यक है।

२ **प्रमाण**—वस्तु विषय का भ्रम विहीन ज्ञान जैसे निकटता दूरी लम्बाई, चौडाई का ज्ञान प्राप्त करना ही षडग की दूसरी साधना है। समुद्र का विस्तार अन त होता है उसे छोट से कागज पर दिखाना प्रमाण के ज्ञान के बिना सम्भव नही है। किस वस्तु को कितना दिखाने से सु दर लगेगा उसे प्रमाण ही निश्चित करता है। ताजमहल के निर्माता स्थपतियो के समान ज्ञान ने पत्थर के गम्बज को ऐसी परिमिति प्रदान की जो कि अ यत्र दुलभ है। इस गम्बज पर रत्ती भर भी इधर उधर किया जाता तो उसका स्वप्न पूरा नही हो पाता। यूरोप के [illegible] मिलो की वीनस की मूर्ति के दोनो खोये हुए हाथो को कोई भी मिला नही सका। प्रमा के द्वारा ही हम मनुष्य पशु पक्षी आदि की विशेषता और उनके विभिन्न भेदो को ग्रहण कर सकने हैं। पुरुष और स्त्री की लम्बाई मे क्या भेद है, उसके समस्त अवयवो का समावेश किस क्रम से होना चाहिए। देवताओं और मनुष्यों के [illegible] के कद का क्या मान है। ये सभी बातें प्रमाण के द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं।

३ भाव—भाव कहते हैं, आकृति की [illegible] को, उसके [illegible], [illegible] एव उसकी व्यग्यात्मक प्रक्रिया को। [illegible] के दो रूप हैं प्रकट और प्रच्छन्न। प्रकट [illegible] को हम आँखों से [illegible] हैं; किन्तु उसके [illegible] स्वरूप को व्यजना के द्वारा अनुभव कर सकते हैं। [illegible]

ताण्डव गर्जन में, गालों पर हाथ रखकर बैठने में, आँखों पर आँचल डालकर रोने में, अस्त-व्यस्त वेष के धारण करने में, पलकों के झुकने, अधरों में कम्पन और हाथ हाथ पर रखने में, जो भाव प्रकट होते हैं, उन्हें आँखों से देख सकते हैं। भाव का कार्य है रूप को भंगिमा देना और व्यंग्य का कार्य है रूप की ओट में भाव के इशारे को अवगुण्ठित रूप से प्रकट करना। 'चित्रसूत्र' में पाँच प्रकार के नेत्रों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम हैं, चापाकार, मत्स्योदर, उत्पल-पत्र, पद्मपत्र और शशा। ये पाँच प्रकार की आँखें पाँच प्रकार के भाव प्रकट करती हैं। प्रकृति के सौन्दर्य में डूबी हुई आँखों का भाव दिखाने के लिए धनुषाकार; विलासिता तथा कामुकता के भाव के लिए मछली के उदर की आकृति सदृश; शांति तथा गम्भीरता के भाव के लिए नील-कमल के पत्र के समान; भयभीत तथा आतंकित आकृति की आँखें पद्मपत्र की भाँति तथा दुःखित, क्रुद्ध तथा चंचलता का भाव दर्शित करने के लिए मृग की आँखों के सदृश आँखें बनानी होंगी। शारीरिक अंगों के परिवर्तन द्वारा हृदयस्थ भावों को दर्शित करने की परम्परा प्राचीन चित्रों में अधिकता से देखने को मिलती है। आन्तरिक भावों को दिखाना बड़ा कठिन होता है। इसी मे चित्रकार की निपुणता की परीक्षा होती है। एक फकीर के प्याले को दर्शाना है। प्याला तो अमीर के पास भी हो सकता है। टूटा-फूटा या मैला-कुचैला प्याला दर्शाने से भी उद्देश्य ठीक तरह से प्रकट नहीं हो सकता; क्योंकि वैसा प्याला किसी गरीब-व्यक्ति का भी तो हो सकता है। चित्र में यदि फकीर को भी खड़ा कर दिया जाय तो प्याले की विशेषता जाती रहती है। प्रत्येक दर्शक यही समझेगा कि यह किसी फकीर का चित्र है। ऐसे ही समय व्यंजना से काम लिया जाता है। चित्र की पृष्ठ-भूमिका से हम ऐसी सहायक वस्तुओं को दर्शाने की चेष्टा करते हैं, जिनसे फकीर का बोध हो सके और उनमें प्याले का आकर्षण प्रमुख हो।

४. लावण्य योजना—रूप, प्रमाण और भाव के साथ-साथ चित्र में लावण्य का होना भी आवश्यक है। प्रमाण जैसे रूप को परिमिति देता है वैसे ही लावण्य भी परिमिति देता है। आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'भारत शिल्प के षडंग' (अनुवादक : डा० महादेव साहा) में लावण्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "भाव की ताडना से भंगिमा दौड़ी जा रही है, मतवाले घोड़े की तरह असंयत, उद्दाम असहिष्णु; यहाँ तक कि अशोभन तौर से अपने को प्रमाण की सीमा से विच्छिन्न करके। लावण्य आकर उसे शांत कर रहा है, अपने मधुर कोमल स्पर्श को धीरे-धीरे उसके सारे बदन पर फेर कर। भाव की ताडना से रूप जब शकुन्तला-प्रत्याख्यान के समय दुर्वासा ऋषि की तरह अपरिमित तौर से हाथ-पैर हिला डुलाकर, दाँत किटकिटाकर, उदण्ड भंगिमा में खड़ी देख रहा है, तभी हमारा लावण्य उसके पास आकर कह रहा है : "स्थिरो भाव ! पागल बन रहे हो।" भाव, आभ्यन्तर सौंदर्य का बोधक है और लावण्य बाह्य सौंदर्य का अभिव्यंजक। चित्र में बाह्य अलंकृति का समावेश लावण्ययोजना द्वारा ही संभव है। लावण्य-योजना से चित्र

में कान्ति और छाया का सुन्दर समावेश होता है। चित्र को वह नयनाभिराम बना देता है। वह निर्जीव प्रतिकृति होकर भी लावण्य का संस्पर्श पाकर प्राणवती हो उठती है।

प्रमाण और रूप की समुचित योजना के बावजूद, लावण्य का समावेश किए बिना, चित्र में सुन्दरता का अभिव्यंजन हो ही नहीं सकता है। इसी हेतु 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थ मे कहा गया है कि मोती के रूप की भंगिमा निष्प्रभ होती है, यदि उसमें लावण्य की दीप्ति न हो। उसी भाँति तब तक चित्र के रूप, प्रमाण और भाव, सभी निष्प्रभ हैं, जब तक इन तीनों में लावण्य आकर दीप्ति प्रदान नहीं करती है—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

चित्र में लावण्य योजना उचित रूप मे होनी चाहिए। ऐसे ही उचित रूप में जैसे दाल मे नमक। नमक के कमी-बेशी के कारण जैसे दाल का सारा जायका ही नष्ट हो जाता है, वही स्थिति चित्र के लावण्ययोजना की है। लावण्य तो मानों कसौटी पर सोने की रेखा है; अथवा पहनने की साड़ी पर सुनहरी किनारी।

५. सादृश्य—किसी मूलवस्तु के साथ उसकी प्रतिकृति की समानता का नाम ही सादृश्य है। किसी रूप के भाव को किसी दूसरे रूप की सहायता से प्रकट कर देना ही सादृश्य का कार्य है, किन्तु सादृश्य दिखाते समय वस्तु की आकृति की अपेक्षा उसकी प्रकृति या उसके स्वधर्म के पक्ष का सादृश्य दिखाना अधिक उपयुक्त है। उदाहरण के लिए वेणी से सर्प का सादृश्य इसलिए दिखाया जाता है कि उनमें धर्म-समानता है, प्रकृति-समानता है, किन्तु आकृति-समानता नहीं है। सिर से लटकना साँप का धर्म नहीं है और इसी प्रकार रास्ते में पड़ी रहकर साँप का भय दिखाना वेणी का धर्म नहीं है। जिस वस्तु का हम चित्र अंकित करते हैं उसमें यदि मूल वस्तु के गुण-दोष अविकल रूप से समाविष्ट न हुए हों, तो वह वास्तविक कृति नहीं कही जा सकती है। कृष्ण का चित्र अंकित करते समय, प्रमुख विशेषताओं की ओर चित्रकार का ध्यान आकृष्ट होना आवश्यक है अन्यथा वह राम और कृष्ण के चित्र में विभिन्नता नहीं ला पाएगा। इस विभेद को दर्शाने के लिए आवश्यक है कि कृष्ण और राम के मुकुट में अंतर ला सके। कृष्ण का मुकुट मोरपंख का होता है, राम का नहीं। कृष्ण के हाथ में वंशी होती है किन्तु राम के हाथ में धनुष। फिर भी आकृति-व्यंजक राम और कृष्ण का उक्त सादृश्य कनिष्ट सादृश्य है। उत्तम सादृश्य तो वह है जो मनोभाव व्यंजक हो। कवियों ने जो 'मुखचन्द्र' और 'चरणकमल' का सादृश्य योजित किया है, वह आकृतिपरक न होकर प्रकृति-स्वभाव या धर्मसाम्य के कारण है। सादृश्य के लिए आकृति और भाव या स्वगुण का यही अर्थ है। चित्र चाहे काल्पनिक हो या वास्तविक, यदि दर्शक पहचानने में भूल नहीं करता या किसी प्रकार की द्विविधा में नहीं पड़ता, तो वही चित्र शुद्ध कहा जाएगा। ऐसा सादृश्य के द्वारा ही संभव है।

६. वर्णिका-भंग—वर्णज्ञान और वर्णिका भंग षडंग-साधना की चर्म साधना और सबसे अधिक कठोर साधना है। महादेव जी पार्वती जी से कह रहे हैं—

"वर्णज्ञानं यदानास्ति किं तस्य जपपूजनै."

नाना वर्णों की सम्मिलित भंगिमा को वर्णिका भंग कहते है। किस स्थान पर किस रंग का प्रयोग करना चाहिए तथा किस रंग के समीप किसका संयोजन होना चाहिए, ये सभी बातें वर्णिका भग के द्वारा ही मानी जा सकती हैं। रंगों के भेद-भाव से ही हम वस्तुओं की विभिन्नता व्यक्त करने में समर्थ हो सकते हैं। चित्र के षडंगों में वर्णिका भग का स्थान सब से बाद में रखा गया है क्योंकि वह षडंग साधना का चरम विन्दु है। अन्य पाँचों अंगों की सिद्धि कागज पर एक रेखा खींचे बिना भी, केवल मन और दृष्टि की गंभीर चिन्तना के द्वारा भी कर सकते हैं, किन्तु वर्णिका भंग के ज्ञान के लिए हमें हाथ में तूलिका लेकर दीर्घ अभ्यास करना ही पड़ेगा। वर्णिका-भंग के लिए लघुता, क्षिप्रता और हस्तलाघव की आवश्यकता है। आँख की पुतली, भरे गालो की रेखा, हँसी की सूक्ष्म रेखा आदि में जरा भी हाथ काँपा कि सारी साधना व्यर्थ। केवल फूलो का रग ही नही उनके सौरभ को भी दिखाना होगा। सूर्य के किरणो का रग दिखाना ही पर्याप्त नही होगा वरन् यह दिखाना होगा, प्रात.काल, दोपहर एव सायकाल उसके उत्ताप का स्पर्श क्या होता है।

भारतीय चित्रकला की विशेषताएँ

भारतीय चित्रकला की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई जा सकती हैं—

१. अनामिकता—प्राचीन भारत के जितने भी चित्र मिलते हैं, उनके कलाकारों के नाम अज्ञात हैं। कलाकारो ने निस्पृह भाव से अपनी कला का प्रदर्शन किया है। उनमें व्यक्तिगत रूप से नाम कमाने की कोई इच्छा न थी।

२. रेखा-प्रधानता—भारतीय चित्रकला रेखा-प्रधान है। चित्रकारों ने इनी-गिनी रेखाओं के सगठन से ऐसे आकार और भाव प्रस्तुत किए हैं, जो नितान्त स्वाभाविक है।

३. प्राचीराकन—भारतीय चित्रकला का प्रदर्शन अधिकाशतः प्राचीरों (दीवारों) पर हुआ है। चित्रपटों और चित्रफलकों के उदाहरण नही के बराबर हैं।

४. असाम्प्रदायिकता—भारतीय चित्रकला के अन्तर्गत अधिकांशतः किसी एक सम्प्रदाय की नहीं वरन् समस्त जन-समूह की विचार-धाराओं और स्थितियों का चित्रण हुआ है। स्वयं बौद्ध कलाकारों ने भी धार्मिक चित्रों के साथ ही साथ बहुसंख्यक असाम्प्रदाय चित्रों का निर्माण किया है।

५. अभिव्यक्ति-प्रधानता—चित्र प्रमुखतया तीन दृष्टिकोणों से बनाए जाते हैं। जिन चित्रों में बाह्य शरीर के प्रदर्शन के ऊपर जोर दिया जाता है वे [illegible]

(Formal) चित्र कहलाते हैं इस प्रकार के चित्र प्रमुखतया प्राचीन चीन में बनते थे। इसमें बाहरी सुन्दरता के प्रदर्शन पर अधिक महत्व दिया जाता था। कुछ चित्र आदर्श स्वरूप के प्रदर्शित करने के लिए बनाए जाते हैं। वे प्रतिरूप-प्रधान (Representative) कहलाते हैं। इस प्रकार के चित्रो के अधिकाश उदाहरण प्राचीन यूनान मे मिलते थे। यूनानी कलाकारो ने साधारण मनुष्यो के चित्रण के स्थान पर प्रमुखतया आदर्श देवी-देवताओ और आदर्श पुरुषो के ही चित्र अधिक बनाये थे। तीसरी कोटि के अन्तर्गत वे चित्र आते हैं जिनका उद्देश्य बाह्य स्वरूप की अपेक्षा आन्तरिक भावनाओ के प्रदर्शन का अधिक होता है। ये चित्र भावाभिव्यक्ति-प्रधान चित्र कहलाते हैं। प्राचीन भारत मे प्रमुखतया ऐसे ही चित्रो का निर्माण हुआ था।

६ सांकेतिक भाषा का प्रयोग—भारतीय चित्रकारो ने अपने चित्रो मे भावों को प्रदर्शित करने के लिए अनेक सकेतो का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ हीनयानी चित्रकारो ने सिंहासन पादुकाओं अश्व अथवा छत्र इत्यादि के द्वारा महात्मा बुद्ध के अस्तित्व को प्रकट किया है। इसी प्रकार गुप्तकालीन चित्रकारो ने गगा और यमुना के चित्रो द्वारा दोआब की सास्कृतिक उत्कृष्टता को सूचित किया है।

गुप्तकाल के पूर्व की चित्रकला

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य से प्रकट होता है कि भारतवर्ष मे चित्रकला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। एक साहित्यिक उदाहरण का उल्लेख है कि यमराज ने एक मरे हुए व्यक्ति को वापिस करने से इन्कार कर दिया। इस पर ब्रह्मा ने उस मृतक का एक चित्र तैयार करवाया और उसी मे प्राण डाल दिये। इसी प्रकार के दूसरे साहित्यिक उदाहरण मे कहा गया है कि उषा देवी ने स्वप्न मे एक अत्यन्त सुन्दर नवयुवक को देखा। दूसरे दिन उसकी सखी चित्रलेखा ने ससार के सभी सुन्दर देवताओ और नवयुवको के चित्र बना डाले। उनमे से एक चित्र को देखकर उषा देवी ने स्वप्न मे देखे हुए व्यक्ति को पहचान लिया। वह कृष्ण का पौत्र अनुरुद्ध था। कालान्तर मे उसी के साथ उषा देवी का विवाह हुआ।

इसी प्रकार रामायण से प्रकट होता है कि अनेक भवनो की दीवारें चित्रो से अलकृत की जाती थी। बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक से प्रकट होता है कि राजा प्रसेनजित् ने एक चित्रागार बनवाया था। तिब्बती लेखक तारानाथ का कथन है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पूर्व ही चित्रकला की उन्नति हो चुकी थी।

इन साहित्यिक साक्ष्यो की पुष्टि प्राचीन काल के प्राप्त अनेक चित्रो से हो जाती है। इनमे से कुछ चित्र पाषाणकालीन प्रतीत होते हैं—१ मध्य प्रदेश की कैमूर पहाडियो पर कुछ कन्दराएँ मिली हैं। इनमे चित्रों की कुछ रेखायें आज भी सुरक्षित है। २ विन्ध्याचल की पहाडियो पर कुछ अस्पष्ट चित्रो के अवशेष हैं। ३ मध्य प्रदेश के रायगढ के चित्रो मे मनुष्यो हिरणो, हाथियो और खरगोशो के

चित्र अधिक साफ़ दिखाई देते हैं। कुछ चित्र शिकार के हैं। ५. मिर्जापुर में कुछ कन्दराएँ मिली हैं। उनके भीतर भी आखेट के कुछ चित्र मिले हैं। यह आश्चर्य की बात है कि ये चित्र स्पेन के कुछ प्राचीन चित्रों से मिलते जुलते हैं।

उपर्युक्त चित्रों की तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हाँ, रामगढ़ की जोगीमारा कन्दरा के भीतर जो चित्र मिले हैं उनकी तिथि के विषय में विद्वानों ने एक अनुमान लगाया है। यह तिथि १०० ईसवी पूर्व के लगभग बताई जा सकती है।

गुप्तकालीन चित्रकला के उदाहरण

प्रारम्भ में अजन्ता की सभी २९ गुफाओं में चित्र बने थे। परन्तु अब एकमात्र ६ गुफाओं के चित्र अवशिष्ट रहे, बाकी सब नष्ट हो गए हैं। सन् १८७९ में प्रायः १६ गुफाएँ चित्रों से कम अधिक भरी कही जाती हैं। वे चित्र पहली, दूसरी, नवीं, दसवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं में मिलते हैं। इन गुफाओं के चित्रों का काल भी भिन्न-भिन्न है। इसमें नवीं और दसवीं गुफाओं के चित्र निर्विवाद रूप से सबसे प्राचीन हैं, जिनका समय पहली-दूसरी सदी ई० पूर्व है। साथ ही कुछ विद्वान सम्भवत. इन्हें ईसा की प्रथम शताब्दी के बताते हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं के चित्र गुप्तकालीन हैं। परन्तु पहली और दूसरी गुफाओं के चित्र ६२६ ई० के लगभग के बनाए जाते हैं। जो चित्र गुप्तकाल के हैं वे कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। इस विषय पर लिखते हुए स्वर्गीय डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है· "The art of painting reached its perfection in the Gupta age."

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नवीं और दसवी गुफाओं के चित्र सबसे अधिक प्राचीन हैं। परन्तु इसके बावजूद भी कला की 'दृष्टि से काफी सुन्दर हैं'।[1] यह महत्वपूर्ण बात है कि इन दोनों गुफाओं के अनेक चित्र भारहुत, साँची और अमरावती के दृश्यों से मिलते-जुलते हैं। इन चित्रों के अंकन में चित्रकार ने सुदृढ़ रेखाओं, उचित अनुपात और विभिन्न मुद्राओं का सहारा लिया है। इन समस्त चित्रों में सबसे सुन्दर चित्र एक जलूस का है जिसमें राजा, रानियाँ, सैनिक, सेवक तथा अनेक पशु जाते हुए दिखाये गए हैं। यह जलूस एक स्तूप के तोरण द्वार के भीतर प्रवेश करता है। वहाँ राजा स्तूप की पूजा करता है। अपनी सूड उठाकर स्तूप को प्रणाम करते हुए जो हाथी दिखाए गए हैं वे बड़े मनोरंजक प्रतीत होते हैं। इस चित्र में समूह-प्रदर्शन उच्च कोटि का है। डा० श्री निवासन ने इस चित्र की कला को "Art of high order" के नाम से पुकारा है।

1. The oldest painting at Ajanta represents no primitive beginning but an art of some maturity."—Percy Brown.

ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पश्चात् लगभग २०० वर्षों का काल भारतीय कला का अवनति-काल था। बौद्ध इतिहासकार तारानाथ के अनुसार बुद्धपक्ष में बिम्बसार नामक कलाविद की देख रेख में कला का पुनर्जागरण हुआ था। गुफा संख्या १० में स्तम्भो के ऊपर के चित्र इसी पुनरुद्धार-काल के है। इनकी तिथि ३५० ईसवी के लगभग की बताई जाती है। परन्तु स्तम्भो पर स्त्रियो और पुरुषों के भी चित्र हैं। उनकी वेशभूषा पर गान्धार कला का प्रभाव दिखाई देता है।

सोलहवीं और सत्रहवी गुफाए गुप्तकालीन हैं। इन गुफाओं में तीन प्रकार के चित्र मिलते हैं। १ आलेखन (Portraiture), २ वर्णन (Narration), ३ अलंकरण (Decoration)।

आलेखन के अन्तर्गत किसी एक व्यक्ति का चित्र अंकित किया गया। वर्णन मे अनेक चित्रो के द्वारा कोई कथानक कहा गया है। फूल, पत्तियां पशु, पक्षियो तथा अनेक अन्य साधनो से अलंकरण का काम लिया गया है।

सत्रहवी गुफा के चित्र वर्णन प्रधान हैं। उनमे चित्रो के द्वारा कथानक कहे गए है। ये चित्र बड़े ही ओजपूर्ण, सजीव और स्वाभाविक हैं। डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल ने इन चित्रो की बड़ी प्रशसा की है।[1] इस गुफा का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र माता और पुत्र का है। इसमे माता का वात्सल्य और पुत्र की सरलता देखते बनती है। हैवल महोदय ने इस चित्र की बड़ी प्रशसा की है।[2] यह चित्र बुद्ध यशोधरा राहुल का है। बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद बुद्ध कपिलवस्तु लौटे हैं। वहां भिक्षाटन के लिए यशोधरा के पास आ गए तो वह अपना चिरानाथ राहुल को ही उठाकर भेंट कर देना चाहती है। तीनो के भावो को तीन भिन्न रूपो में देखा जा सकता है। बुद्ध भगवान की निस्पृह निर्लिप्त मूर्ति है। यशोधरा गौतम से बिल्कुल विपरीत सांसारिक सजल प्रतिमा है। राहुल की निरीह अबोधता तथा कुछ समझ न सकने के कारण उत्पन्न उलझन बड़ी स्पष्ट है। आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा इस चित्र मे है। सबके अंकन में चित्रकार ने कमाल किया है। इसी गुफा का दूसरा चित्र वह है जिसमे एक राजा एक स्वर्ण हंस की बात सुन रहा है। इस चित्र के विषय मे निवेदिता ने इस प्रकार कहा है। Nowhere in the world could more beautiful painting be found than in the king listening to the Golden Goose in cave XVII इसी गुफा में एक दूसरा चित्र महात्मा बुद्ध के गृहत्याग का है। महात्मा बुद्ध के मुख पर किसी प्रकार के उद्वेग का चिन्ह नही मिलता। वे बड़े निर्लिप्त भाव से घर छोड़कर जा रहे हैं। इस चित्र के विषय मे निवेदिता ने लिखा है। This picture is perhaps the greatest imaginative presentation of Buddha that the world ever saw Such a conception could hardly occur twice'

---

1 "Replete with vigour—for they are full of action, they depict the art in its most graphic form

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस गुफा के सभी चित्र एक से एक बढ़कर हैं। इसमें छदन्त जातक, महाहंस जातक, सुतसोम जातक, श्याम जातक, शश जातक, महिष जातक, सिहलावदान, शिवि जातक, मृग जातक, नलगिरि की कथा, मातृ-पोषक जातक, षड्दन्तक, वेस्सन्तर जातक इत्यादि के अनेक मार्मिक दृश्य अंकित हैं। उनकी कथा-व्यंजकता, भावप्रवणता, मुद्राभंगिमा सब बहुत उच्चकोटि की है। एक अज्ञात दरबार का दृश्य, मधुयान इत्यादि के दृश्य, स्त्रियों की नाना मुद्राओं युक्त चित्र और अलंकरण के समान प्रयुक्त हैं, दम्पति इत्यादि भी विशिष्ट चित्र हैं।

सोलहवीं गुफा के चित्र भी समान रूप से सुन्दर और स्वाभाविक हैं। तुषित स्वर्ग से उतरना, हस्तिजातक, बुद्ध का उपदेश, मायादेवी का स्वप्न आदि बुद्ध-जन्म की अन्य दृश्यावली, पाठशाला आदि के दृश्य बहुत खण्डित तथा मिटे होने के कारण अधिक महत्व के नहीं रह गए हैं। इसके अतिरिक्त बुद्ध को वैराग्य कराने वाले चार दृश्य, नहाती हुई स्त्रियाँ इत्यादि कुछ अन्य दृश्य हैं। सबसे सुन्दर चित्र सम्भवतः एक मरणासन्न राजकुमारी का है जो कि नन्द की रानी सुन्दरी मानी जाती है। यहाँ वियोग की पीड़ा की पराकाष्ठा दिखाई गई है। म्रियमाण रानी को बचाने के लिए उसे अनेक परिचारिकाएं घेर कर उपचार का यत्न कर रही हैं। मुमूर्षु रानी बिस्तर पर अधलेटी है। सिर बेजान पड़ा है, अर्द्धमुद्रित नेत्र तथा कृश अंग शिथिल हैं। अन्य लोगों के ऊपर व्याकुलता, घबड़ाहट छाई हुई है। अपनी भावकता के कारण इसे सुन्दरतम चित्रों में गिना जाता है। यह चित्र अत्यन्त ही भावनापूर्ण है। इसके विषय में ग्रिफिथ्स महोदय ने इस प्रकार लिखा है, "For pathos and sentiment and the unmistaken way of telling its story, this picture, I consider, cannot be surpassed in the history of art. The Florentine could have put better drawing and the Venetion better colour, but neither could have thrown greater expression."

पहली गुफा के एक चित्र में चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय फारस नरेश खुसरो के द्वारा भेजे गए राजदूत का स्वागत कर रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह चित्र ६२६-२८ ई० के लगभग का है।

इसी गुफा में एक चित्र में बोधिसत्व पद्मपाणि दिखाए गए हैं। इसमें सबसे अधिक प्रसिद्ध चित्र यही है। इसका आकार काफी बड़ा है तथा अंग-यष्टि की थोड़ी-सी भंगिमा बड़ी आकर्षक है। इसमें बोधिसत्व की असीम विश्व करुणा को स्फुट करते हुए उनके आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा अद्भुत चित्रण है। आँखों में सुख और दुःख दोनों का भाव समान रूप से जाग रहा है। उनके तीन शिखरों वाले मौलि, मोतियों की माला आदि का चित्रकार ने बड़ा सूक्ष्म अंकन किया है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इन शब्दों में इस चित्र की प्रशंसा की है—"The great Bodhi satteva Padmapani Avalokiteshwar in cave I shows the highest

attainment in the way of figure painting. We may recognise it as the very acme of Asiatic pictorial art."

इसी चित्र के बगल में एक स्त्री का चित्र है जिसे लोगों ने सौन्दर्य के आदर्श का प्रतिनिधित्व करने वाला माना है। श्री याजदानी उसकी पहचान गोपा से करते हैं। बोधिसत्व पद्मपाणी के समान ही वज्रपाणी बोधिसत्व हैं किन्तु उनका वैसा वैशिष्ट्य नहीं है तथा रंग धूमिल हो चला है। मार-विजय का चित्र भी बड़ा मार्मिक तथा सजीव बना है। भूमिस्पर्शमुद्रा में बैठे बुद्ध के चारों ओर श्रृंगार की प्रतिमा दिव्य कन्याएं तथा वीभत्स और रौद्ररसों की मूर्त नाना आकृतियां अत्यन्त सच्ची हैं। तीन प्रकार के ये दृश्य अपना अलग वैशिष्ट्य बताते हुए रसों का पूरा प्रतिपादन करते हैं। शान्तरस फिर भी सब पर विजय करता प्रतीत होता है।

दूसरी गुफा में जो चित्र मिले हैं, इसमें बुद्ध-जन्म सम्बन्धी कई सुन्दर चित्र हैं। उनमें माया देवी का स्वप्न, तुषित स्वर्ग में सिंहासन पर आसीन बुद्ध, बोधिसत्त्व, माया और शुद्धोदन का वार्तालाप, बुद्ध-जन्म आदि का अंकन है। इसके अतिरिक्त क्षान्तिवादिन जातक जैसी किसी कथा का चित्रण बड़ा मार्मिक है। एक चित्र में क्रोध का कठोर तथा अनुनय का कोमल भाव बड़े सुन्दर अभिव्यक्त हुए हैं। महाहंस जातक, पूर्णावदान के विस्तृत कथा-चित्रण के अतिरिक्त एक अज्ञात कथा बड़ी लोम-हर्षक रूप मे अंकित है, जिसमे एक शिशु को सरोवर में फेंक देने आदि का चित्रण है। विदुर पंडित जातक भी अपनी पुष्ट लिखाई के कारण उल्लेख्य है। एक अन्य चित्र में झूलों पर झूलती सुन्दरियो की गति तथा अंग-क्षोभ का सुन्दर चित्रण है। इनमें अंकित नारियो के नेत्र बड़े भावपूर्ण एव सौन्दर्यपरक हैं।

समग्र रूप मे अजन्ता की चित्रकला बड़ी प्रशंसनीय है। इनमे धार्मिक चित्रों के अतिरिक्त अनेक लौकिक चित्र भी मिलते हैं। कलाकार ने मानव-जगत के साथ ही साथ वानस्पतिक जगत और पशु-जगत के चित्र भी बड़ी सहृदयता के साथ अंकित किए हैं। अजन्ता के चित्रों में जीवन की विविध झांकी को देखकर प्रसिद्ध कलाविद् रोथेन्स्टीन ने लिखा है—"On the hundreds of walls and pillars of these rock—carved temples, a vast drama moves befor our eyes, a drama played by princes and sages and heroes of men and women of every kind."

इसी प्रकार डा० वासुदेव शरण अग्रवाल अजन्ता कला की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं। "The assurance and delicacy of lines, the brilliancy of colours, the richness of expression with buoyant feeling and pulsating life, have rendered this art supreme for all times."

चित्रण की टेकनीक

भारतवर्ष में जो सबसे अधिक प्राचीन चित्र मिले हैं उनमें प्रायः एक ही रंग का प्रयोग किया गया है। छाया एवं आतप (लाईट और शेड) का प्रभाव देने के

लिए उसी रंग को कहीं पर गहरा कर दिया जाता था और कहीं पर हल्का रखकर। यह रंग लाल ही होता था। अभी तक भारतवर्ष के किसी भी स्थान पर कोई शलाका प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु रंगों को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि यह शलाका बालों की न बनकर पौधों के रेशों से बनती थी। चित्रों में की बाह्यरेखा (outline) है वह शलाका से नहीं, वरन् किसी नोकीली लकड़ी की सहायता से बनाई जाती थी। रंगों को पीसने के लिए चिकने पाषाण-खण्डों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के पाषाण-खण्ड खुदाई में मिले हैं।

प्रारम्भ में चित्र बनाने के पूर्व सतह के ऊपर कोई प्लास्टर नहीं किया जाता था। चित्रकार सीधी चट्टान के ऊपर ही चित्र बनाना प्रारम्भ कर देते थे। इस प्रकार के उदाहरण रायगढ़ की जोगीमारा कन्दरा में मिले हैं। इस गुफा में कुछ स्थल अवश्य ऐसे हैं जिन पर सर्वप्रथम प्लास्टर करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु यह प्लास्टर अण्डे के छिलके से अधिक मोटा नहीं है। जोगीमारा गुफा में एक रंग के स्थान पर प्रमुखतया तीन रगों का प्रयोग किया जाता है—लाल, काला और सफेद।

अजन्ता की गुफाओ मे सर्वप्रथम सतह पर प्लास्टर करने के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। यह प्लास्टर मिट्टी, गोबर और टूटी हुई चट्टानों की धूल को मिलाकर बनाया जाता था। कभी-कभी इसमें भूसा और धान का छिलका भी मिला दिया जाता था। यह प्लास्टर कभी-कभी ३/४" तक मोटा होता था। इस प्लास्टर को समतल करने के पश्चात् इस पर हलके सफेद रग का एक पतला सा प्लास्टर किया जाता था।

अजन्ता की चित्रण-प्रणाली के विषय मे तीन मत व्यक्त किए जाते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह चित्रण विशुद्ध फ्रेस्को प्रणाली का है, कुछ के अनुसार विशुद्ध टेम्पेरा अथवा फ्रेस्को टम्परा। भीगी सतह पर ही चित्रण करने के कारण उसके रग सतह के भीतर भर जाते हैं और उनमे अधिक स्थायित्व आ जाता है। विशुद्ध रंगों से चित्रण होने के कारण फ्रेस्को चित्रण मे चित्र हलके रहते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत रंगो के साथ चूना नही मिलाया जाता। इसलिए कालान्तर में रंगों को कोई हानि नही पहुँचने पाती। इसके विरुद्ध टेम्पेरा प्रणाली के अन्तर्गत चित्रण सूखी सतह पर होता है। अतः उसके रग सतह के भीतर नही घुसने पाते। इस प्रकार के चित्रण में रगो के साथ अण्डे की सफेदी और चना आ मिलाया जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप टेम्पेरा प्रणाली के चित्र भारी और स्थायी होते हैं। अजन्ता के अनेक चित्र इन दोनो शैलियो के सम्मिश्रण से बने प्रतीत होते हैं।

अजन्ता के चित्रकार ने पहले सतह पर प्लास्टर किया है और उसके बाद उस

पर हल्का सफेद रंग। तत्पश्चात् चित्रकार ने लाल रंग से अपने चित्र की बहिर्रेखा (outline) बनाई है। कभी-कभी इस लाल रंग पर गहरे काले अथवा भूरे रंग से यत्र-तत्र सुधार किया गया दिखाई देता है। विद्वानों का मत है कि यह सुधार कार्य कलाकारों के निरीक्षक के द्वारा किया जाता था। लाल रेखा के ऊपर पारदर्शक हरे रंग से चमक पैदा की जाती थी। इस प्रारम्भिक रेखा-संगठन के पश्चात् कलाकार अपने चित्र में रंग भरता था। रंगों में लाल, पीला, काला, हरा, नीला, सिंदूरी और सफेद रंग प्रमुखतया उल्लेखनीय है। अजन्ता की गुफाओं में छाया और आतप का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रभाव को दिखाने के लिए एक ही स्थान पर परस्पर विरोधी रंगों का प्रयोग किया जाता था अथवा एक अधिक गहरे और दूसरे अधिक हलके रंग का प्रयोग किया जाता था।